

TRIVANDRUM SANSKRIT SERIES

No. LXXXI.

श्रीयाज्ञवल्क्यस्मृतिः

श्रीविश्वरूपाचार्यप्रणीतया
बालक्रीडाख्यया व्याख्ययोपेता ।

(द्वितीयो भागः — प्रायश्चित्ताध्यायः ।)

THE
YÂJÑAVALKYASMRITI
with the commentary Bâlakrîdâ
OF
VISVARÛPÂCHÂRYA

EDITED BY

MAHÂMAHÔPÂDHYÂYA

T. GAṆAPATI SÂSTRÎ,

Honorary Member of the Royal Asiatic Society of Great Britain and Ireland

Doctor of Philosophy, University of Tübingen;

Curator of the Department for the Publication of
Sanskrit Manuscripts, Trivandrum.

Part II. Prayaschittadhyaya.

PUBLISHED UNDER THE AUTHORITY OF THE GOVERNMENT OF
HIS HIGHNESS THE MAHARAJAH OF TRAVANCORE.

TRIVANDRUM SANSKRIT SERIES

No. LXXXI.

THE
YÂJÑAVALKYASMRITI
with the commentary Bâlakrîdâ
OF
VISVARÛPÂCHÂRYA

EDITED BY

MAHÂMAHÔPÂDHYÂYA

T. GAṆAPATI SÂSTRÎ,

Honorary Member of the Royal Asiatic Society of Great Britain and Ireland,
Doctor of Philosophy, University of Tübingen,
*Curator of the Department for the Publication of
Sanskrit Manuscripts, Trivandrum*

Part II. Prâyaschittâdhyaya.

PUBLISHED UNDER THE AUTHORITY OF THE GOVERNMENT OF
HIS HIGHNESS THE MAHARAJAH OF TRAVANCORE.

अनन्तशयनसंस्कृतग्रन्थावलिः ।

ग्रन्थाङ्कः ८१.

श्रीयाज्ञवल्क्यस्मृतिः

श्रीविश्वरूपाचार्यप्रणीतया

बालक्रीडाख्यया व्याख्ययोपेता

संस्कृतग्रन्थप्रकाशनकार्याध्यक्षेण

लण्डनपुरस्थराजकीयैष्याखण्डीयविद्यासेवकसमाजपूज्यसम्यपदभाजा

पिहेच्. डि. (द्विस्त्रिंशन्) पदसत्कृतेन

महामहोपाध्यायेन

त. गणपतिशास्त्रिणा

संशोधिता ।

द्वितीयो भागः — प्रायश्चित्ताध्यायः ।

सा च

अनन्तशयने

महामहिमश्रीमूलकरामवर्मकुलशेखरमहाराजशासनेन

राजकीयमद्रणयन्त्रालये तदध्यक्षेण

प्रकरणानुक्रमणी ।

| प्रकरणानि. | पृष्ठम्. |
|--------------------------|----------|
| १. आशीचप्रकरणम् | १ — १६ |
| २. आपद्धर्मप्रकरणम् | १६ — १९ |
| ३. वानप्रस्थधर्मप्रकरणम् | १९ — २५ |
| ४. यतिधर्मप्रकरणम् | २५ — ७२ |
| ५. प्रायश्चित्तप्रकरणम् | ७२ — १८० |

विषयानुक्रमणी ।

विषयाः

पृष्ठम्

१. आशौचप्रकरणे —

| | |
|---|---|
| वयोवस्थाविशेषात् प्रेतक्रियाविशेषः | १ |
| दाहे इतिकर्तव्यता | २ |
| दाहानन्तरं ज्ञातीनां स्नानम् | ॥ |
| ज्ञातिभिन्नविषये उदकक्रिया | ३ |
| स्नानानन्तरं ज्ञातीनामुदकक्रिया | ॥ |
| ब्रह्मचारिणां पतितानां चोदकक्रियानिषेधः | ॥ |
| पाषण्डादीनामुदकदानाद्ययोग्यत्वम् | ॥ |
| कृतोदकानां ज्ञातीनामितिहासादिकथयापवदनम् | ४ |
| पुनर्गृहागमनम् | ॥ |
| निम्बपत्रविदंशनम् | ॥ |
| अग्न्यादीनामालम्भनम् | ५ |
| गृहं प्रविष्टानामशनं शयनं च | ॥ |
| दिनत्रयं प्रेतायाजदानम् | ॥ |
| एकाहं जलक्षीरदानम् | ॥ |
| ज्ञातीनां वैतानिकक्रियाधिकारः | ॥ |
| प्रेतसंस्पर्शनामप्यग्न्याद्यालम्भनम् | ॥ |
| इतरेषां स्नानाच्छुद्धिः | ॥ |
| आचार्यादिनिर्हरणे विशेषः | ६ |
| सपिण्डादीनामाशौचकालपरिमाणम् | ॥ |
| वर्णभेदेनाशौचकालपरिमाणम् | ७ |
| स्त्रावाशौचं प्रोषिताशौचं च | ८ |
| वर्णाविशेषेण बालादिमृतावाशौचम् | ॥ |
| वर्णाविशेषेणानौरसपुत्रादिमृतावाशौचम् | ॥ |

विषयाः

पृष्ठम्

| | |
|--------------------------------------|----|
| पालनाधिकृतनृपादीनामाशौचाभावः | ९ |
| शूद्रमृतौ ब्राह्मणानुगमननिषेधः | ११ |
| अनुगन्तुरन्यस्य शुद्धिप्रकारः | ११ |
| सपिण्डानामपि ऋत्विगादीनां सद्यःशौचम् | ११ |
| सूतकाशौचविशेषापवादः | १० |
| सामान्येन पुरुषमात्रधर्मः | ११ |
| सामान्येन शरीरादीनां शुद्धिकारणम् | १५ |
| तत्र विषयव्यवस्थया प्रपञ्चनम् | ११ |

२. आपद्धर्मप्रकरणे —

| | |
|--|----|
| अकार्यकारिणां दानाच्छुद्धौ विवेकः | १६ |
| आपद्धतैरप्यविक्रेयाणि | ११ |
| वस्तुविशेषविक्रये पातित्वं हीनवर्णता च | १८ |
| आपद्धतस्यासत्प्रतिग्रहादौ दोषाभावः | ११ |
| आपदि जीवनानि | ११ |
| आपदां दुस्तरत्वाद् बुधुक्षितादीनामितिकर्तव्यता | १९ |
| आपद्धतानां राज्ञा वृत्तिकल्पनम् | ११ |

३. वानप्रस्थधर्मप्रकरणे—

| | |
|-----------------------------------|----|
| वनस्थाश्रमाधिकारी | २२ |
| वानप्रस्थधर्माः | ११ |
| अतिथिपूजाद्यर्थमेवार्थादिनिवयः | ११ |
| प्रतिग्रहादिनिषेधः | २३ |
| सार्वकालिको धर्मः | ११ |
| आत्मभरणाय कर्तव्यानि | ११ |
| यथाशक्ति चान्द्रायणाद्याचरणम् | ११ |
| नित्यं चाप्रमादेन कर्तव्यानि | ११ |
| सामर्थ्यानुसारेण कर्तव्यानि | २४ |
| सर्वप्रकारस्य वनस्थस्य परमो धर्मः | ११ |

| | |
|---|---------|
| विषयाः | पृष्ठम् |
| वानप्रस्थान्तराभावे भैक्षाचरणम् | २४ |
| वैराग्यातिशये ज्ञानातिशये वा कर्तव्यम् | " |
| ४. यतिधर्मप्रकरणे — | |
| यत्याश्रमाधिकारी | २५ |
| यतिधर्माः | २६ |
| भैक्षाचरणप्रकारः | " |
| व्रतिपात्राणि तेषां शुद्धिश्च | २७ |
| पारिव्राज्यमास्थितस्यामृतीभावप्रकारः | " |
| यतेः शरीरशुद्धिकरणनियमः | " |
| गर्भवासादिसंसारधर्माणामसकृन्मननम् | २८ |
| विहितधर्मानाचरणे आश्रमस्वीकारमात्रेण फलप्राप्त्यभावः | " |
| संस्तुतिप्रापककर्माचरणनिषेधः | " |
| संन्यासिसामान्यधर्मः | " |
| संसारस्वरूपप्रपञ्चनं, तत्रादौ ब्रह्मणोऽभिन्नत्वेऽपि | |
| प्रपञ्चस्याविद्येतत्त्वम् | ३१ |
| अविद्यावच्छिन्नस्य संसारे परिवर्तनम् | ३२ |
| जननादिशून्यस्य तद्व्यपदेशोपपत्तिः | " |
| अज्ञानातिरेकाच्छरीरग्रहणम् | ३३ |
| शरीरप्रपञ्चस्याज्ञाननिबन्धनत्वम् | " |
| नित्यानामर्थानां कार्यत्वकथनेन प्रपञ्चमात्रतास्फुटीकरणम् | " |
| तद्वाक्यार्थं भूयः प्रपञ्चकथनम् | ३४ |
| अविद्यावच्छिन्नस्य ब्रह्मणः शरीरसम्बन्धकथनं तत्स्वरूपप्रपञ्चश्च | " |
| गर्भस्याङ्गेन्द्रिययोगविवेचनम् | ३५ |
| भिषक्छास्त्रानुसारेण दौहदस्याप्रदाने गर्भस्य दोषप्राप्त्याः | |
| दिकथनम् | " |
| चतुर्थादिमासेषु गर्भस्याङ्गस्थैर्यप्राप्तिः | ३६ |
| पूर्णस्याप्यष्टमे मासि जनने प्राणवियोगहेतुः | |

| | |
|--|---------|
| विषयाः | पृष्ठम् |
| भोगायतनस्य शरीरस्य निष्पन्नौ साधनानि | ३७ |
| शरीरेऽस्थानां स्थाननिर्देशपूर्वकं परिगणनम् | " |
| शरीरारम्भकाणां महाभूतानां गुणाः | ३८ |
| गुणग्राहकेन्द्रियाणि | " |
| कर्मेन्द्रियाणि | " |
| प्राणस्यायतनानि | ३९ |
| कोष्ठसम्बद्धा वपादयः | " |
| शरीरेऽवयवशो विभज्यमाने स्थानानि | " |
| शरीरे नवच्छिद्राणि | ४० |
| भिषक्छास्त्रोपयोगित्वेन सिरादीनां स्थूलतया परिगणनम् | " |
| वायुविजयार्थं सूक्ष्मपरिगणालोचनाय सिराणां परिगणनम् | " |
| योगशास्त्ररीत्या शरीरस्थकेशश्मश्रुपरिगणनम् | ४१ |
| मर्मसन्धिपरिगणनम् | " |
| शास्त्रान्तरालुसारेण रोम्णां परिगणनम् | " |
| अनेकप्रकाराणां प्राणिनां, तच्छरीरस्थसूक्ष्मसूक्ष्मतराणां | |
| भागानां च योगिभिरपि दुर्बिभाव्यत्वकथनम् | " |
| आगमालुसारेण देहे धातुपरिगणनम् | ४२ |
| ईदृशस्य शरीरस्य तुर्याश्रमोपयोजने धन्यता | " |
| तन्मध्यवर्तिपरमात्मोपलब्धे संसृतिनिवृत्तिः | " |
| सम्यक् तद्विवेकाय ज्ञेयानि शास्त्राणि | ४३ |
| वेदानुगुणध्यानप्रकारप्रपञ्चः | " |
| सावधानाभ्यासस्य ब्रह्माधिगमहेतुत्वम् | ४४ |
| गानस्य योगोपकरणत्वे नारदादिमतनिरूपणम् | " |
| गीतिज्ञस्यापि योगमार्गनिगमनप्रपञ्चः | ४५ |
| गीतिज्ञस्य योगेन परमपदानधिगमेऽप्यन्यफलकथनम् | ४६ |
| आत्मतत्त्वस्फुटीकरणाय मुनीनां प्रश्नः | " |
| जगदात्मनोः कार्यकारणभावे विरुद्धत्वशङ्का | " |
| स्वरूपनिरूपणपूर्वमात्मनो यज्ञसाधनत्वप्राप्तिकथनम् | " |

| | |
|--|---------|
| विषयाः | पृष्ठम् |
| याज्ञरसस्य यजमानाप्यायकत्वम् | ४७ |
| यजमानाप्यायनप्रकारः | " |
| यज्ञानयोः परस्परमुत्पाद्योत्पादकभावेन संसारचक्रपरि- वृत्तिकथनम् | ४८ |
| आत्मनोऽनादित्वादिनिरूपणम् | " |
| आत्मनश्चातुवर्ण्योत्पत्तिः | " |
| आत्मनः पादादेः पृथिव्याद्युत्पत्तिः | ४९ |
| मनःप्रभृतिभ्यश्चन्द्राद्युत्पत्तिः | " |
| भूयश्चात्मस्वरूपे ऋषीणां शङ्का | " |
| जीवस्य संसरणे निमित्तम् | ५० |
| संसार्यात्मनामनादित्वम् | " |
| कर्मानुरूपभोगप्राप्तिः | " |
| कर्मफलोत्पादे भावस्य प्रयोजकता | " |
| कर्मजकार्यकारणभावप्रपञ्चः | ५१ |
| तत्र वाग्दुष्टानां तिर्यग्योनिप्राप्तिः | " |
| कायिककर्मदोषैर्जायमाना योनयः | " |
| सत्त्वगुणातिशययोगाज्जायमानाः | " |
| अतिशयितरजस्तम्बन्धाज्जायमानाः | " |
| अपुण्यभूयस्त्वाज्जायमानाः स्वभावविशेषाः | ५२ |
| संसारस्थितेर्मनोभावमूलत्वम् | " |
| रजस्तमोभिभूतसत्त्वस्य ज्ञानासामर्थ्यम् | " |
| अपक्वकरणस्य ज्ञानानुपलब्धौ दृष्टान्तप्रदर्शनम् | ५३ |
| ज्ञानाश्रयस्यापि जीवस्य सर्वसंवेदनाभावे हेतुः | " |
| एकस्यैवात्मनो विभक्ताविभक्तत्वे दृष्टान्तप्रदर्शनम् | " |
| भेदावभासस्य प्रमाणमूलकत्वम् | ५४ |
| जगत्सर्गं प्रत्यात्मनः कर्तृत्वकरणत्वयोर्दृष्टान्तप्रदर्शनम् | " |
| आत्मना सह महाभूतानामपि सत्यत्वसमर्थनम् | ५५ |
| तस्यैव भूयः प्रपञ्चनम् | ५६ |

| | |
|---|---------|
| विषयाः | पृष्ठम् |
| आत्मनः शरीरव्यतिरिक्तत्वे निर्विवादता | ५६ |
| बन्धहेतवः | ५७ |
| बद्धस्य तनुमोचनप्रकारोपदेशः | ” |
| योगप्रवृत्तिहेतवः | ५८ |
| युक्तस्य प्रमांदात् परमाप्त्यभावेऽप्यानुषङ्गिकफलप्राप्तिः | ” |
| नानाविधैः कर्मभिरात्मनो नानाविधशरीरग्रहणे दृष्टान्तप्रदर्शनम् | ” |
| गर्भवैक्यहेतवः | ५९ |
| अहङ्कारादिभिः सर्वदा सम्बन्धो विज्ञानात्मन एवेति कथनम् | ” |
| रोगपरिभवानिरासे हेतवः | ” |
| दीपदृष्टान्तेन सूक्ष्मावच्छेदकलिङ्गादिसंक्षयदृढीकरणम् | ६० |
| प्राणसंक्षयहेतुभूततत्त्वावगमोपायप्रपञ्चः | ” |
| हृदयस्थस्य प्रकाशका नाडीविशेषाः | ” |
| सुषुम्नायाः परमाप्त्युपायभूतत्वकथनम् | ६१ |
| वस्वादिलोकगन्तारः | ” |
| राजसस्य कर्मानुसारिणी गतिः | ” |
| आत्मसंवेदनसाधनानि | ” |
| देहाद् देहिनः पृथक्त्वस्फुटीकरणम् | ६३ |
| क्षेत्रज्ञप्रयोर्विवेकाय चतुर्विंशतितत्त्वनिरूपणम् | ” |
| क्षेत्रक्षेत्रज्ञनिरूपणम् | ६४ |
| क्षेत्रज्ञोत्पत्तिक्रमः | ” |
| गुणानां श्रूतेषु लयः | ६५ |
| कृत्स्नपूर्वोक्तार्थोपसंहारः | ” |
| आत्मनो गुणत्रयम् | ” |
| बन्धयुक्त्यादिव्यवस्थो | ” |
| परावरब्रह्मोपसंहारः | ६६ |
| अग्निहोत्रिणां मार्गः | ” |
| दानपरादीनां मार्गः | ” |
| शुद्धोक्ते धर्मप्रवर्तकाः | ” |

विषयाः

पृष्ठम्

| | |
|---------------------------------------|----|
| देवयानमार्गेण गन्तारः | ६७ |
| सप्तर्षिनागवीध्योरन्तरालेऽवनिष्ठमानाः | " |
| वेदादीनामात्मज्ञानहेतुत्वम् | " |
| तैरात्मावगमनप्रकारः | ६८ |
| आत्मवेदनयोग्याः | ६९ |
| अर्चिरादिमार्गगतानां पुनरावृत्त्यभावः | " |
| अजवीथीमार्गावस्थितानां गतिः | " |
| अज्ञातैतन्मार्गद्वयस्य गतिः | ७० |
| योगमार्गसम्प्रदायः | " |
| ध्यानधारणास्वरूपम् | ७१ |
| योगसिद्धस्य लक्षणानि | " |
| असमर्थस्य पारिव्राज्यप्रकारभेदः | ७२ |
| गृहस्थस्य मुक्त्युपायोपदेशः | " |

५. प्रायश्चित्तप्रकरणे —

| | |
|--|----|
| प्रतिषेधातिक्रमहेतुकदोषप्रपञ्चः | " |
| महापातकिनां नीचयोनिप्राप्तिः | ७३ |
| नीचयोनितश्चातुर्वर्ण्यं जातानां ब्रह्महादीनां लक्षणानि | ७४ |
| महापातकिसम्पर्कस्यापि तदीयलिङ्गजनकत्वम् | " |
| महापातकव्यतिरेकेणापि रूपविपर्ययसंभवकथनम् | ७५ |
| तत्रान्नहर्त्रादीनां रूपविपर्ययः | " |
| परयोषिद्धरणादौ रूपविपर्ययः | " |
| रत्नाद्यपहरणे रूपविपर्ययः | ७६ |
| धान्यादिहरणे रूपविपर्ययः | " |
| मध्वादिहरणे रूपविपर्ययः | " |
| पातकानुरूपयोनिप्राप्तिः | ७७ |
| पातकिनां तत्फलभोगानन्तरमुत्पत्तिप्रकारः | " |
| चीर्णप्रायश्चित्तानामुत्पत्तिप्रकारः | ७८ |
| प्रायश्चित्ताचरणानिमित्तानि | " |

| | |
|---|---------|
| विषयाः | पृष्ठम् |
| प्रायश्चित्तस्यावश्यकर्तव्यतोपदेशः | ७९ |
| तत्र निमित्तान्तरकथनम् | " |
| प्रायश्चित्तमकुर्वाणानां नरकप्राप्तिः | ८४ |
| नरकाणां परिगणनम् | " |
| नरकप्रापकाणि पातकानि | ८५ |
| महापातकिनः | ८६ |
| महापातकसमानि | ८७ |
| सुरापानसमानि | ९० |
| सुवर्णस्तेयसंमितानि | ९१ |
| गुरुतल्पसमानि | " |
| तान्येव प्रायश्चित्तानिरेकप्रयोजकानि, तन्निष्कृतिश्च | " |
| उपपातकानि | ९२ |
| ब्रह्महत्यायाः प्रायश्चित्तम् | ९३ |
| तस्या एव प्रायश्चित्तान्तरम् | ९९ |
| तस्या एव वैकल्पिकप्रायश्चित्तान्तरम् | १०० |
| तस्या एव प्रकारान्तरेण वैकल्पिकप्रायश्चित्तान्तरम् | १०२ |
| अक्षत्रिये तस्या एव प्रायश्चित्तान्तरम् | " |
| तस्या एव विद्वद्विषयकं प्रायश्चित्तद्वयम् | १०३ |
| तस्या एव क्षत्रियविषये प्रायश्चित्तम् | १०४ |
| वित्तवतस्त्रैवर्णिकस्य तस्या एव पूर्वोक्तवैकल्पिकप्रायश्चित्तम् | १०६ |
| आतिदेशिकानि | १११ |
| सुरापानप्रायश्चित्तम् | ११३ |
| अनभ्यासेन कामकृतसुरापानस्य प्रायश्चित्तम् | ११४ |
| अमतिपूर्वकृतसुरापानस्य प्रायश्चित्तम् | ११५ |
| ब्राह्मण्या अपि सुरापानप्रायश्चित्ताचरणाय निन्दार्थवाद् | |
| पन्यासः | ११६ |
| सुवर्णस्तेयप्रायश्चित्तम् | ११९ |
| तस्यैव प्रायश्चित्तान्तरम् | १२१ |

| विषयाः | पृष्ठम् |
|---|---------|
| गुरुतल्पगमनप्रायश्चित्तानि | १२५ |
| ब्राह्मण्या रजकादिगमने | १३२ |
| तस्याः श्वपाकादिगमने | " |
| महापातकिर्सेसर्गिणां प्रायश्चित्तम् | १३४ |
| जात्या उत्कृष्टानामपकृष्टानां च वधे प्रायश्चित्तम् | १४२ |
| मिथ्याभिर्शंसिनो दोषद्वैगुण्यम् | " |
| उपपातकेषु गोवधस्य प्रायश्चित्तम् | १४३ |
| तस्यैव प्रायश्चित्तान्तरम् | " |
| तस्यैवोपपातकान्तरेषु प्रायश्चित्तान्तरैः सह वैकल्पिकातिदेशः | १४४ |
| स्त्र्यादिवधे विशेषेण प्रायश्चित्तम् | १५५ |
| तत्र स्त्रीवधे कचिदपवादः | १५८ |
| अव्यभिचारिण्या वधे प्रायश्चित्तम् | " |
| अस्थन्वतामनस्थिमतां च वधे " | " |
| मार्जारादिवधे " | १६० |
| क्रत्वर्थानां गजादीनां वधे " | १६२ |
| श्येनादीनां वधे " | " |
| उरगादीनां वधे " | " |
| तिचिरिवधे " | १६३ |
| अशक्तस्य प्रायश्चित्तान्तरम् | " |
| सर्वत्रैवानुक्तनिष्कृत्यर्थं कर्तव्यानि | " |
| पुंश्चलीवानरादिदंशे प्रायश्चित्तम् | १६४ |
| फलादिजातसत्त्वघाते ओषधिवृथाच्छेदे च | " |
| रेतःस्कन्दने | " |
| जले स्वच्छायादर्शने | १६५ |
| अशुचिवस्तुदर्शनादिषु | " |
| अवकीर्णिनः प्रायश्चित्तान्तरम् | " |
| ब्रह्मचारिणो भैक्षामिकार्यत्यागे प्रायश्चित्तम् | " |
| मधुमांसाशने | " |

| विषयाः | पृष्ठम् |
|--|---------|
| गुर्वर्थे व्यापृतस्य ब्रह्मचारिणो विपत्तौ गुरोः | १६५ |
| गुरोः प्रतिकूलाचरणे | " |
| उपकारार्थौषधादिदाने कृते व्यापत्तौ प्रत्यवायाभावकथनम् | १६६ |
| मिथ्याभिशंसने प्रायश्चित्तम् | " |
| अभिशस्तस्य प्रायश्चित्तम् | १६७ |
| नियोगाहते भ्रातृभार्यागमने उदकयागमने च प्रायश्चित्तम् | " |
| असत्यतिग्रहे प्रायश्चित्तम् | " |
| ब्राह्मयाजनेऽभिचरणे वेदनाशने शरणागतपरित्यागे च प्रायश्चित्तम् | १६८ |
| खरादियुक्तयानगमनादौ प्रायश्चित्तम् | " |
| गुरुविप्रादीनां मानहानिकराभाषणाभिभवनादौ प्रायश्चित्तम् | " |
| विप्रदण्डोद्यमे प्रायश्चित्तम् | " |
| विप्रे दण्डनिपातने प्रायश्चित्तम् | " |
| विप्रदेहादसृक्पातने प्रायश्चित्तम् | " |
| आभ्यन्तरशोणितोत्पादने प्रायश्चित्तम् | " |
| सर्वत्राधिकार्यपेक्षं प्रायश्चित्तम् | १६९ |
| पतितस्य घटनिनयनम् | " |
| चरितव्रतस्य तस्य पुनः संग्रहणम् | " |
| पतितानां स्त्रीणां घटापवर्जने विशेषः | १७० |
| स्त्रीणां विशेषपतनीयानि | " |
| कृतप्रायश्चित्तानामपि केषाञ्चिदसंव्यवहार्यत्वम् | " |
| रहस्यप्रायश्चित्तानां विषयः | १७१ |
| ब्रह्महत्यारहस्यप्रायश्चित्तम् | १७२ |
| साग्निकस्य ब्राह्मणवधे पूर्ववैकल्पिकत्वेन प्रायश्चित्तान्तरविधिः | " |
| सुरापस्वर्णहारिणोः रहस्यप्रायश्चित्तम् | " |
| गुरुतल्पगस्य तत् प्रायश्चित्तम् | १७३ |
| प्राणायामशतेन उपपातकादिसर्वपापानोदकथनम् | " |
| द्विजस्य रेतोविष्मूत्रप्राशने प्रायश्चित्तम् | १७४ |

| विषयाः | पृष्ठम् |
|--|---------|
| अज्ञानकृतपापप्रायश्चित्तम् | १७४ |
| रहस्यकृतमहासातकादिसर्वपापापनुत्तये जप्या मन्त्राः | " |
| सर्वत्र च रहस्ये कृतेऽपि प्रायश्चित्ते सङ्कीर्णमात्मानं मन्यमानस्य | " |
| द्विजस्य प्रायश्चित्तविधिः | " |
| वेदाभ्यासप्राप्त्यादीनामभिज्ञातपातकस्पर्शाभावः | १७५ |
| तेषामेवाकायकृतपापानां प्रायश्चित्तान्तरम् | " |
| रहस्याद्यधिकृतानां सर्वप्रायश्चित्तान्वाचयत्वेन विधिविशेषाः | " |
| तत्र यमानां निरूपणम् | " |
| नियमानां निरूपणम् | " |
| सान्तपनकृच्छ्रस्य स्वरूपम् | " |
| महासान्तपनकृच्छ्रस्य स्वरूपम् | १७६ |
| पर्णकृच्छ्रस्य स्वरूपम् | " |
| तप्तकृच्छ्रस्य स्वरूपम् | " |
| पादकृच्छ्रस्य स्वरूपम् | " |
| प्राजापत्यातिकृच्छ्रयोः स्वरूपम् | १७७ |
| कृच्छ्रातिकृच्छ्रश्राकयोः स्वरूपम् | " |
| सौम्यकृच्छ्रस्य स्वरूपम् | " |
| तुलापुरुषस्य स्वरूपम् | " |
| चान्द्रायणस्य स्वरूपम् | " |
| तस्यैव प्रकारभेदः | १७८ |
| सान्तपनाद्यगुष्ठाने विशेषः | " |
| अनादिष्टप्रायश्चित्तानां चान्द्रायणेन शुद्धिः, धर्मार्थं | " |
| चान्द्रायणाचरणे फलं च | " |
| फलमनभिसन्धाय कृतस्य कृच्छ्रस्य फलम् | " |
| अस्याः संहिताया अध्ययने ऋषिभिः फलप्रार्थना | १७९ |
| प्रार्थितानां फलानामनुमोदनम् | १८० |

॥ श्रीः ॥

श्रीयाज्ञवल्क्यस्मृतिः

श्रीविश्वरूपाचार्यप्रणीतया
बालक्रीडाख्यया व्याख्ययोपेता ।

(प्रायश्चित्ताध्यायः, १)

अथाशौचप्रकरणम् ।

श्रियामव्यभिचरितनिर्व्याजप्राप्तिहेतुतया कण्डकोद्धरणं राजधर्मत्वेनानेकधा व्यवहार-
प्रकरणे विप्रकीर्णतयोक्तम् । सर्ववर्णानां चाश्रमद्वयसाधारणो धर्म उक्तः । अथेदानीमाश्रमान्तरं
प्रसक्तमप्युक्तव्यं पूर्वाश्रमशेषभूतां प्रेतशुद्धिमेव तावत् प्रस्तौति । कस्मात्पुनः प्रसक्तमप्या-
श्रमान्तराभिधानमुत्कृष्यते । वर्णमात्रसंबन्धितयाप्युच्यमाना प्रेतक्रिया तद्यतिरेकेणैव यथा
स्यात्, प्रतिपत्त्यन्तरं च तच्छरीरस्यारण्यनयनादि । यथोक्तम्—“एतद्वै परमं तपो
यत्प्रेतमरण्यं नयन्ती”ति । तदधुना वयोवस्थाविशेषेणैव तावत् प्रेतक्रियामाह—

ऊनद्विवर्षं निखनेन कुर्यादुदकं ततः ।

आ श्मशानादनुव्रज्य इतरो ज्ञातिभिर्मृतः ॥ १॥

ऊनद्विवर्षिको मृतः खात्वा गते निखातव्यः । न दाहाद्युदकक्रिया
कार्या । यतश्चोदकक्रियानिवृत्तिस्तत एव ज्ञातिभिर्नानुगन्तव्य इत्यर्थः ।
इतरस्तूर्ध्वं वर्षद्वयादा श्मशानादनुगन्तव्यः । दाहाद्युदकक्रिया तस्य का-
र्येत्यर्थः । यत्तु स्वायंभुवम्—

“ऊनद्विवर्षिकं प्रेतं निदध्युर्बान्धवा बहिः ।

अलङ्कृत्य शुचौ भूमावस्थिसञ्चयनादते ॥

नास्य कार्योऽग्निसंस्कारो नापि कार्योदकक्रिया ।

(निवृत्तिस्तत एव ज्ञातिभिः ?)

अरण्ये काष्ठवत् त्यक्त्वा क्षपेयुस्त्यहमेव तु ॥”

इति । तदाशौचकालविशेषविधानार्थम् । एतदनुसाराच्च निदध्युरिति नि-
खनमेव तत्राभिप्रेतम् । यत्पुनस्तत्रैवोक्तं—

“नात्रिवर्षस्य कर्तव्या बान्धवैरुदकक्रिया ।

जातदन्तस्य वा कुर्युर्नाम्नि वापि कृते सति ॥”

इति । तदेतद् वैकल्पिकत्वेन कृतनामकदेहदाहादिविधानपरतयैवावसेयम् । पारस्करायं तु “द्विवर्षे प्रेते मातापित्रोरेवाशौचम्” इति तदनुगमना-
ङ्गत्वादङ्गस्पर्शाभिप्रायं द्रष्टव्यम् । यत्तु स्वायम्भुवे —

“नृणामकृतचौलानामशुद्धिर्नैशिकी स्मृता ।”

इति , तदूर्ध्वं नामकरणात् प्राक् संवत्सराद् विज्ञेयम् । परतस्तु कृतचौल-
स्याकृतचौलस्य वा त्रिरात्रमेव प्रागुपनयनात् । तथाचोक्तं —

“निर्वृत्तचौलकानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते ।”

इति । वाक्यद्वयारम्भस्तु व्यवस्थया दाहविकल्पार्थः । नामकरणाच्चोर्ध्वं वर्ष-
द्वयं दाहविकल्पः । परतस्तु नैयमिको दाहः । स्पष्टमन्यत् ॥ १ ॥

यस्य च दाहाधिकारः —

यमसूक्तं तथा गाथा जपद्भिलौकिकाग्निना ।

स दग्धव्य उपेतश्चेदाहिताग्न्यावृतार्थवत् ॥ २ ॥

यमदेवत्वं सूक्तं, तथा यमदेवत्या गाथा एकशो ब्राह्मणपठिताः,
तदुभयं जपद्भिर्ज्ञातिभिः । स दाहाधिकृतः । इतरो लौकिकाग्निना दग्ध-
व्यः । उपेतः उपनीतः । स चाहिताग्निसंबद्धेतिकर्तव्यतया । अर्थवद्
अनर्थलुप्ततया । यथासम्भवं दग्धव्यः । स्मृत्यन्तरात्तु मन्त्रनिवृत्तिः । शाला-
ग्निना च विद्यमानत्वे दाहः ॥ २ ॥

एवञ्च यथाधिकारं दग्ध्वा ततः —

सप्तमाद् दशमाद् वापि ज्ञातयोऽभ्यवयन्त्यपः ।

अप नः शोशुचदधमनेन पितृदिङ्मुखाः ॥ ३ ॥

आ सप्तमात् पुरुषात् सपिण्डतया प्रतिबद्धा आ दशमाद्वा समानोद-
कत्वेन ज्ञातयः स्नानाशुदकक्रियानिमित्तमपोऽवतीर्थं “अपनश्शोशुचदध-
मित्यनेन दक्षिणामुखाः स्नानं कुर्युः । अभ्यवयन्तीति चोद्धर्षणादिप्रतिषे-

समानोदकत्वाभावेऽपि हि यथा ज्ञातीनाम्—

कामोदकं सखिप्रत्तास्वस्त्रीयश्चशुरर्त्विजाम् ॥ ४ ॥

ये चामी ज्ञातय उदकक्रियार्थमपोऽवतीर्णाः, ते ज्ञात्वा स्मृत्यन्तरानुसाराच्च संयुक्ताः
अभ्यनुज्ञाताः —

स्पष्टार्थमेतत् ॥

संघिण्डत्वेऽपिच —

ब्रह्मचारिपतितशब्दौ च स्मृत्यन्तरानुसाराद् वनस्थादिपाषण्डादि-
लक्षणत्वेन यथायोगं द्रष्टव्यौ ॥ ५ ॥

कर्तृत्वेनापवादमुक्त्वेदानीं निमित्तत्वेनापवादमाह—

सुराप्य आत्मत्यागिन्यो नाशौचोदकभाजनाः ॥ ६॥

तथाशब्दः 'स्मृत्यन्तरोक्तवृथासङ्करजाताद्यर्थः । पाषण्डादीनां निमित्तत्वेनाशौचमात्रप्रतिषेधाद् ब्रह्मचार्यादीनां कर्तृतामात्रेणैव प्रतिषेधोऽवश्यः । स्पष्टमन्यत् ॥ ६ ॥

ये त्वधिकृता ज्ञातयः —

कृतोदकान् समुत्तीर्णान् मृदुशाद्वलसंस्थितान् ।
स्नातानपवदेयुस्तानितिहासैः पुरातनैः ॥ ७ ॥

कृतोदकान् पुनः स्नातानन्ये लोकयात्रिका यथोक्तदेशसंस्थितान्
दुःखोपशमनार्थमपवदेयुस्तानभिमन्युवधादिभिरितिहासैः पुरावृत्तैश्चेतरमनु-
ष्यसंबद्धैः ॥ ७ ॥

एतमेवापवादं प्रपञ्चयति —

मानुष्ये कदलीस्तम्भनिस्सारे सारमार्गणम् ।
करोति यः स संमूढो जलबुद्बुदसन्निभे ॥ ८ ॥

किञ्च —

पञ्चधा संभृतः कायो यदि पञ्चत्वमागतः ।
कर्मभिः स्वशरीरोत्थैस्तत्र का परिदेवना ॥ ९ ॥

पश्य —

गन्त्री वसुमती नाशमुदधिर्देवतानि च ।
फेनप्रख्यः कथं नाशं मर्त्यलोको न यास्यति ॥ १० ॥

किञ्च —

श्लेष्माश्रु बान्धवैर्मुक्तं प्रेतो भुङ्क्ते यतोऽवशः ।
अतो न रोदितव्यं स्यात् क्रियाः कार्याश्च शक्तितः ॥ ११ ॥

प्रेतमुद्दिश्य स्वचोदनानुसारेणेति शेषः ॥ ११ ॥

अनया दिशा लोकयात्रिकैरपवदनायोके साध्वैर्भिरुक्तम् —

इति सञ्चिन्त्य गच्छेयुर्ग्रहान् बालपुरोगमाः ।

बालानग्रतः कृत्वा यत्र प्रेतस्तद्गृहद्वारं यावद् गत्वा ततः —

विदश्य निम्बपत्राणि नियता द्वारि वेदमनः ॥ १२ ॥

विदश्य दन्तैरवखण्ड्येत्यर्थः ॥ १२ ॥

अभ्यवहाराभावेऽपि च —

आचम्याथाग्निमुदकं गोमयं गौरसर्वपान् ।

प्रविशेयुः समालभ्य कृत्वाश्मनि पदं शनैः ॥ १३ ॥

यथाकनिष्ठमेवेति शेषः । अग्न्यादीनां च मङ्गलार्थत्वात् संश-
ब्दाच्च समुचितानामेवालम्बनम् । स्पष्टमन्यत् ॥ १३ ॥

स्मृत्यन्तराच्च पृष्ठं प्रविश्याधिप्रस्तरे गृहमनश्नन्त एवासीरन् । तदशक्तौ तु —

क्रीतलब्धाशिनो भूमौ शयीरंस्ते पृथक् पृथक् ।

किञ्च —

पितृयज्ञावृत्ता देयं प्रेतायान्नं दिनत्रयम् ॥ १४ ॥

त्रिरात्रावधित्वेन क्रीत्वा संव्यवहारादिना वा लब्ध्वाभीयुः । एक-
शब्द ब्रह्मचारिणो भूमौ शयीरन् स्वपेयुः । पुत्रादीनां च यथाधिकारं
प्रत्यासत्त्यनुसारादेतेनैव पितृयज्ञोक्तावनेजनादीतिकर्तव्यतया श्राद्धमकृ-
त्वैव प्रेतायान्नं देयम् । प्रेतमेवोद्दिश्य “प्रेतात्र स्नाहि” इत्यनेन म-
न्त्रेण ॥ १४ ॥

जलमेकाहमाकाशे स्थाप्यं क्षीरं च मृन्मये ।

पात्र इति शेषः ॥

सत्यपि चाशौचनिमित्तेऽनधिकारे सर्वज्ञातिभिः —

वैतानिकाश्रयाः कार्याः क्रियाश्च श्रुतिदर्शनात् ॥ १५ ॥

स्पष्टार्थमेतत् ॥ १५ ॥

यथोक्तम् — “आचम्याथाग्निमुदकमिति, एतत् —

प्रवेशनाधिकं कर्म प्रेतसंस्पर्शिनामपि ।

इच्छतां

समानमितरैः । इच्छतामिति छेदः ॥

तत्क्षणाच्छुद्धिः परेषां स्नानसंयमात् ॥ १६ ॥

परेषां प्रेतवाहकव्यतिरिक्तानुगन्तृणामसमानोदकानाम् । वक्ष्य-
माणस्नानसंयमनाभिस्पर्शनादेस्तत्क्षणात् सद्य एव शुद्धिरित्यर्थः । कटधार-

णानिच्छायां तु प्रेतवाहकानां पारस्करोक्तं “प्रेतस्पृशो ग्रामं न प्रविशेयु-
रा नक्षत्रदर्शनाद्रात्रौ चेदादित्यस्य” इति । दृष्टस्नेहकारणाभावे तु प्रेत-
वाहकानां सद्यः शौचं पराशरोक्तम् —

“अनाथं ब्राह्मणं प्रेतं ये वहन्ति द्विजातयः ।

पदे पदे यज्ञफलमानुपूर्व्यालभन्ति ते ॥

न चैषामशुभं किञ्चित्पापं वा शुभकर्मिणाम् ।

जलावगाहनात्तेषां सद्यः शौचं विधीयते ॥”

इति ॥ १६ ॥

स्नेहादिनापि तु —

आचार्योपाध्यायपितृन् निर्हृत्यापि व्रती व्रती ।

स कटान्नं च नाश्नीयान्न च तैः सह संवसेत् ॥ १७ ॥

आचार्यमुपाध्यायं मातापितरौ वा निर्हृत्यापि प्रेतधर्मेण व्रती ब्रह्म-
चारी ब्रत्येव व्रतान्नं हीयत इत्यर्थः । अयं त्वस्य विशेषः — कटान्नं नाश्नी-
यात् तैश्च सपिण्डादिभिः सह न संवसेत् । एतस्मादेव चान्यत्र व्रतहानि-
रिति गम्यते । आचार्यादिसपिण्डैस्तु सह कटधारणादि न कुर्यात् तत्क-
रणे व्रतलोप एवेत्यभिप्रायः ॥ १७ ॥

उदकक्रियाधिकृतं नैमपि सपिण्डसमानोदकानां यथायोगं —

दशरात्रं त्रिरात्रं वा शावमाशौचमुच्यते ।

ऊनद्विवर्षमुभयोः सूतकं मातुरेव हि ॥ १८ ॥

दशरात्रं सपिण्डानां त्रिरात्रं समानोदकानाम् । वाशब्दश्चोभयत्र
स्मृत्यन्तरोक्तचतुरहपक्षिण्यादिकल्पानुसारेण यथायोगं विकल्पार्थः शव-
निमित्तोऽशुचिभावः शावमाशौचम् । ततश्च प्रागेव संस्कारान्मरणप्रभृति
दशरात्रमिति केचित् । तद् उच्यत इति वदन्नाचार्यो निराकरोति । कृतो-
दकानामपवदनानन्तरमन्यैर्लोकयात्रिकैः शावमाशौचं प्रति सपिण्डादिभिः
पृष्टैर्दशरात्रादिकल्पेन क्रियतामित्येवमुच्यत इत्यभिप्रायः । ततश्च संस्का-
राद्येव स्यात् । तदभावे तु स्मृत्यन्तरान्मरणाद्येवेति व्यवस्था । अनुच्य-
मानमपि तु ऊनद्विवार्षिकमुभयोः सपिण्डसमानोदकयोस्तुल्यकल्पमेव ।

१. ‘हादिका’, २. ‘ति । दृष्टस्ने’, ३. ‘बां स’ ग. पाठः. ४. ‘त्यनानु’
ड. पाठः. ५. ‘तकोऽशु’ ड. पाठः.

स्यादिति शेषः । सूतकं तु मुख्यवृत्त्या मातुरेव यस्मात् तस्मात् तदनुसारेणैव गर्भसंसनादौ गर्भमासतुल्यरात्रादिकल्पस्तदर्थतयैव योज्य इत्यभिप्रायः । यद्वा अयमङ्गस्पर्शावधिविधानार्थः श्लोकः । शूद्रादिक्रमेण ब्राह्मणान्तानामात्मीयाशौचकल्पतृतीयांशत्वेन दशरात्रादिनाङ्गस्पर्शः । ततश्च दशरात्रं शूद्रस्य ब्राह्मणस्य त्रिरात्रम् । वाशब्दात् पञ्चरात्रं चतूरात्रं वैश्यराजन्ययोः शववदङ्गस्पर्शाभावेनाशौचमुच्यते । ऊनद्विवार्षिकं चोभयोर्मातापित्रोरेवाशौचत्रिभागत्वेनात्मीयाशौचकल्पतृतीयांशत्वेन दशरात्रादिनाङ्गस्पर्शाभावः । सूतकं तु मातुरेव । तथाच वसिष्ठः —

“नाशौचं सूतके पुंसः संसर्गं चेन्न गच्छति ।

रजस्तत्राशुचिकरं तच्च पुंसि न विद्यते ॥”

इति ॥ १८ ॥

इदानीमाशौचकालपरिमाणमाह —

ब्राह्मणस्य दशाहं तु भवति प्रेतसूतकम् ।

क्षत्रस्य द्वादशाहानि विशां पञ्चदशैव वा ॥ १९ ॥

त्रिंशद् दिनानि शूद्रस्य प्रेतसूतकमुच्यते ।

अन्तरा जन्ममरणे शेषाहोभिर्विशुध्यति ॥ २० ॥

ब्राह्मणस्य दशाहं तु इत्यधिकनिवृत्त्यर्थस्तुशब्दः । प्रेतं च सूतकं च प्रेतसूतकं, प्रेतत्वनिमित्तं जन्मनिमित्तं च दशरात्रावधि ब्राह्मणस्याशौचं भवतीत्यर्थः । विशां पञ्चदशैव वेति वाशब्दः स्मृत्यन्तरोक्तावध्यन्तरविकल्पार्थतया सर्वत्राविशेषेण द्रष्टव्यः । शूद्रसम्बन्धितया च पुनः प्रेतसूतकवचनमशूद्राणां वर्णापशदानां निवृत्त्यर्थम् । जन्ममरणयोश्च समानजातीयत्वेन पुनरन्तरा जन्ममरणे पूर्वाशौचकालशेषेणैव शुद्धिः । तथाच स्मृत्यन्तरं — “जन्ममरणयोस्तुल्योपनिपातश्चेद् वा त्रिरात्रशेषणात् पूर्वेणैव शुद्धिः, न्यूने त्रिरात्रपूरणं, पुरोदयादन्ये त्रिरात्रमुदिते तु यथोक्तमिति । स्पष्टमन्यत् ॥ १९, २० ॥

किञ्चान्यद् —

गर्भस्त्रावे मासतुल्या निशाः शुद्धेस्तु कारणम् ।

प्रोषिते कालशेषः स्यात् पूर्णे दत्त्वोदकं शुचिः ॥ २१ ॥

गर्भस्त्रावे माससंख्याताहोरात्राणि चाशौचम् । एतच्च मातृविषय-
मेव । सपिण्डानां तु त्रिरात्रमेव, वसिष्ठवचनात् — “गर्भपतने सपिण्डानां
त्रिरात्रमाशौचमि”ति । प्रोषिते ज्ञाते ज्ञानप्रभृत्यवशिष्टकालमाशौचं स्यात् ।
पूर्णे तु दशरात्रादावाशौचकाले दत्त्वोदकमुदकदानसम्बन्धिविहितत्रिरा-
त्रेणैव शुचिः स्यात् । यद्वा स्मृत्यन्तरानुसारात् पूर्णे संवत्सरे दत्त्वोदकं
सद्यः शौचमिति योज्यम् ॥ २१ ॥

अविशेषेणैव तु सर्ववर्णानाम् —

अहस्त्वदत्तकन्यासु बालेषु च विशोधनम् ।

गुर्वन्तेवास्यनूचानमातुलश्रोत्रियेषु च ॥ २२ ॥

अहःशब्दोऽहोरात्रवचनः, अनन्तरश्लोके तदहरिति तन्मात्रार्थं
पुनर्वचनात् । अहस्त्वदत्तकन्यास्वित्यद्विर्वाचा च यद् दानं, तदपेक्षया-
वसेयम् । तुशब्दः कल्पान्तरार्थः प्रत्तादिविषयत्वेन । अन्तेवासी शिल्प-
शिष्यः । तत्सन्निधियोगाच्च तद्गुरावेव गुरुशब्दः । अनूचानः अनुवक्तैवो-
पाध्यायः । मातुलो मातुः सोदर्यः श्रोत्रियश्चानुपसम्पन्नः, अनाश्रितप्राति-
वेक्ष्यादिरित्यर्थः । मुख्यगुर्वादीनां तु स्मृत्यन्तरोक्तं द्रष्टव्यम् ॥ २२ ॥

सर्ववर्णवैशेषिकत्वेनैव च —

अनौरसेषु पुत्रेषु भार्यास्वन्यगतासु च ।

निवासराजनि तथा तदहः शुद्धिकारणम् ॥ २३ ॥

अनौरसवचनं बीजक्षेत्रसम्बन्धव्यतिरेकपरत्वाद् दत्तकादिविषयं द्र-
ष्टव्यम् । भार्यात्वेनान्यसम्बद्धासु । आगतासु अवरुद्धास्विति यावत् ।
निवासहेतुभूते न्यायवृत्ते क्षत्रिये राजनि । तथाशब्दादेवमाद्युक्तप्रकारनि-
श्चयः । एषां विपत्तौ तदेवाहः शुद्धिकारणं, नाहोरात्रमित्यर्थः ॥ २३ ॥

सपिण्डतयैव प्राप्तस्य यथोक्ताशौचकल्पस्यापवादार्थमाह—

गोनृपब्रह्महतानामन्वक्षं चात्मघातिनाम् ।

प्रायानाशकशस्त्राग्निविषाद्यैरिच्छतां स्वयम् ॥ २४ ॥

गवादिभिरनिच्छतामपि व्यापादितानामन्वक्षमाशौचं स्यात् । अक्षमिन्द्रियं तदुपलब्धिवृत्त्या, यावद्दर्शनमित्यर्थः । ततश्चादर्शनाच्छुद्धिः । अशुद्धिवचनाच्च दर्शनमप्यकर्तव्यमेवेति ज्ञापयति । प्रायादिभिश्च स्वयमिच्छतामात्मव्यापादनेऽन्वक्षमेव । स्वयमिति वचनं ब्राह्मणाद्यर्थनिवृत्त्यर्थम् । प्रायो महापथगमनम् । आम्नायश्चेच्छयैव ज्ञप्त्यर्थमात्मव्यापादनाभ्युपगमं दर्शयति — “यद्यु मा मारयिष्यति यज्ञं विकृष्टमनुविक्रक्ष्य” इत्यादि ॥ २४ ॥

कार्वाण्तरुपरीधाच्च—

महीपतीनां नाशौचं हतानां विद्युता तथा ।

गोब्राह्मणार्थे संग्रामे यस्य नेच्छति भूमिपः ॥ २५ ॥

महीपतीनां राज्ञां पालनार्थमाशौचाभावः । तदर्थं यस्याशौचाभावमिच्छति राजा प्राड्विवाकादेः, तस्याप्याशौचाभावः । विद्युदादिहतानां तु निर्दोषत्वेऽपि वचनाद्, गोब्राह्मणार्थे त्वभ्युदयातिरेकादेवेत्यवगन्तव्यम् ॥ २५ ॥

अनुगन्तृणां त्विदानीमाह —

ब्राह्मणेनानुगन्तव्यो न शूद्रो हि मृतः क्वचित् ।

क्वचिदित्थापद्यप्यननुगमार्थम् ॥

यस्त्वनुगन्तव्यो ज्ञातिरज्ञातिर्वा सजातीयः, तमपि —

अनुगम्याम्भसि स्नात्वा स्पृष्ट्वाग्निं घृतभुक् शुचिः ॥ २६ ॥

अम्भोवचनं बहिः स्नानक्रियार्थम् । स्पृष्टमन्यत् ॥ २६ ॥

सपिण्डत्वेऽपि च—

ऋत्विजां दीक्षितानां च याज्ञे कर्मणि कुर्वताम् ।

सन्निव्रतिब्रह्मचारिदातृब्रह्मविदां तथा ॥ २७ ॥

दाने विवाहे यज्ञे च संग्रामे देशविप्लवे ।

आपद्यपि च कष्टायां सद्यःशौचं विधीयते ॥ २८ ॥

ऋत्विग्दीक्षितवचनं वरणदीक्षामात्रप्रवृत्त्यैव प्रागेव यज्ञारम्भादा-
शौचनिवृत्त्यर्थम् । याज्ञे कर्मणि कुर्वतामिति अनृत्विजामपि चमसाध्वर्ष्या-
दीनां परिग्रहार्थम् । सत्री प्रसिद्धः । आदिष्टप्रायश्चित्ती व्रती । ब्रह्मचारी
उपकुर्वाणको नैष्ठिकश्च । दाता सततप्रवृत्तहिरण्यादिदानः । ब्रह्मवित् ता-
दर्थ्याधिकारात् परित्राजकः, तदुपासनैकनिष्ठो वा । तथाशब्दो वनस्थाद्यर्थः ।
दानादौ च तत्सम्बन्धब्राह्मणामिमुख्यकरणाद्यङ्गेन प्रस्तुते राष्ट्रभङ्गादौ च
देशविप्लवे अन्यस्यां वा निर्व्याजकष्टायाम् आपदि । सद्यःशौचं विधीयत
इति विचिकित्सानिवृत्त्यर्थम् ॥ २७, २८ ॥

एव शावाशौचमभिधायेदानीं सूतकाश्रय विशेषापवादमाह—

पित्रोस्तु सूतकं मातुस्तदसृग्दर्शनाद् ध्रुवम् ।

तदहर्न प्रदुष्येत पूर्वेषां जन्मकारणात् ॥ २९ ॥

मातापित्रोर्बीजशोणितसम्बन्धादङ्गस्पर्शायोग्यत्वकरं सूतकं, न पुनः
सपिण्डानामपि, तदसंभवात् । एवञ्चेन्मातुरेव, तदसृग्दर्शनात् । ध्रुवं नि-
श्चितमित्यर्थः । तथाच स्वायम्भुवं —

“सर्वेषां शावमाशौचं मातापित्रोस्तु सूतकम् ।

सूतकं मातुरेव स्यादुपस्पृश्य पिता शुचिः ॥”

इति । शावशब्दोऽङ्गस्पर्शाभावप्रतिपत्त्यर्थः । यदपि चान्यत् सपिण्डसा-
मान्यं दानाद्यनधिकारलक्षणमाशौचं तदपेक्षयापि यस्मिन्नहनि पुत्रो जात-
स्तदहर्न प्रदुष्येत । किमर्थम् । पूर्वेषां पित्रादीनां पितृणां जन्मकारणात् ।
जन्मनि श्राद्धकारणौदित्यर्थः । प्रशब्दाच्च भोक्तृणामप्यदोष इति ग-
म्यते ॥ २९ ॥

१. 'श्लेव' क. ग. पाठः २. 'त्र', ३. 'दभावा' ४. 'पिच य' ग. पाठः.
५. 'तु' क. ड. पाठः. ६. 'नः', ७. 'णत्वादि' ग. पाठः.

अयं तु सामान्येन पुरुषमात्रधर्मः—

उदक्याशौचिभिः स्नायात् संस्पृष्टस्तैरुपस्पृशेत् ।
अब्लिङ्गाभिर्जपेच्चैव सावित्रीं मनसा सकृत् ॥ ३० ॥

उदक्या रजस्वला, आशौचिनोऽङ्गस्पर्शानर्हाः, तैः स्पृष्टः स्नायात् । कामतस्तु सङ्गम्य तैः स्पृष्टोऽब्लिङ्गाभिः ‘आपो हि ष्ठा’ इत्यादिभिः स्ना-
त्वोपस्पृशेत् । आचामेदित्यर्थः । आचम्य सावित्रीं मनसा सकृज्जप्त्वा शु-
ध्यतीत्यवसेयम् ॥

इदं त्वत्र चिन्त्यम्— अनेकधा विरोधिनामाशौचवाक्यानां कथं
विषयकल्पनेति । तद्यथा — स्वयम्भुवा “दशाहं शावमाशौचमि”त्यत्र च-
त्वारः कल्पाः प्रदर्शिताः । दशाहः, तथा “आ वा सञ्चयनादस्थनाम्” इत्य-
नेन चतुरहः, “व्यहमेकाहमेव वे”त्यनेन व्यहैकाहौ । तथा पराशरेण—

“ब्राह्मणस्य त्रिरात्रं तु शावमाशौचमुच्यते ।

क्षत्रियस्य दशाहानि वैश्यस्यैकादशैव तु ॥”

इति । गौतमेनापि — “शावमाशौचं दशरात्रमनृत्विग्दीक्षितब्रह्मचा-
रिणां सपिण्डानामि”त्युपक्रम्य एकादशरात्रं क्षत्रियस्य द्वादशरात्रं वैश्य-
स्येत्युक्तम् । वसिष्ठेनाप्युक्तं— “ब्राह्मणो दशरात्रेण पञ्चदशरात्रेण क्षत्रियो
वैश्यो विंशतिरात्रेण” इति । शूद्रस्य तु मास एव सर्वत्रोक्तः । तत्र
केचिच्छ्लोकान्तरारम्भसामर्थ्याद् वृत्तस्वाध्यायाद्यपेक्षया विषयव्यवस्थां
वर्णयन्ति —

“एकाहाच्छुध्यते विप्रो योऽग्निवेदसमन्वितः”

इत्यादि । तत्र नातीव सम्यक् । यदि हि वृत्ताद्यपेक्षयैकाहाच्छुच्येत, तदा

“उभयत्र दशाहानि कुलस्यान्नं न भुज्यते ।

दानं प्रतिग्रहो यज्ञः स्वाध्यायश्च निवर्तते ॥”

इत्याद्यनुपपन्नमेव स्यात् । गौतमोऽपि च दीक्षितादिपर्युदासेन दशरात्रं
विदधद् वृत्तादिमतामेवैतदिति ज्ञापयति । एवं सर्वस्मृत्यन्तरेषु स्वाध्याया-
द्यनधिकार एवाशौचं, तद्धीनस्य च स्वभावसिद्धोऽनधिकार इति कि-

माशौचं करिष्यति । तथा दक्षेण सद्यःशौचादिदशपक्षं सूतकं प्रक-
म्योक्तं —

“व्याधितस्य कदर्यस्य ऋणग्रस्तस्य सर्वदा ।
क्रियाहीनस्य मूर्खस्य स्त्रीजितस्य विशेषतः ॥
व्यसनासक्तचित्तस्य पराधीनस्य नित्यशः ।
श्रद्धाल्यागविहीनस्य भस्मान्तं सूतकं भवेत् ॥”

इति । एवञ्चातीयकानां स्वभावसिद्धानामा मरणादनपायेवाशौचं, नाशौच-
विधिविषयभावत्वमेषामित्यभिप्रायः । कथं तर्ह्ययं श्लोकः — “एकाहाच्छुध्यते
विप्र” इति । निन्दार्थवादत्वेन भस्मान्तसूतकवचनवदेतदपि वृत्तादिप्रशं-
सामात्रार्थं प्रक्रमानुसारात् स्मृत्यन्तराद् न्यायविरोधाच्च द्रष्टव्यम् । नहि
वेदरहितस्याग्निसंयोगोऽस्ति । स्तुत्यर्थतायां त्वविरोधः । एवं पाराश-
र्यमपि —

“नामधारकविप्राणां दशाहं सूतकं भवेद्”

इत्यादि योज्यम् । अन्ये तु

“दन्तजातेऽनुजाते च कृतचौले च संस्थिते”

इत्येतच्छ्लोकानुसारेण वयोवस्थापेक्षया व्यवस्थामाहुः । जाता दन्ता यस्य
स दन्तजातः, तमनु पश्चाद् यो जातः सोऽनुजातः नामकरणादूर्ध्वं
(स्यात् १) प्राग् दन्तजननात् । परतो न्यूनत्रिवर्षो दन्तजातः । परतस्तु
प्रागुपनयनात् कृतचौलः । चशब्दाच्च कृतोपनयनः । तेषु कृतोपनयना-
दिषु संस्थितेषु दशाहादिकल्पव्यवस्थेति । तदेतत् कृतचौले त्रिरात्रवि-
धानादितरत्रापि च यथायोगं वचनान्तरारम्भसामर्थ्यादयुक्तमेव । स्वबु-
द्ध्यनुसारिण्यश्चैताः कल्पनाः । न चैतच्चोदनालक्षणत्वे युक्तम् । कस्तर्हि
प्रकारः । उच्यते । सपिण्डोद्देशेनैव हि चत्वारोऽपि कल्पाः । सापिण्डतापि
हि चतुष्प्रकारैव । यथोक्तं — “पिण्डनिवृत्तिः सप्तमे पञ्चमे वे”ति ।
वृत्ते वर्तमाने चेति चोभयथा सूत्रार्थयोजनादेतदापद्यते — पञ्चमे षष्ठे
वा सप्तमेऽष्टमे वा पुरुषे पिण्डनिवृत्तिरिति । अत एवोक्तं —

“सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते”

इति । सप्तमे विगतेऽष्टमे निवर्तते एव , न परतः प्रवर्तते इत्यर्थः । तदेवं चतुष्प्रकारां सपिण्डतामालोच्य यथासन्निकर्षं दशाहादिकल्पयोजना । ततश्च समानोदकानां चतुष्प्रकाराणां त्र्यहपक्षिण्येकाहसद्यःशौचादिकल्पव्यवस्थाप्युपपन्ना भवति । पिण्डनिवृत्तिकल्पनायामेव तु कथं व्यवस्थेति चेद्, उक्तं “पिण्डकरणे प्रथमः पितृणां प्रेतः स्यात् पुत्रवांश्चेदि”त्युपक्रम्य “निवर्तते चतुर्थ” इति । अतः प्रमीतपितृकस्य पञ्चमे पिण्डनिवृत्तिः, एवं जीवपितृकस्य षष्ठे, जीवपितामहस्य सप्तमे, जीवप्रपितामहस्याष्टमे इति व्यवस्था । सहनिवसतां च पितृनिमित्तमेव पुत्राणामाशौचम् । पृथङ्निवासे तु प्रत्यात्मिकम् । तथा च पराशरो निवासमेदाभिप्रायेणैवाह —

“सम्पर्केषु निवृत्तानां न प्रेतं नैव सूतकम्”

इति । एवं सर्ववर्णानां सपिण्डसमानोदकत्वेनाशौचकल्पव्यवस्था योज्या । ब्राह्मणादिजन्मानुसारेण वाक्यव्यवस्था । वैश्यवच्छौचकल्पः स्यादित्येतदनुसाराच्च शूद्रस्याप्यनेककल्पप्रसङ्गे पूर्ववद् योज्यम् । न्यायवर्तिनामिति वचनाद् द्विजात्याश्रितशूद्रविषय एवायम्, इतरस्य त्वष्टपौरुष्येव सपिण्डता । मास एवास्यैकः शुद्धिप्रकारः । क्षत्रियादीनां तु ब्राह्मणादिजातविषयतया च ब्राह्मणादीनां त्रिपुरुषमेव सपिण्डता । तथाच शङ्खः — “पिण्डस्त्वावर्तते त्रिष्वि”ति । आशौचकल्पश्च प्रत्यात्मिक एव “एकपिण्डाः पृथक्शौचा” इति वचनात् । एवञ्च पितृव्यतत्पुत्रादिविषयं स्वपुत्रादिविषयतया तु सहनिवासिनां पितृतुल्यमेवाशौचम् । तथाचोक्तं —

“मृते सूते तु दासानां पुत्राणां चानुलोमिनाम् ।

स्वामितुल्यं भवेच्छौचमृते स्वामिनि यौतकम् ॥”

इति । पितुः पुनः

“वर्णानामानुलोम्येन स्त्रीणामेको यदा पतिः ।

दशाहषट्त्र्यहैकाहाः सूतके मृतके तथा ॥”

इति । अनया दिशा सर्वेषामाशौचकल्पानां विषयकल्पना । यदि त्ववश्यं वृत्ताद्यपेक्षयापि विषयकल्पना, ततो वरमश्चस्तनत्रै(य)हिकादिवृत्तिविशेषापेक्षयैव, दृष्टार्थत्वात् । यत्तु गौतमीयं “राज्ञां च कार्यविरोधादि”त्यादि

सद्यःशौचाभिधानं तद्धेतुविधानात् प्रवृत्तब्रह्मयज्ञानां तन्मात्र एव द्रष्टव्यम् ।
अध्यापनप्रवृत्तेर्वाश्वस्तनिकादिवदेव स्वाध्याये । एवं सत्रिप्रतिप्रभृतीना-
मपि तन्मात्रतयैवाशौचनिवृत्तिरवगन्तव्येत्येषा दिक् । सूतकमप्येवमे-
वातिदेशानुसाराद् योज्यम् । अन्ये तु दशाहमात्रातिदेशं सूतकं मन्यन्ते ।
तत् पुनरशब्दत्वादकिञ्चित् । यत्तु मातुरेकाहादिप्रसङ्गात् समाचारात् स्मृ-
त्यन्तरोक्तदशरात्रसमालम्भनादिविरोधाच्च दशाहातिदेश इति, तन्मात्रापि-
त्रोः सपिण्डतावधिविशेषाश्रयचतुरहाद्यप्रसङ्गात् फल्गुप्रायमेव स्यात् । अतः
शावाशौचवदत्राप्यतिदेशानुसारिण्येव व्यवस्थाकल्पनेत्यनवद्यम् । यत्तु
“सूतकं मातुरेव स्यादि”ति, तदङ्गस्पर्शप्रतिषेधार्थमिति व्याख्यात-
मेव । यत्तु

“निरस्य तु पुमान्बुद्धमुपस्पृश्यैव शुच्यति ।

बैजिकादभिसंबन्धादनुसन्ध्यादयं न्यहम् ॥”

इति । तच्छूद्रविषयमवरुद्धदासीसंबन्धेन नियोगसंबन्धेन वा द्रष्टव्यम् ।
अवरुद्धदासीविषयत्वेन तु निरस्य शुक्लं पुत्रजन्मादावुपस्पृश्य सद्य एव
शुचिः । नियोगपक्षेण तु “बैजिकादभिसंबन्धात् न्यहमि”त्येषा दिक् ।
कन्याविषयं तु वाक्यत्रयं विषयव्यवस्थयैव पठ्यत इत्यविरोधः । तद्यथा—

“अप्रौढायां तु कन्यायां सद्यःशौचं विधीयते”

इत्येतद्वाक्यानुसारादकृतचूडाविषयं द्रष्टव्यम् । “अहस्त्वदत्तकन्यासु”
इत्येतत् कृतचूडायामदत्तायाम् । दत्तायां तु मानवं, येभ्यो दत्ता तेषां त्रिरा-
त्रमेवास्तु यैर्दत्ता तेषां चैकाहादिना

“यथोक्तेनैव कल्पेन शुद्ध्यन्ति तु सेनाभयः”

इति वचनात् । अन्ये तु यथोक्तेनैव कल्पेनेति दशरात्रं वर्णयन्ति । तच्च
स्वशस्त्रानुसारेण क्लृप्तकल्पनया प्रतीयमानमपि न्यायसमाचारस्मृत्यन्तरा-
नुसारादयुक्तमेव । प्रोषितप्रेतवाक्यानि तु त्रिरात्रपक्षिण्येकाहसद्यःशौ-
चविषयाणि सपिण्डतावधिविशेषानुसारेणैव व्याख्येयानि । मातुलादिवि-
षयत्वेन तु,

“विशुच्यति त्रिरात्रेण मातुरासांश्च बान्धवान्”

इति वचनान्निर्हरणकर्तुरेव त्रिरात्रम्, अन्यस्य तु पक्षिण्येव । एकाहस्तु सापत्नादिविषय एव । सपिण्डसमानोदकव्यतिरेकेण च सर्वत्र क्षपणमात्र-
मनुज्ज्वलवेषतालक्षणमाशौचसादृश्यादाशौचवचनं द्रष्टव्यं, न तु यज्ञाद्य-
धिकारनिवृत्तिः ।

“सत्रह्यचारिण्येकाहमतीते क्षपणं स्मृतम्”

इति प्रक्रमात् समाचाराच्च । एवं सर्वथा सर्ववाक्यानां व्यवस्थासिद्धिरि-
त्यलं प्रसङ्गेन ॥ ३० ॥

एवं तावद् विस्पष्टविज्ञानानभिक्तं सर्वत्र सर्वथा चाशौचविधिमुक्त्वा स्वभावोपह-
तस्येदानीं निसर्गजाविद्योपप्लवादात्मन इन्द्रियाणां शरीरस्य तदुपकरणस्य वा सम्यक् संशु-
द्धिकारणं सामान्येनैवाह—

कालोऽग्निः कर्म मृद् वायुर्मनो ज्ञानं तपो जलम् ।

पश्चात्तापो निराहारः सर्वेऽग्नी शुद्धिहेतवः ॥ ३१ ॥

अग्निरिति तेजस उदाहरणं, मृत् पृथिव्याः । जलवाय्वोस्तु स्वरू-
पणवैपोषादानम् । एतानि पृथिव्यादीनि चत्वारि महाभूतानि एतदात्मकस्य
बाह्यस्योपकरणस्य व्यस्तसमस्तात्मना यथायोगं शुद्धिसाधनानि, कालकर्म-
णोस्तु बाह्यस्याभ्यन्तरस्य चोत्पन्न इन्द्रियग्रामस्य च, मन इन्द्रियान्तराणां,
मनसस्तु वक्ष्यति, अवशिष्टानि ज्ञानादीन्यात्मनः । एवं यथायोगमविशेषेण
वा सर्वत्र सर्वेऽग्नी शुद्धिहेतव इत्यवसेयम् । सर्वेषां स्वदेशदेशान्तराभिहित-
स्वविषयशुद्धिसाधनानां संक्षेपेण पुनर्वचनार्थतया वायुमुपसंहारार्थोऽनु-
वादः ॥ ३१ ॥

एतदेव स्पष्टयितुं विषयव्यवस्थया प्रपञ्चयति —

अकार्यकारिणां दानं वेगो नद्यास्तु शुद्धिकृत् ।

शोध्यस्य मृच्च तोयं च संन्यासो वै द्विजन्मनाम् ॥ ३२ ॥

तपो वेदविदां क्षान्तिर्विदुषां वर्ष्मणो जलम् ।

वर्ष्म शरीरम् । तथाच स्वायंभुवं — “मृद्धिरद्धिश्च गात्राणि”
इति ॥ ३२ ॥

[कथं —

जपः प्रच्छन्नपापानां मनसः सत्यमुच्यते ॥ ३३ ॥

भूतात्मनस्तपोविद्ये बुद्धेर्ज्ञानं विशोधनम् ।

क्षेत्रज्ञस्येश्वरज्ञानाद् विशुद्धिः परमा मता ॥ ३४ ॥

त्रयः श्लोकाः स्पष्टार्था वक्ष्यमाणोपनिषत्काण्डप्रायश्चित्तकाण्डयोः
सूत्रभूता द्रष्टव्याः ॥ ३३, ३४ ॥

इत्याशौचप्रकरणम् ।

अथापद्धर्मप्रकरणम् ।

अकार्यकारिणां दानाच्छुद्धिरित्यस्य विवेकार्थमाह —

क्षात्रेण कर्मणा जीवेद् विशां वाप्यापादि द्विजः ।

निस्तीर्यार्थं तमुत्सृज्य पाव्यात्मानं न्यसेत् पथि ॥ ३५ ॥

क्षात्रेण प्रजापालनादिकर्मणा ब्राह्मणवैश्ययोः वैश्यकर्मणा वा पूर्व-
योः, अकार्यभूतेनापि स्ववृत्त्यसंभवलक्षणायामापादि जीवनं धर्म्यमेव ।
द्विजवचनाच्च क्षत्रियवैश्यधर्मान्वाचयत्वेन वर्णत्रयसाधारण्यं व्याख्यातम् ।
तथाच नारदः —

“उत्कृष्टं चापकृष्टं च तयोः कर्म न विद्यते ।

मध्यमे कर्मणी हित्वा सर्वसाधारणे हि ते ॥”

इति । अकार्यत्वाच्चापत्कल्पत्वम् । तेन तामापदं निस्तीर्य उत्सृज्य चाव-
शिष्टं द्रव्यं दानेन विधिवत् पावयित्वा आत्मानं स्ववृत्तिलक्षण एव पथि
स्थापयेद् न तस्यामेव क्षत्रियादिवृत्तौ रतिं कुर्यादित्यभिप्रायः ॥ ३५ ॥

आपद्रतोऽपि च —

फलोपलक्षौमसोममनुष्यापूपवीरुधः ।

तिलौदनरसक्षारान् दधि क्षीरं घृतं जलम् ॥ ३६ ॥

शस्त्रासवं मधूच्छिष्टं मधु लाक्षाथ बर्हिषः ।

मृच्चर्मपुष्पकुतपकेशतक्रविषैरकान् ॥ ३७ ॥

कौशेयनीलीलवणमांसैकशफहेतवः ।

शाकाद्रौषधिपिण्याकतूलगन्धांस्तथैव च ॥ ३८ ॥

वैश्यवृत्त्यापि सञ्जीवन् विक्रीणीत न कर्हिचित् ।

धर्मार्थं विक्रयं नेयास्तिला धान्येन तत्समाः ॥ ३९ ॥

वैश्यवृत्त्यापि हि ब्राह्मणक्षत्रिययोरापदि जीवतोः फलादीनि श्लोक-
त्रयपठितान्यविक्रेयाणि । तत्रातिषेधार्द् वैश्यस्यैतान्यनिषिद्धानीति गम्यते ।
फलान्याम्रादीनि । उपलाः पाषाणशिलादयः पद्मरागादयश्च । क्षौममतसी-
मयं गोण्यादि । सोमादीनि प्रसिद्धानि । वीरुध आरण्या ओषधयः । अंपूपा
मण्डकाः । तिलादीनि स्पष्टानि । जलमाधारस्थमुद्धृतं वा । मूलेन तु
यदुदकाहरणं सस्यप्रसेचनाय वप्रमापाद्यापणं तदुदकविक्रयत्वेन क्रिया-
न्तरार्थत्वाच्चाशङ्कनीयम् । शस्त्राणि खड्गादीनि । आसवः खर्जूरदिरसः ।
रसत्वेन च निषिद्धस्य पुनर्वचनं शब्दान्तराभिधेयत्वात् प्रायश्चित्तविशेषा-
र्थमेवेत्येतदेवै च युक्ततरम् अर्थानुसारित्वात् प्रतिषेधस्य । मधु मद्यम् ।
उच्छिष्टं प्रसिद्धम् । मधु माक्षिकं मादनं वा मधूच्छिष्टमुच्यते । अथश-
ब्दोऽभिधेयान्यत्वप्रतिपत्त्यर्थः । बर्हिष इति तु षष्ठ्यन्तनिर्देशो व्यत्ययप्र-
तिपत्त्यर्थः । ततश्च तृणमात्रवचनोऽपि बर्हिःशब्दः संस्कृतत्वानुसारेणाशे-
षस्रुगादियज्ञसाधनप्रतिषेधार्थः । मृदादीनि प्रसिद्धानि । जलव्याख्यानवच्च
योजना । अर्थान्तरत्वाच्च भूमेर्न दोषः । प्रकृतिविकार्यौश्चात्र यावदुक्तोपा-
दानमेव, क्षीरतक्रयोः पृथग्वचनात् । विषैरका विषमुदकं तत्प्रभवा मत्स्या-
दयः । कौशेयं त्रसरीमयम् । नीली गुलिका वस्त्राद्यनुप्रविष्टा केवला वा ।
लवणमांसादीनि प्रसिद्धानि । एकशफा एकखुरा अश्वादयः । हेतवो वध-

१. 'च' ख. पाठः. २. 'र्थे वे', ३. 'व यु', ४. 'ति ष', ५. 'नो
ब', ६. 'रत्वाच्चात्र' क. ख. पाठः.

साधनानि विषादीनि । शाकानामन्यत्र विक्रयोपदेशादिह नालिकादीन्यभ-
क्ष्याणि प्रत्येतव्यानि । आद्रौषधयस्त्वलूनाः क्षितिस्थाः, परशस्त्राद्युपहतास्तु
न प्रतिषिध्यन्ते । पिण्याकः खलिः । तूलं शल्मल्यादिप्रभवम् । गन्धाः
कर्पूरादयः । तथाशब्दः स्मृत्यन्तरोक्तशाणाद्यर्थः । तिलास्त्ववैश्यवृत्तिस्थे-
नापि धर्मार्थं स्वकृष्याद्युत्पन्ना विक्रेयाः, धान्यान्तरपरिवर्तनेन वा वैश्य-
स्यापि च । अन्यथा तिलविक्रये प्रत्यवायः । तथाचोक्तं —

“भोजनाभ्यक्षणाद् दानाद् योऽन्यत्र कुरुते तिलैः ।

कृमीभूतः स विष्टायां पितृभिः सह मज्जति ॥”

इति । कामं वा स्वंयं कृष्योत्पाद्यं तिलान् विक्रीणीयादिति वैश्य-
स्य ॥ ३६—३९ ॥

अपिच —

लवणं तनया लाक्षा पतनीयानि विक्रये ।

पयो दधि च मद्यं च हीनवर्णकराणि तु ॥ ४० ॥

कथं तर्हि शुनःशेफादिविक्रयः श्रुतेः प्रतिषिद्धत्वादेव पित्रादिनि-
न्दाद्वारेण शुनःशेफस्य प्रशंसार्थं, (?) यद्वा सर्वथाप्यापदि स्वप्राणपरिरक्ष-
णार्थमित्यर्थः ॥ ४० ॥

तदेव स्पष्टयति —

आपद्रतः संप्रगृह्णन् भुञ्जानो वा यतस्ततः ।

न लिप्येतैनसा विप्रो ज्वलनार्कसमो हि सः ॥ ४१ ॥

यथैव ज्वलनश्चण्डालादिगृहेष्वपि वर्तमानोऽर्को वा सर्वत्र साम्येन
वर्तमानो निर्दोषः, एवं ब्राह्मणोऽपि जपादिभिरापद्रतः प्रतिलभ्य शरीरमा-
र्जितदुरितक्षपणसमर्थ इत्यादित्यवदेव यदृच्छाप्रचारित्वमाविरुद्धम् ॥ ४१ ॥

यतश्चेतदेवमतः —

कृषिः शिल्पं भृतिर्विद्या कुसीदं शकटं गिरिः ।

सेवानूपो नृपो भैक्षमापत्तौ जीवनानि तु ॥ ४२ ॥

- १. 'स्वकृ' क. ख पाठः. २. 'स्यापि ॥ ल', ३. 'ण वा छ', ४.
'मान्द्येनापि व' ग. पाठः. ५. 'दिव' ख. पाठः.

कृष्यादीनि यथासम्भवमापदो निस्तरणहेतुत्वेनैकादश जीवनानि ।
एतानि चोदाहरणार्थत्वेन, सर्वथा तु न तदस्ति यदापद्यकर्तव्यमित्यभि-
प्रायः । कृषिः प्रसिद्धा । शिल्पं चित्रकर्मादि । भृतिर्मासादिवृत्त्या पर-
कीयकर्मकरणम् । विद्या मूल्यानाध्यापनम् । कुसीदं प्रायोग्यम् । शकटं
मूल्यान शकटवाहनम् । गिरिः पर्वतः तदीयतृणकाष्ठादिविक्रयैः तदुपजी-
वनम् । सेवा प्रसिद्धा । अनूपो नद्यादिकच्छः तदुत्पन्नशाकादिविक्रयैः तदु-
पजीवनम् । नृपो राजा तत्प्रतिग्रहानुजीवनम् । भैक्षं कृताकृतान्नादिभेदेन
द्विप्रकारम् ॥ ४२ ॥

दुस्तरत्वादेव चापदां —

बुभुक्षितस्त्रयहं स्थित्वा धनमब्राह्मणाद्धरेत् ।

प्रतिगृह्य तदारख्येयमभियुक्तेन धर्मतः ॥ ४३ ॥

स्वरूपपरिमाणाद्यविप्रतिपत्त्येत्यर्थः ॥ ४३ ॥

एवञ्च राजाभियुक्तस्याविप्रतिपत्त्येव —

तस्य वृत्तं कुलं शीलं श्रुतमध्ययनं सुतान् ।

ज्ञात्वा राजा कुटुम्बात् स्वाद् धर्म्या वृत्तिं प्रकल्पयेत् ॥

तस्य वृत्तादीनि व्यस्तसमस्ततया निरूप्य गुणानुसारेणैव राजा
स्वात् स्वकीयाद् धनभाण्डागारादप्यन्यानि परिभाव्य कार्यान्तराणि धर्म्या
वृत्तिं धर्माविरोधिनीं यथा वृत्तानुसारेण दृष्टादृष्टार्थात् स्वकर्मणो न हीयते
तथाभूतां शाश्वतीं वृत्तिं प्रकल्पयेदिति ॥ ४४ ॥

इत्यापद्धर्मप्रकरणम् ।

अथ वानप्रस्थधर्मप्रकरणम् ।

एवं तावदाश्रमद्वयमभिहितम् । इदानीं गृहस्थाश्रममुपभुज्य व-
लीपलितवतो विद्यमानसन्तानस्य विषयविरक्तस्य च क्रमप्राप्तस्तृतीयो वा-
नप्रस्थाश्रम उच्यते । पूर्वं तु वेदानुवचनात्मकाद् ब्रह्मचर्यादनन्तरं 'य-
मिच्छेत् तमावसेदि'त्येवं न्यायागमानुसारेण व्युत्थानपक्षोऽभिहितः । तत्र

१. 'णत्वे' ग. पाठः. २. 'य । से', ३. 'यस्तेनोप', ४. 'ह्याप्य का' ख. पाठः,

समुच्चयपक्षस्त्विदानीमुच्यते । ननुच युक्तं यद्वैराग्यातिशयाद् दाराहरणा-
द्यनपेक्षस्य व्युत्थायाश्रमान्तराङ्गीकरणम् । कृतदारस्य तु कामाकृष्टचेतसो
यावज्जीवश्रुत्यवरुद्धस्य तद्विरोधितया चाप्रमाणीभूतस्मृत्यर्थानुसारिणी
दुःश्लिष्टैवाश्रमान्तरप्रतिपत्तिः । अथ पुनर्वैराग्ययोगादेवेत्युच्यते । तदसत् ।
प्रतिपत्तिकाल एव हि शास्त्रार्थो निरूप्यते, न त्वनुष्ठीयमानप्रयोगमध्ये-
ऽपि । ननुच यथैव कामिनोऽधिकृतस्यापवृत्तकामस्य प्रयोगमध्येऽप्यन-
धिकाराद् व्युत्थानम् । एवमत्रापि स्यात् । अपिच जीवतोऽपि प्रयोग-
पर्यन्त एवाधिकारः । तत्र पौर्णमास्यन्तरे पूर्वप्रारब्धप्रयोगपर्यवसानात्
प्रयोगान्तरे च वैराग्यातिशयादधिकारानवगतेः । मैवम् । युक्तं हि का-
मिनः फलं प्रति साधनभूत एव धात्वर्थेऽधिकारावगमाद् वीतायां च फ-
लेच्छायां तद्व्यावृत्तेः जीवतः पुनर्न विध्यर्थादन्यत्र यागादेः साधनत्वं, न
च नियोज्यत्वव्यावृत्तिः जीवनानपायात्, प्रयुक्तदारत्वाच्च न तद्वतोऽपि
विशेषः पूर्ववदत्र कश्चिच्छक्यते वक्तुम् । प्रयोगभेदाभेदौ त्वधिकारहेत्वन-
पायादकिञ्चित्करावेव । अत्र श्रुतिविरोधात् क्रमेणायुक्त एव वनस्थाश्रमः ।
अत एव च गौतमेन “एकाश्रम्यं त्वाचार्याः प्रत्यक्षविधानाद् गार्हस्थ्यस्ये”-
त्युक्तम् । तत्रान्ये पुरुषमेधान्ते वनस्थाद्याश्रममाहुः, प्रत्यक्षचोदनानुसारात् ।
तथाहि— “अथात्मन्यग्नीन् समारोप्ये”ति प्रकृत्य “अनवेक्षमाणोऽरण्यं
गच्छेद्दि”त्यादि । तदप्यविशेषेणैव वनस्थादिस्मृत्यारम्भादनुपयोगिप्रायमेव ।
जरामर्यवचनं तु लिङ्गाद्, न्यायान्तरापेक्षवचनविध्यनुमानं प्रत्यक्षविधि-
विरोधात् । अतो चक्तव्यमेतत् । अत्राभिधीयते—कामादिभिः प्रयुक्तदाराणां
यावज्जीवश्रुतिरित्येतत् प्रागप्युक्तमेव । अपगतकामत्वे च तदप्रयुक्ता
नैवाग्निहोत्रादिभिर्दाराः प्रयोक्तुं शक्याः । तदभावाच्च कृतदारेषु चरितार्-
थतया यावज्जीवश्रुत्यनधिकृतानां किमित्याश्रमान्तरं न स्यात् । ननु-
चोत्पत्तिं विधयो न प्रयुज्यते । उत्पन्नस्य तु दारादेः स्वोत्पत्तिहेत्वपायेऽपि
स्वरूपानपायात् तदपेक्षत्वेऽप्यधिकारचोदनानामविरोध एव । न हि का-
मापाये दाराणामतथात्वम्, अन्यथानेकपत्नीकस्यैकपत्नीविषयकामापग-
मादपत्नीकत्वप्रसङ्गात् स्मृतिविरोधोऽपि स्यात् । नैव वयमुत्पत्तिनिमि-
तत्वेन कामापायादपत्नी(क)त्वं ब्रूमः । किं तर्हि । स्वीकृतं हि स्त्री द्रव्यम् ।

स्वीकरणहेतुर्विवाहसंस्कारः । स्वीकरणं च द्रव्याणां यावत्कार्यं यावत्स्वरूपं वा स्वीकर्त्रभिप्रायानुसारेण । तत्र यद्यत्यन्तकामाकृष्टचेतनस्तदादावेव यावज्जीवचोदनामालोच्य स्वरूपाश्रयत्वेनैवात्यन्तायोद्वाहकर्मणा स्वीकुर्यात्, ईषत्कामाकृष्टचेतनस्तु यावदर्थम्, आ वलीपलितसम्भवात् सन्तानार्थतया वा पुत्रोत्पत्तेरेव स्वीकरणद्वारत्वादुक्तावध्यन्ततैव । दाराभावाच्चाकृतदारस्येव यावज्जीवश्रुतिरनियोक्त्येव । अतस्तद्विरोधोऽप्यनाशङ्कनीयः । स्वीकरणावधिव्यवस्थायां तु जीवनश्रुतेः कृतदाराधिकारत्वादेवौदासीन्यमित्यविरुद्धा क्रमेणापि चतुःसमुच्चयस्मृतिः । एवञ्च जरामर्थवचनमप्यपेक्षितावधिसमर्पकत्वात् स्मृतिमूलत्वेन सालम्बनं भवति, अन्यथा तु निरालम्बनत्वादनर्थकमेव स्यात् । गौतमीयमपि यावज्जीवपक्षाङ्गीकरणेनैव “ऐकाश्रम्यं त्वाचार्या” इति व्याख्येयम् । प्रत्यक्षेणैव कामेनात्मसात्कृतदारान् प्रति तथैव विधानाद् गार्हस्थ्यस्येत्याभिप्रायः । एवञ्चावधिपर्यवसानाद् दाराभाव एव । अतश्चास्मिन् पक्षे पुत्रादिषु तत्पालकत्वेनाधिकृतेषु स्वभार्याङ्गीकरणप्रवर्तिकेति विषयभेदेन विकल्पसम्भवाद् अविशेषेणैव हि यावज्जीवश्रुतिः । पुरुषमेधयाजिनश्चेच्छयारण्यगमनोपदेशादुभयोश्च प्रत्यक्षत्वाद् विषयव्यवस्थाश्रयणमविरुद्धम् । सपत्नीकस्य तु वैखानसत्वं यायावरादिकल्पवच्छ्रुत्यविरुद्धमेव । अतश्चास्मिन् पक्षे साग्निकस्यैवारण्याश्रयणं, न श्रामणकानुसारेणाग्न्याधानम् । यावज्जीवपक्षाङ्गीकरणे तु जरादिसंयोगाद् भार्यामरणे वापवृत्तकामस्य च तदसम्भवे किं व्रतस्थाधिकारोऽस्तीति, उत्सन्नामिलाषस्य तावद् दाराद्याहरणहेत्वभावादस्त्येव, इतरस्य तु विचार्यम् । अपर आह — उद्वाहकाल एव हि येनैव निरूपितं मयाश्रमान्तरमप्यास्थेयमिति तस्य तदवधिक एव हि दारसंयोग इति तदनुसारी च जीवनाधिकारोऽपि तदैवापमृज्यते । येन त्वादावेवामरणान्तः पत्नीसंयोगोऽवधृतः, तदनुसारेण चामरणादेवाग्निहोत्राद्यधिकारः । तस्योत्सन्नामिलाषित्वेऽपि च सङ्कल्पानपगमाज्जीवनश्रुत्यवरुद्धस्य कुतस्तदाश्रयान्तरप्रतिपत्तिरिति । तथाच स्मरन्ति —

“पुनर्दारक्रियां कुर्यात् पुनराधानमेव च”

१. ‘रास्थे’, २. ‘व दा’, ३. ‘ज्येत, ये’, ४. ‘द्व’ क पाठः, ५. ‘सम्बन्ध इति’ ग. पाठः.

इति । तदेतद् विचार्यम् । सर्वथाश्रमसमुच्चयोऽस्तीति नः पक्षः, स चैव-
मर्प्युपपन्नः, पूर्वोक्त एव तु ज्यायान् इति सम्प्रदायः । पुनर्द्वारक्रियामि-
त्येतत्त्वप्रवृत्ताश्रमान्तरविषयमेवेत्येषा दिक् ।

उभयथापि च वनस्थाश्रमप्रवृत्तिमव्याहृतां मन्यमानः प्रस्तौति —

सुतविन्यस्तपत्नीकस्तया वानुगतो वने ।

वानप्रस्थो ब्रह्मचारी साग्निः सौपासनः क्षमी ॥ ४५ ॥

स्यादिति शेषः । तपो वेदविदां शुद्धिसाधनं क्षान्तिर्विदुषामिति
तदिदानीं प्रपञ्चयति । वानप्रस्थ इति विशेषाश्रमिणो नामधेयम् । स
कदाचित् पूर्वोक्तन्यायानुसारेण सहैव पत्न्या वनं गच्छेद्, विन्यस्य वा
सुतादिषु पत्नीम् । यदा च सपत्नीकस्तदा तयानुगतोऽपि वने वसन्
ब्रह्मचार्येव स्यादित्यभिप्रायः । पक्षान्तरे तु सामर्थ्यप्राप्तत्वादवाच्यमे-
वैतत् । साग्निरिति वैतानिकाभिप्रायम् । सौपासन आवसथ्ययुक्तः । ग-
तार्थमन्यत् ॥ ४५ ॥

अयं चास्य विशेषः —

अफालकृष्टेनाग्नींश्च पितृन् देवातिथींस्तथा ।

भृत्यांश्च तर्पयेच्छश्चच्छमश्रुलोमभृदात्मवान् ॥ ४६ ॥

साग्निकगमनपक्षेऽग्निहोत्रादिसाधनत्वेनाफालकृष्टविधानम् । पक्षा-
न्तरे तु वैखानसशास्त्रोक्तस्यैवमादेः प्रदर्शनार्थं उपन्यासः । तथाशब्दश्च
पक्षद्वयेऽपि तच्छास्त्रानुसारेण दीक्षादिविशेषप्रकारपरिग्रहार्थः । स्पष्ट-
मन्यत् ॥ ४६ ॥

अतिथिपूजायर्थमेव च —

अहो मासस्य षण्णां वा तथा संवत्सरस्य वा ।

अर्थस्य निचयं कुर्यात् कृतमाश्वयुजे त्यजेत् ॥ ४७ ॥

तथाशब्दः संवत्सरादर्वागनियमार्थम् ॥ ४७ ॥

१. 'प्यविरुद्धः', पू. ग. पाठः. २. 'त्र', ३. 'ज्ञप्राप्तस्यै', ४. 'क्षावि' क. पाठः.

किञ्च —

दान्तस्त्रिषवणक्षायी निवृत्तश्च प्रतिग्रहात् ।

अप्रत्याख्येयतया विहितादपीत्यभिप्रायः ॥

सर्वदैव च —

स्वाध्यायवान् दानशीलः सर्वसत्त्वहिते रतः ॥ ४८ ॥

आत्मभरणाय तु —

दन्तोलूखलिकः कालपकाशी वाश्मकुट्टकः ।

श्रौतस्मार्तं फलस्नेहैः कर्म कुर्यात् क्रियास्तथा ॥ ४९ ॥

दन्तैरेवोलूखलार्थं संपादयिता दन्तोलूखलिकः । सतुषान्नभोजन इत्यर्थः । अश्मकुट्टको वा स्याद् अश्मना संस्कृत्य वितुषं भक्षयित्वा इत्यर्थः । शक्त्यपेक्षया चैवमादयः सर्व एव विकल्पा योज्याः । कालपकाशितावचनम् अनग्निपक्वार्थम् । नित्यत्वेनैवाप्रतिषिद्धाक्षादिफलस्नेहैस्त्वाज्यसाध्यं श्रौतस्मार्तादिकं कर्म कुर्यात् । क्रियाश्च वनस्थशास्त्रविहिताः । तथा तदुक्तप्रकारेणैवेत्यर्थः ॥ ४९ ॥

स्वशक्त्यनुसारेणैव च —

चान्द्रायणैर्नयेत् कालं कृच्छ्रैर्वा वर्तयेत् सदा ।

पक्षे गते वाप्यश्रीयात् मासे वाहनि वा गते ॥ ५० ॥

पुनर्गते इति वचनमुक्तकालव्यतिरेकेणापि यथासामर्थ्यं विकल्पार्थम् । स्पष्टमन्यत् ॥ ५० ॥

निर्लं चाप्रमादित्वेन —

शुचिर्भूमौ स्वपेद् रात्रौ दिवसं प्रपदैर्नयेत् ।

स्थानासनविहारैर्वा योगाभ्यासेन वा पुनः ॥ ५१ ॥

रात्राविति दिवानिवृत्यर्थम् । प्रपदैरिति अग्नोच्छ्रितपाद इत्यर्थः ।
स्थानादीनि स्पष्टानि । योगाभ्यासो वक्ष्यमाणः । पुनरिति प्रपदादिभिः ।
पुनः पुनर्विश्रम्येत्यर्थः ॥ ५१ ॥

यथासामर्थ्यं च —

ग्रीष्मे पञ्चाग्निमध्यस्थो वर्षासु स्थण्डिलेशयः ।
आर्द्रवासाश्च हेमन्ते शक्या वापि तपश्चरेत् ॥ ५२ ॥

स्थण्डिलवचनमावरणनिवृत्यर्थम् । ऋज्वन्यत् ॥ ५२ ॥

सर्वप्रकारस्य वनस्थस्यायमेवाश्रमसर्वस्वभूतः परमो धर्मः —

यः कण्टकैर्वितुदति चन्दनैर्यश्च लिम्पति ।
अक्रुद्धोऽपरितुष्टश्च समस्तस्य च तस्य च ॥ ५३ ॥
वितुदति विविधं कण्टकादिभिर्व्यथयतीत्यर्थः । एवमुक्तप्रकारेणैव
वनस्थाश्रमं पालयेत् ॥ ५३ ॥

अग्नीन् वाप्यात्मसात् कृत्वा वृक्षावासी मिताशनः ।
वानप्रस्थगृहेष्वेव यात्रार्थं भैक्षमाचरेत् ॥ ५४ ॥

सपत्नीकस्य च पत्नीमरणे पत्न्या एवार्त्सार्धभूताया अग्निभिर्यो
दाहः तदेवात्मसमारोपणम् अन्यस्य तु प्रवृत्ताश्रमस्याशक्तौ वा वैराग्या-
तिशये वायं विधिः । अनेनैव वादित एव प्रवृत्तिरित्यवसेयम् ॥ ५४ ॥

वानप्रस्थान्तराभावे तु —

ग्रामादाहृत्य वा ग्रासान्ष्टौ भुञ्जीत वाग्यतः ।

आहृत्येति भिक्षाकालव्यतिरेकेण ग्रामप्रवेशनिवृत्यर्थम् । वाग्यत
इति ग्रामजनैरसंभाषणार्थम् । भोजने तु वाग्यमनस्य प्राप्तत्वादवाच्यम् ॥

वैराग्यातिशये हानातिशये वा —

वाय्वशनः प्रागुदीचीं गच्छेद् वा वर्षसंक्षयात् ॥ ५५ ॥

१. 'द्वयो व', २. 'णाः' ग. पाठः. ३. 'मा' ख. पाठः. ४. 'म्य वि-
श्रम्येत्य', ५. 'रं वन', ६. 'वार्ध' ग. पाठः.

वाय्वशनो निरशन इत्यर्थः । आ वर्षसंक्षयादिति । वर्षं शरी-
रम् आ शरीरसंक्षयादित्यर्थः । आश्रमसंबन्धिफलविशेषानुपदेशाद् दुष्कर-
त्वाच्चायमाश्रमो नैयमिक इत्यवगम्यते । योगाभ्यासोपदेशाच्चापवर्गसाधन-
त्वात् कैवल्यप्राप्तिसौधनम् । तथाचाम्नायः — “सर्व एते पुण्यलोका
भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति” इति ॥ ५५ ॥

इति वानप्रस्थधर्मप्रकरणम् ।

अथ यतिधर्मप्रकरणम् ।

एवं यथोक्तविध्यर्थानुष्ठानात् प्रतिषिद्धार्थोपेक्षणाच्चोत्पन्नवैराग्यतया सञ्जातसम्यग्नि-
ज्ञानः परं ब्रह्मापिपयिषुः निरस्ताखिलसांसारिकसुखास्वादाभिलाषः स्वरुचिवैकल्पिकत्वेन —

गृहाद् वनाद् वा कृत्वेष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् ।

प्राजापत्यां तदन्ते तानग्नीनारोप्य चात्मनि ॥ ५६ ॥

अधीतवेदो जपकृत् पुत्रवानन्नदोऽग्निमान् ।

शक्त्या च यज्ञकृन्मोक्षे मनः कुर्यात् नान्यथा ॥ ५७ ॥

प्राजापत्येष्टिस्वरूपं समारोपणप्रकारश्च संन्यासविधानशास्त्रादेवाव-
सेयम् । मोक्षे मनः कुर्यात् चतुर्थमाश्रममाश्रयेदित्यर्थः । तुशब्दोऽधीतवे-
दादिक्रमेणैवेत्यवधारणार्थः । नान्यथेति तु सामर्थ्यप्राप्तत्वात् प्रशंसार्थो
नित्यानुवादः । तथाच स्वार्थमुच्यते —

“अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्साद्य तथात्मजान् ।

अनिष्टा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः ॥”

इति । नन्वनधीतवेदस्य कामं मा भूत् पारिव्राज्यं, पुत्राद्यभावे तु को वि-
रोधः । उक्तमेतद् — ‘रागिणामेव गार्हस्थ्यमि’ति । तद्यदि कृतदारोऽपि
पुत्राद्युत्पत्तावप्रयत्यैव पारिव्राज्यमाश्रयेत् ततश्चोदनार्थातिक्रमान्मोक्षमि-
च्छन् व्रजत्यध इति युक्तमेव । वीतरागविषयतया तु “यमिच्छेत् तमा-
वसेदि”त्युक्तमेव । स्पष्टमन्यत् ॥ ५६, ५७ ॥

१. ‘नोऽनश्रमिषः’, २. ‘ति । शरीरसं’ ग. पाठः. ३. ‘कारणम्’
४. ‘द्व’ क. पाठः. ५. ‘तश्च चोद’ ग. पाठः.

सर्वभूतहितः शान्तस्त्रिदण्डा सकमण्डलुः ।

एकारामः परिव्रज्य भैक्षार्थं ग्राममाश्रयेत् ॥ ५८ ॥

सर्वभूतेऽपकारिभ्योऽपि भूतेभ्योऽनभिद्रोहेण हितः सर्वभूतहितः । यद्वा आत्माभेददर्शनेन सर्वभूतः सर्वात्मभावज्ञानभिद्रोहा भवत्येव । हितः शान्त इति विशेषणविशेष्यत्वं, भवत्यशागतो व्यभिचारादिना हितः सांख्यादियोगानुसारेणाहितोऽपि शान्तः तद्वचवच्छेदार्थं हितः शान्त इति । यद्वा हितो हिंसानारम्भकः शान्तोऽनुग्रहानारम्भकः । तथाच गौतमः — “हिंसानुग्रहयोरनारम्भा”ति । त्रिदण्डी मनोवाक्कायदण्डाभिप्रायेण “वाग्दण्डोऽथ मनोदण्ड” इत्यादि । त्रिदण्डसंयोगेनैव कमण्डल्व्वादेसंबन्ध इति गम्यते । एक एवारमते यस्वात्मरतित्वेन, स एकारामः । एवं ग्रामार्दुच्छिन्नाभिलाषः परिव्रज्यारण्यनित्यो भूत्वौ भिक्षार्थमेव ग्राममाश्रयेद् नान्यदा ग्रामे मुहूर्तमातिष्ठेदित्यभिप्रायः ॥ ५८ ॥

भैक्षार्थमपि च ग्रामं प्रवेश्य समाहितमनाः —

अप्रमत्तश्चरेद् भैक्षं सायाह्नेऽनुपलक्षितः ।

रहिते भिक्षुकैर्ग्रामे यात्रामात्रमलोलुपः ॥ ५९ ॥

स्थ्यादिसन्दर्शनादत्यन्तजितेन्द्रियत्वेऽपि प्रमादो मा भूदित्यप्रमत्तश्चरेत् । भैक्षं भिक्षाणां समूहो भैक्षम् । ततश्चैकान्ननिवृत्तिः । सायाह्नेऽपराह्णः, तस्मिन् । अनुपलक्षितः भिक्षालाभनिमित्तेन पाण्डित्यादिनात्मानमग्रख्यापयन्नित्यर्थः । अपराह्णेऽपि च यदा सर्वभिक्षुकैर्ग्रामो रहितस्तदा । यात्रामात्रं शरीरधारणमात्रार्थम् । अलोलुपः अलम्पटः । यद्वा द्विविधपरिव्राजकाभिप्रायं भिक्षाटनद्वैविध्यमत्रोच्यते । तत्राप्रमत्तश्चरोदित्यनेनैकान्नप्रतिषेधेन त्रिदण्डाद्युपलक्षितस्य भैक्षोपदेशः । इतरेण त्रिदण्डाद्यनुपलक्षितस्य ज्ञानभिक्षोर्यात्रामात्रमेकान्नोपदेशः । तेनैव च रहिते सोपलक्षणभिक्षुकैर्ग्राम इति कालान्तरोपदेशः । तथाच गौतमः “भिक्षार्थी ग्राममियाज्जघन्यमनिवृत्तं चरेदि”त्येकान्नाभिप्रायेणैवाह । अन्यथा तु भैक्षार्थीत्येवावश्यम् ।

१. ‘ति तु वि’ क. पाठः. २. ‘ति त्रि’ ग. पाठः. ३. ‘द्वसं’, ४. ‘यु’ क. पाठः. ५. ‘त्वा भिक्षाप्रयोजनं भि’ ग. पाठः. ६. ‘परिव्राज्याभि’, ७. ‘त्रेण भि’, क. पाठः.

जघन्यमिति च भिक्षुकान्तरापेक्षयैव कालवचनम् । यत्तु संवर्तोक्तम् —

“अद्यै भिक्षाः समादाय प्रक्षाल्य निशै वाग्यतः”

इति, तत्सोपलक्षणविषयम् । इतरस्य रजेकभिक्षणमेव । तथाच श्रुतिः —

“अथान्यः परित्राडेकशाटीपरिहितो मुण्ड उदरपात्र्यरण्यनित्यो भिक्षार्थी”
इति । अनेनेतदेव स्पष्टीकरोति ॥ ५९ ॥

यथायोगं व्यवस्थया तु —

यतिपात्राणि मृद्रेणुदावलाबुमयानि च ।

सलिलं शुद्धिरेतेषां गोवालैश्चावर्धणम् ॥ ६० ॥

मृन्मयादीनि यतिपात्राणि भिक्षार्थं भोजनार्थं च । चशब्दः पत्रपु-
टाद्यर्थः । स्पष्टमन्यत् ॥ ६० ॥

एवञ्च नित्यमुत्पन्नधैराग्न्यः पूर्वोक्तक्रमेण वा पारिव्राज्यमास्थाय ततः—

सन्निरुध्येन्द्रियग्रामं रागद्वेषौ प्रहाय च ।

भयं हित्वा च भूतानाममृतीभवति द्विजः ॥ ६१ ॥

परब्रह्मप्राप्तिरमृतीभावः । द्विजग्रहणं ब्राह्मणार्थं, तेषामेव संन्यासो-
पदेशात् । ऋज्वन्यत् ॥ ६१ ॥

किञ्च —

कर्तव्याशयशुद्धिस्तु भिक्षुकेण विशेषतः ।

ज्ञानोत्पत्तिनिमित्तत्वात् स्वातन्त्र्यकरणाय च ॥ ६२ ॥

आशयः शरीरं तच्छुद्धिः पवनजयादिना कर्तव्या ज्ञानभिक्षुणापि,
विशेषतस्त्वितरेण भिक्षुकेण । सोपलक्षणपरिव्राजकेनेति यावत् । ज्ञानोत्प-
त्तिनिमित्तत्वाद् विशुद्धाशयस्यैव हि ज्ञानोत्पत्तिरित्यभिप्रायः । स्वातन्त्र्यक-
रणाय च परकायप्रवेशादिसिद्धयर्थम् ॥ ६२ ॥

“ अथ किमाशयशुद्ध्यादिना स्वातन्त्र्यकरणमेवात्र परमार्थः । नेत्युच्यते । स्वातन्त्र्यस्या-
हिरण्यगर्भलोका^१कमात्रजयहेतोः क्षयिष्णुतया च संसारहेतुत्वाद् दुःखरूपतैव । अतो निरति-
शयानन्दावाप्त्यर्थं स्वातन्त्र्यकरणमात्रपरितोषिणा न भवितव्यम् । किं तर्हि —

अवेक्ष्यो गर्भवासश्च कर्मजा गतयस्तथा ।

आधयो व्याधयश्चैव जरा रूपविपर्ययः ॥ ६३ ॥

भवो जातिसहस्रेषु प्रियः प्रियविपर्ययः ।

ध्यानयोगेन सन्दृश्यः सूक्ष्म आत्मात्मनि स्थितः ॥

गर्भवासादयो ह्याहिरण्यगर्भव्यापिनः क्लेशाः, तांश्चावेक्ष्य तत्स्वरूपा-
लोचनौद् विरक्तो व्युत्थाय ध्यानयोगेन वक्ष्यमाणप्रकारेण सूक्ष्मः परमात्मा
विज्ञानात्मन्येवाव्यतिरेकेणावस्थितः सम्यग् द्रष्टव्यः । सर्वमेव हि कर्मका-
ण्डमसारतया मन्तव्यमित्यभिप्रायः । स्पष्टमन्यत् ॥ ६३, ६४ ॥

यत्तच्चैतदेवम्, अतः —

नाश्रमः कारणं धर्मे क्रियमाणो भवेद्धि सः ।

कर्मपक्षान्तर्गतेराश्रमपरिग्रहोऽप्यसार इत्यभिप्रायैः ।

अतो यदात्मनोऽपथ्यं परस्य न तदाचरेत् ॥ ६५ ॥

परस्य प्रकृष्टस्याद्वैतस्य परमात्मनो यदपथ्यं संसारकारणं कर्मादि न
तदाचरेत् । ध्यानयोगेनैव तु नित्यं परमात्मनो निदिध्यासनं कुर्यादित्यर्थः ।
नन्वेवं सति यदृच्छाप्रचारितैव प्राप्नोति, कर्मणोऽनङ्गीकरणात् । मैवम् ।
परलोकार्थतया हि कर्मणोऽनङ्गीकरणं, क्रियमाणं हि कर्म परलोकारम्भकं
मा भूदिति विहितस्याननुष्ठानम् । निषिद्धं पुनरनुष्ठीयमानमेव परलोकार-
म्भकमिति तत्परिजिहीर्षया निषिद्धेषु यथानिषेधमेव वर्तितव्यम् ॥ ६५ ॥

एवञ्चेत् कर्मसंन्यासिनामपि प्रतिषिद्धार्थवर्जनमाविरुद्धं मन्यमान आह —

सत्यमस्तेयमक्रोधो ह्रीः शौचं धीर्धृतिर्दमः ।

संयतेन्द्रियता विद्या धर्मः सार्व उदाहृतः ॥ ६६ ॥

१. 'जयमात्रहे' क. पाठः. २. 'न्दप्राप्त्य' ग. पाठः. ३. 'नया व्यु' क. पाठः.
४. 'मादिप' ग. पाठः. ५. 'यः । स्पष्टमन्यत् ।', ६. 'तु प' क. पाठः.

विधिस्वरूपत्वेऽपि च सत्यादीनामनृतवर्जनादिरूपतया प्रतिषिद्ध-
पक्षीयत्वमेवेत्यविरोधः । हीलज्जा । वर्जनीयतया च तदुपन्यासः पुनराज-
ननाभिप्रायेण वा कर्तव्यतायामप्यविरोधः । महत्येवेयं विदुषो लज्जा
यत्पारतन्त्र्येण गर्भवासादेकेशवज्जन्मसंगातिः । शौचं तु त्रिविधमप्यप-
वर्गानुगुण्यात् कर्तव्यतयैवोपादिश्यते । धीः प्रज्ञा । धृतिर्धारणा । दमो द्वन्द्व-
सहिष्णुता । संयतेन्द्रियता स्पष्टैव, रूपादिप्रपञ्चोपरतिध्यानं वा । विद्या
ब्रह्मणः साक्षात्करणम् । सर्वं चैतत् सत्यादि तदङ्गतयोपादिश्यमानं कर्म-
संन्यासिनामप्यविरुद्धमित्यभिप्रेत्याह —अयं सत्यादिको धर्मः सार्व उदा-
हृत इति । सर्वेषामयं सार्वः । उदाहृत इत्युदाहरणार्थमेतत् । अन्यद्रपि
मिक्षाटनादि सर्वविषयमविरुद्धमित्यवसेयम् । अतश्च परमहंसानामपि न
कामचारतैत्त्वभिप्रायः । अतः सूक्तः सोपलक्षणादिभेदेन परिव्राजकाश्रमः ।
अत्र केचिदिमं पारिव्राज्यप्रकारभेदमन्यसूयन्तः सोपलक्षणमेव पारिव्राज्यं
मन्यन्ते । तथाचोक्तं दक्षेण —

“यस्यैतल्लक्षणं नास्ति प्रायश्चित्ती न चाश्रमी ।”

इति । वसिष्ठेनापि—“परिव्राजकः सर्वभूताभयदक्षिणां दत्त्वा प्रतिष्ठेते”त्यु-
पक्रम्य तद्धर्मकलापमभिधायोपसंहृतं “यज्ञोपवीत्युदकमण्डलुहस्तः शुचि-
र्ब्राह्मणो वृषलान्नवर्जी न हीयते ब्रह्मलोकादि”ति । त्रिदण्डसंयोगेनैव
कमण्डलवादिसंगैतिरित्युक्तमेव । अतोऽनुपलक्षणः परिव्राडिति दुर्भणम् ।
मिक्षाटनश्लोकस्त्वन्यथैव व्याख्यातः । प्रसिद्धस्वायंभुवादिशास्त्रव्यतिरि-
क्तानि तु स्मृत्यन्तराण्यस्पष्टमूलत्वादेवैतद्विरोधेऽनादृत्यान्येव । किञ्चेद्वापि
शौचस्य सर्वधर्मत्वं, यज्ञोपवीतं च शौचाङ्गम्, अतस्तेनापि सर्वार्थेनैव भा-
व्यम् । एवञ्चेत् कथं तदभावः परिव्राजकस्याशङ्क्येत । अतोऽप्ययुक्त-
तैव । समाचारविरोधश्च स्थित एवेत्येषा दिक् । अत्राभिधीयते—अपव-
र्गार्थं हि पारिव्राज्यं ज्ञानैकसाधनम् । न तत्र कर्मणा प्रयोजनमित्युक्तमेव ।
यच्च वाचनिकत्वेन त्रिदण्डादिधारणं, तदप्याद्यपारिव्राज्यविषयमेव । इत-
रस्य त्वाश्रमनियमानङ्गीकरणं कर्मपक्षीयत्वेन । उक्तं च—‘नाश्रमः कारणं

१. ‘प्याडु’, २. ‘व च क’, ३. ‘योग इत्यु’ क. पाठः. ४. ‘नापि भा’
ग. पाठः. ५. ‘भैवैतत् । वि’ क. पाठः.

धर्मे” इति । यत्तु वासिष्ठं “यज्ञोपवीत्युदकमण्डलुहस्त” इति, तदप्यकर्म-
संन्यासिविषयमेव । कथमवगम्यते, “मुण्डोऽममोऽपरिग्रह” इत्युपक्रम्य ततः
कल्पान्तरत्वेन “ब्राह्मणकुले वा यल्लभेत तद् भुञ्जीत” इति विशेषानुक्रम-
णाद्, आदेतश्च ‘मुण्डोऽममोऽपरिग्रह’ इत्यनेन कर्मसंन्यासिनामाखिलय-
ज्ञोपवीतादिपरिग्रहप्रतिषेधात् । अत एव चेत्यर्थं पुनर्यज्ञोपवीतादिप्रति-
प्रसवः । अन्यथा त्वविरोधितयैव प्राप्तत्वात् तद्वचनमसमञ्जसं स्यात् ।
न चाविशेषेण प्रतिप्रसव इत्याशङ्कनीयं, क्रमभेदेनोपन्यासात् । अन्यथा
हि ‘एकशटीपरिहितोऽजिनेन वे’ति वासः प्रातेप्रसवानन्तरमेतदप्युक्तमभवि-
ष्यत् । प्रकारभेदे त्वविरोधः । वाशब्दस्य च व्यवस्थयैवोपपन्नत्वादन्या-
व्यविकल्पना न स्यात् । स्मृत्यन्तरे तु विस्पष्टैव व्यवस्थाश्रमाणां — “अ-
थान्यः परित्रोडेकशटीपरिहितो मुण्ड उदरपात्ररण्यनित्योऽशक्तौ भिक्षा-
र्थी ग्रामं प्रविशेत् सुसायं प्रदक्षिणेनैविचिकेत्सन् सार्ववर्णिकं भिक्षाचरण-
मभिशस्तपतितवर्जमयज्ञोपवीती शौचनिष्ठः काममेकं वैणवं दण्डमाददीत”
इत्यादि । आम्नायश्च “व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ती”ति समस्तैषणाप्राते-
षेधेन कर्मव्युत्थानं दर्शयति । तथाच “बाल्यं पाण्डेयं च निर्विद्यथ मुनि-
रि”त्युक्त्वा “ततो व्युत्थाय मौनं चामौनं च निर्विद्येते”त्यमौनमाश्रमान्त-
रविहितं तद्विहितं मौनम् उभयमप्यपास्य ज्ञानैकनिष्ठोऽनन्तरमथ ब्राह्मणः
परमहंसः स्यादित्यभिप्रायः । तथाचाश्रमानवकल्लोते दर्शयति — “स
ब्राह्मणः केन स्याद् येन स्यात् तेनेदं एव भवती”ति । नात्राश्रमानियमव्य-
पदेशः, कर्मपक्षीयत्वादाश्रमविधानस्य । अन्यथा च विरोधादसमञ्जसतैव
स्यात् । अतः सूक्तं “नाश्रमः कारणं धर्म” इत्यादि । यत्तु शौचाङ्गतया
यज्ञोपवीतप्राप्तिरिति, तद्विद्यमानोपवीतविषयतयैवावसेयम् । तदभावेऽपि
स्न्यादीनां शौचाविधातात् । यथाचोपवीताद्यप्राप्तिस्तथोक्तमेव । अतश्चै-
वमादयोऽपि निन्दार्थवादा विद्यमानविषयतयैव द्रष्टव्याः —

१. ‘लेन वा’, २. ‘वेत’, ३. ‘णैव प्र’, ४. ‘नेते’ ग. पाठः. ५.
‘ब्राजक एक’ क. पाठः. ६. ‘न चावि’, ७. ‘यैमभि’, ८. ‘तोऽपि व्यु’ क. पाठः,
९. ‘णप’ ग. पाठः. १०. ‘दपि वि’, ११. ‘व.वा द’ ख. पाठः.

“विना यज्ञोपवीतेन मुक्तकक्ष्यशिखोऽपि वा ।

अकृत्वा पादशौचं च नाचान्तोऽपि विशुध्यति ॥”

इति । अन्यथा विशिखस्य ब्रह्मचारिणोऽप्यशुद्धेप्रसङ्गः । तस्माद् विद्यमानानामेवोपवीतादीनां शौचाङ्गत्वादनवद्यम् । अनया दिशा सर्ववाक्यानि योजनीयानि । स्मृत्यन्तरेभ्यश्च विष्ण्वादिभ्यो विशेषतश्चतुर्विधः पारिव्राज्यप्रकारभेदोऽभ्युपगन्तव्यः । एवं तावन्मोक्षार्थत्वेन पारिव्राज्यमुक्तम् । इदमिदानीं चिन्त्यते — कुतः पुनरात्मनो बद्धस्य मोक्षोपदेशोऽयम् । यदि तावत् स्वाभाविको बन्धः, तैतस्तदुच्छेदानुपपत्तेर्दुर्लभतैव । अथ हेत्वन्तरात्, तदपि शुद्धत्वाद् ब्रह्मणोऽनुपपन्नमेव । किञ्च यदि शुद्धस्याप्यागन्तुको बन्धहेतुः स्यात्, ततो मोक्षप्रयत्नानर्थक्यमेव स्याद्, मुक्तस्यापि तत्सम्भवात् । सत्यं, यदि हेत्वभ्युपगमः स्यात् । तत्त्वाग्रहणात्मकत्वेनाविद्योत्थत्वात् प्रपञ्चस्यैवमादिचोद्यानवकाश एव । न चात्मनो व्यतिरिक्तं वस्त्वन्तरं प्रमाणावगम्यं, यद् बन्धहेतुतयोच्येत । आत्मनैव त्वात्मनोऽनुपपन्न एव बन्धादिव्यवहारः । भवते त्वज्ञानादेकस्मिन्नप्यग्रहणानिमित्तश्चन्द्र इव द्वित्वप्रतिभासः । तत्त्वेन ब्रह्मणो नान्यद् वस्त्वन्तरमस्तीति ब्रह्मविदां स्थितिः । कथं तर्हि विज्ञानात्मनां नानेवोपलब्धिः, अज्ञाननिमित्तैव सेत्युक्तम् ॥ ६६ ॥

इममेवार्थं योगेन्द्रः प्रपञ्चयन्नाह —

निश्चरन्ति यथा लोहपिण्डात् तप्तात् स्फुलिङ्गकाः ।

सकाशादात्मनः सर्व आत्मानोऽपि तथैव हि ॥ ६७ ॥

नन्वेवं परमात्मोपादानत्वं विज्ञानात्मनामुक्तं स्वाभाविकत्वेन । यथैवाग्निवर्णात् तप्तलोहपिण्डाद् विस्फुलिङ्गाः स्वभावादेव निमित्तान्तरानपेक्षा निश्चरन्ति, एवं परमात्मनः सकाशाद् विज्ञानात्मानोऽपीत्यस्यार्थः । मैवम्, उपादानपक्षस्य प्रत्युक्तत्वात् । कस्तर्ह्यस्यार्थः, अभिन्नस्यापि ब्रह्मणो-

ऽयमविद्योत्थः प्रपञ्च इति । यथानित्येनाभिन्नस्यापि तदग्रहणात् पिण्डाद् विष्फुलिङ्गतया भेद उपादानोपादेयत्वं च प्रतिभासते, एवमेवाभिन्नस्यापि परमात्मनो विज्ञानात्मानोऽभिन्नास्तदुपादानाश्च तत्त्वाग्रहणात् प्रतिभासन्त इत्यनवद्यम् । एवमपि यथा द्वैताश्रया धर्माधर्मादिव्यवस्थोपपद्यते कर्मकाण्डाविरोधित्वं च, तथोपरिष्ठाद् वक्ष्यामः ॥ ६७ ॥

एवं तावदवच्छिन्नोऽविद्यया विज्ञानात्मानेकदुःखहेतौ संसारे यथा परिवर्तते, तथा प्रपञ्चयति—

**तत्रात्मा हि स्वयं किञ्चित् कर्म किञ्चित् स्वभावतः ।
करोति किञ्चिदभ्यासाद् धर्माधर्मभवात्मकम् ॥ ६८ ॥**

तत्र अस्मिन् द्वैतप्रपञ्चेऽवस्थितो विज्ञानात्मा स्वयमेव किञ्चित् कर्म करोति यथा विहितानुष्ठानं, किञ्चित् स्वभावतो जातमात्र एव स्तनपानादि, किञ्चिदभ्यासाद् व्युत्थायारण्यवासादि । धर्माधर्मभवात्मकं स्तनपानादि धर्माधर्मव्यतिरिक्तं भवात्मकम् । अथवा धर्माधर्माभ्यां निमित्तभूताभ्यां संसारबीजत्वेन भवात्मकमिति योज्यम् । धर्माधर्मयोरप्यविद्यान्तर्गतत्वाद् भ्रान्त्यैव संसारबीजत्वं निस्सङ्गत्वाद् ब्रह्मणोऽवसेयम् । कथं पुनर्निस्सङ्गं ब्रह्मेत्यवगच्छामः, अजातत्वाद् ब्रह्मणः । ननु जायत एवात्मा, नहि, प्रागपि जन्मनो विद्यमानत्वात् ॥ ६८ ॥

कथं तर्हि जातव्यपदेशः कथं वा प्रागजन्मनो भावः । उच्यते—

निमित्तमक्षरं कर्ता बोद्धा ब्रह्म गुणी वशी ।

अजः शरीरग्रहणात् स जात इति कीर्त्यते ॥ ६९ ॥

किमिदं शरीरग्रहणादिति, शरीरतया व्यतिरेकावगमादित्यर्थः । व्यतिरेकावगमनिमित्तत्वेन चाक्षरत्वेऽपि ब्रह्मणः कर्तृत्वाद्युपपत्तिः, बोद्धृतया च सम्यग्ज्ञानोत्पत्त्या परप्राप्त्या ब्रह्मत्वं, विपर्ययाच्च रागेद्वेषादिभिर्गुणैर्वशकृतस्याप्यनुच्छिन्न एव जन्मसंबन्धः । ततश्चाज्ञानतः शरीरग्रहणैवाजात इत्युपपन्नम् ॥ ६९ ॥

इदानीमज्ञानातिरेकाच्छरीरग्रहणं प्रपञ्चयति—

सर्गादौ स यथाकाशं वायुं ज्योतिर्जलं महीम् ।

सृजत्येकोत्तरगुणांस्तथादत्तेऽभवन्नपि ॥ ६० ॥

यथैव हि भगवान् प्रजापतिर्महाप्रलयोत्तरकालमादिसर्गे प्रजाः सि-
सृक्षुर्महाभूतान्याकाशादीनि पृथिव्यन्तानि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धैरेकद्वित्रिच-
तुष्पञ्चगुणयुक्तानि जगन्निर्वृत्यर्थं सृजति एवमेवायं प्रतिजन्मधर्माद्यनुगृहीतः
स्वयमेवादत्ते । अभवन्नपि अनुत्पद्यमानोऽपि शरीरनिर्वृत्यर्थमित्यर्थः । ननुच
महाप्रलयसर्जने नैव पण्डितैरिष्येते स्रष्टुरनुपस्थानादिदोषप्रसङ्गादिति वद-
द्भिः । पारमार्थिकत्वे सत्येवमादिचोद्यप्रसङ्गोऽपि स्यात् । अज्ञानलक्षणे तु प्रप-
ञ्चविलासेऽनुपपत्तिचोद्यं चाचोद्यमेव । यदि च स्वरूपेऽप्यागमः प्रमाणं, तदा-
नन्यपरागमप्रतिपन्नेऽर्थे प्रमाणान्तरविरोधाभिधानमयुक्तमेव । यद्वा परमत-
निरासायैवायं श्लोकः । यथैव हि स्रष्टारमिच्छतां सर्गादौ प्रजापतिराकाशा-
दीनि शरीरव्यवहारसिद्ध्यर्थमुत्पादयति, एवमेवासत्यपि स्रष्टरि स्वयमेवावि-
द्यानिबन्धनप्रपञ्चानुसारेणामभवन्नप्यजायमानो जन्मव्यपदेशाय आदत्ते गृह्णा-
तीत्यर्थः ॥ ६० ॥

यथाचाज्ञाननिबन्धन एव शरीरप्रपञ्चो न वस्तुनिबन्धनः, तथा प्रपञ्चयति—

आहुत्याप्याय्यते सूर्यस्तस्माद् वृष्टिरथौषधिः ।

तदन्नं रसरूपेण शुक्लत्वमुपगच्छति ॥ ६१ ॥

स्वाधिकारनिर्वृत्यर्थमेव हि द्रव्यमानयानुषङ्गिकफलत्वेन आहुत्याप्या-
य्यते सूर्यः । तदुक्तं जौबालिप्रश्ने श्रुतावपि — “वेत्थ यथेति व्योमाहुत्ये”-
ति प्रकृत्य “तस्मिन्नेतस्मिन्नमौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुतेः पुरुषः
संभवती”ति ॥ ६१ ॥

नित्यानामेव चार्थानां कार्यतयाभिधानात् प्रपञ्चमात्रमेवैतदिति स्पष्टयति—

क्षीपुंसयोः संप्रयोगे विशुद्धे शुक्लशोणिते ।

पञ्च धातून् स्वयं षष्ठानादत्ते युगपत् प्रभुः ॥ ६२ ॥

१. ‘अमचो’, २. ‘जै’ ग. पाठः. ३. ‘क्षुसती’ क. पाठः ४. ‘वा’ ग. पाठः.

शुक्लशोणितविशुद्धिर्भिषक्छास्त्रात् पूतिगन्धादिव्युदासेनावसेया ।
धातुशब्दोऽयमाकाशादिमहाभूतवचनः । तान् पञ्च । स्वयं षष्ठानादत्ते । स्वयं
षष्ठानिति यथैव ह्यत्यन्ताव्यतिरिक्तस्यैवात्मनो व्यतिरिक्तवदुपादानव्यप-
देशो भ्रान्तिनिबन्धनः, तथैवाकाशादीनामपीत्यवसेयम् ॥ ६२ ॥

अस्यैव दार्ढ्यार्थं भूयः प्रपञ्चमाह —

इन्द्रियाणि मनः प्राणो ज्ञानमायुः सुखं धृतिः ।

धारणाप्रेरणे दुःखमिच्छाहङ्कारमेव च ॥ ६३ ॥

प्रयत्नाकृतिरूपाणि स्वरद्वेषौ भवाभवौ ।

तस्येदमात्मजं सर्वमनादेरादिमिच्छतः ॥ ६४ ॥

इन्द्रियादि सर्वमेवैतत् तस्यैवाकलङ्कस्य ब्रह्मणोऽनादेरादिमिच्छतो
व्यामोहातिरेकादात्मनोऽव्यतिरेक्यपि व्यतिरिक्तवदाभासत इत्यर्थः । वि-
ज्ञानात्मतामापन्नस्यापि चात्मीयधर्माधर्मानुसारेणात्मजमेवैतद् वैचित्र्यं सु-
खदुःखादिलक्षणमित्यवसेयं, यथेन्द्रियाणि कस्यचिदविकलानि कस्यचित्तु
विपर्यय इत्येवं सर्वत्र योज्यम् । इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि हस्तादीनि च ।
उभयात्मकत्वात् मनसो भेदेनाभिधानम् । प्राणादि प्रसिद्धम् । सुखत्वेऽपि
च धृतेस्तत्कारणत्वोपचारात् पृथग्वचनम् । धारणाप्रेरणे शरीरस्यार्थान्त-
राणां वा । दुःखं प्रसिद्धम् । इच्छाहङ्कारयोः समासाभिधानं तुल्यहेतु-
त्वात् । प्रयत्नः स्वाभाविकी कर्मविशेषप्रवृत्तिः । आकृतिरूपे प्रसिद्धे । स-
मासकरणं स्वाभाविकत्वेनैकरूप्यात् । स्वरः शब्दः तद्ग्रहणं च सर्वविष-
याणामुपलक्षणार्थम् । भवः संसारः अभवो मोक्षः । अपिच यथाद्वैतव्य-
वहारस्य पारमार्थिकत्वमपवर्गानुगुण्यं च तथोपरिष्ठाद् वक्ष्यामः । व्यामोह-
निबन्धनत्वात् तु तत्प्रवृत्तेः सर्वत्र प्रपञ्चाभिधानमविरुद्धम् ॥ ६३, ६४ ॥

अविद्यावच्छिन्नस्य च ब्रह्मणः शरीरसंबन्धं तत्स्वरूपं च प्रपञ्चयति —

प्रथमे मासि संक्लेदभूतो धातुविमूर्छितः ।

मास्यर्बुदं द्वितीये तु तृतीयेऽङ्गेन्द्रियैर्युतः ॥ ६५ ॥

१. 'सङ्कारेणाव' ग. पाठः. २. 'मेत', ३. 'दाभि' क. पाठः, ४. 'क्षः
एवमपि', ५. 'स्य ब्र' ग. पाठः.

निषिक्तं रेतः प्रथमे मासि संक्लिन्नमघनीभूतं यस्य शरीरिणः स संक्ले-
दभूतः । धातवो महाभूतानि विशेषात्मनाभिव्यक्तानि विमूर्छितानि यस्य
सः धातुविमूर्छितः । एवञ्च कललादिक्रमेणार्बुदावस्थां द्वितीये प्राप्य तृ-
तीये प्रविभक्ताङ्गेन्द्रियाधिष्ठानो भवति ॥ ६५ ॥

इदानीमङ्गेन्द्रिययोगं विवेचयति —

आकाशाह्लाघवं सौक्ष्म्यं शब्दं श्रोत्रं तथा बलम् ।

वायोस्तु प्रेरणं त्वेषां व्यूहनं रौक्ष्यमेव च ॥ ६६ ॥

अग्नेस्तु दर्शनं पक्तिमौष्ण्यं रूपप्रकाशनम् ।

रसेभ्यो रसनं शैत्यं स्नेहक्लेदनमार्दवम् ॥ ६७ ॥

भूमेर्गन्धं तथा घ्राणं गौरवं मूर्तिमेव च ।

आत्मा गृह्णात्यतः सर्वं तृतीये स्पन्दते ततः ॥ ६८ ॥

आकाशादिभ्यो महाभूतेभ्योऽह्मणुसाराह्लाघवादीन् गुणान् शब्दा-
दींश्च विषयान् श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि आत्मा संसारं प्रपित्सुरत एवाविद्या-
प्रपञ्चानुसाराद् गृह्णाति । तस्माद् द्वैतव्यवहारान्तःपाती कर्मानुबद्धः स्पन्दत
इत्यादि योज्यम् । प्रमाणान्तरमूलत्वाच्चास्यार्थस्यान्यपरत्वाच्च स्मृतेरिन्द्रिया-
दीनां भौतिकत्वाद्द्वारित्वादिविवेकाभिनिवेशो न कार्यः । अधिष्ठानानि
चाकाशादिभ्यः । इन्द्रियशक्तयस्तु ज्ञानानुपातित्वादात्मविषयतयैवावसे-
याः । स्पष्टमन्यम् ॥ ६६—६८ ॥

भिषक्छात्रानुसारेणैव च —

दौहृदस्याप्रदानेन गर्भो दोषमवाप्नुयात् ।

वैरूप्यं मरणं वापि तस्मात् कार्यं प्रियं स्त्रियाः ॥ ६९ ॥

दौहृदो भोजनादिविशेषाभिलाषः । स्पष्टमन्यत् । प्रमाणान्तरानुसा-
रिणोऽप्यत्राभिधानमक्रियायां दोषवत्त्वज्ञापनार्थम् ॥ ६९ ॥

१ 'दीन् वि' ग. पाठः. २ 'ति', ३. 'रिक्त्वा', ४ 'नातीव का',
५. 'भ्यः श', ६ 'धर्मत' क. पाठः

एवं तृतीयेऽङ्गेन्द्रिययुक्तस्य क्रमशः —

स्थैर्यं चतुर्थे त्वङ्गानां पञ्चमे शोणितोद्भवः ।

षष्ठे बलस्य वर्णस्य नखरोम्णां च सम्भवः ॥ ७० ॥

किञ्च —

मनसा चेतसा युक्तो नाडिस्नायुसिराततः ।

सप्तमे चाष्टमे चैव त्वचावान् स्मृतिमानपि ॥ ७१ ॥

चशब्दात् षष्ठे च मनआदिसंयोगोऽष्टवशाद् भवेत्येवेत्यवगन्तव्यम् ॥ ७१ ॥

परिपूर्णेन्द्रियस्यापि तु यस्मात् —

पुनर्गर्भं पुनर्धात्रीमोजस्तस्य प्रधावति ।

अष्टमे मास्यतो गर्भो जातः प्राणैर्विमुच्यते ॥ ७२ ॥

यस्य हि जन्तोरन्यस्यां धात्र्यां मातरि गर्भो निष्पन्नः तस्यैवाष्टमे मासि प्रसवः स्यात् । तस्य चौजः प्राणः पूर्वस्माद् गर्भात् पुनरन्यं गर्भं पूर्वायाश्च धात्र्या मातुः पुनरन्यां धात्रीं मातरं प्रधावति सञ्चरति यस्मात्, तस्मादष्टमे मासि जातः प्राणैर्विमुच्यते न जीवतीत्यर्थः ॥ ७२ ॥

निर्व्यूढे त्वष्टमे मासि कल्याणतः —

नवमे दशमे मासि प्रबलैः सूतिमारुतैः ।

निस्सार्यते बाण इव यन्त्रच्छिद्रेण सज्जरः ॥ ७३ ॥

प्रमाणान्तरमूलत्वान्नवमादिग्रहणं मासान्तराणामप्युपलक्षणार्थम् । प्रबलैः सूतिमारुतैरिति पराधीनतया जन्मप्रदर्शनं लज्जाकरत्वेन वैराग्यातिशयार्थम् । तथैव स्पष्टयति यन्त्रच्छिद्रेण सज्जर इति । एवमुत्तरत्राप्यस्थिसंख्याद्युपवर्णनादौ व्याख्येयम् ॥ ७३ ॥

इदमेवाविद्याविलसितं भूयः प्रपञ्चयति —

तस्य षोढा शरीरं तत् षट् त्वचो धारयन्ति हि ।

षडङ्गानि तथास्थनां च सषष्टिं वै शतत्रयम् ॥ ७४ ॥

मास्मिन् शरीरके कामोपकरणत्वारोपणालीकमण्डनादिपार्ष्णोषणं कृथाः । नैवैतद् यथोपलभ्यमानं व्यामोहेहेतुसमुदायात्मकं, किं तर्हि, तस्याविभक्तस्य ब्रह्मणः संसारग्रहणायावच्छेदकम् । षोढा षट्प्रकारमवस्थितं पृथिव्यादीन्यदृष्टं चेत्येवं षोढा षड्विकारभूतं च पूयशोणितादिषट्त्वचः प्रच्छाद्य धारयन्ति यस्मात्, तस्मादत्राग्रहो न कार्य इति हिशब्दस्यार्थः । किञ्च — षडङ्गानि शिरो बाहू शरीरकाण्डमूरू चेति । तथाशब्दः प्रकारार्थः, तथाभूतं कुणपात्मकमिति यावत् । ऋज्वन्यत् ॥ ७४ ॥

इदानीं षष्ठ्यधिकं शतत्रयमस्थानमुपपादयति —

स्थालैः सह चतुःषष्टिर्दन्ता वै विंशतिर्नखाः ।

पाणिपादशलाकाश्च तासां स्थानचतुष्टयम् ॥ ७५ ॥

स्थालानि दन्तबन्धनान्यस्थीनि द्वात्रिंशद् दन्ताश्च एवं चतुःषष्टिः । नखविंशत्या पाणिपादशलाकाविंशत्या च सह पाण्यादिस्थानचतुष्टयेन चाष्टोत्तरशतम् । पाण्यादिशलाका अङ्गुलीमूलान्यस्थीनि तानि यस्मिन् प्रतिष्ठितानि तत् स्थानम् । स्पष्टमन्यत् ॥ ७५ ॥

तथा —

षष्ठ्यङ्गुलीनां द्वे पाण्योर्गुल्फेषु तु चतुष्टयम् ।

चत्वार्यरत्नयोरस्थीनि जङ्घयोस्तावदेव तु ॥ ७६ ॥

चत्वार्यरत्नयोरर्थः । पाण्योः पृथग्वचनादत्रारत्निशब्दस्तद्व्यतिरेकेण द्रष्टव्यः । एवं पूर्वैः सहाशीतिशतं द्वे च ॥ ७६ ॥

द्वे द्वे जानुकप्रालोरुफलकांससमुद्भवे ।

अक्षः स्थालूषके श्रोणिफलके चैव निर्दिशेत् ॥ ७७ ॥

एकैकस्मिन् जानुनि कपालद्वयं तथैकस्मिन्नूरौ फलकाद्वयमंसयो-
रेकैकभक्षादीनि चैव निर्दिशेत् । द्वे द्वे इत्येतानि संकलितानि षोडश पूर्वैः
सह द्वचूनं शतद्वयम् । अक्षः कट्यास्थि । स्थालूषके तद्बन्धने । स्पष्टम-
न्यत् ॥ ७७ ॥

भगास्थ्येकं तथा पृष्ठे चत्वारिंशच्च पञ्च च ।

ग्रीवा पञ्चदशास्थीनि जञ्चैक्यं हि तथा हनुः ॥ ७८ ॥

एतया त्रिषष्ट्या सहैकषष्ट्यधिकं शतद्वयम् । बाह्वंसयोः सन्धि-
र्जनुः । प्रसिद्धमन्यत् ॥ ७८ ॥

तन्मूले द्वे ललाटास्थि गण्डनासाधनास्थिका ।

पार्श्वकाः स्थालकैः सार्धमर्बुदैश्च द्विसप्ततिः ॥ ७९ ॥

तन्मूले द्वे ललाटास्थ्येकं गण्डनासाप्रतिबन्धकमेवास्थि गण्डनासा-
धनास्थिकेत्युक्तम् । एतानि चत्वारि द्विसप्तत्या सह षट्सप्ततिः ॥ ७९ ॥

द्वौ शङ्खकौ कपालानि चत्वारि शिरसस्तथा ।

उरः सप्तदशास्थीनि पुरुषस्यास्थिसंग्रहः ॥ ८० ॥

पूर्वसङ्कलने यदुक्तं 'सषष्टिं वै शतत्रयमि'ति तत् पूर्णं भवति ॥ ८० ॥

एषामेव पृथिव्याद्याकाशान्तानां शरीरारम्भकाणां महाभूतानां गुणाः —

गन्धरूपरसस्पर्शशब्दास्तु विषयाः स्मृताः ।

एषामेव च ग्राहकाणि —

नासिका लोचने जिह्वा त्वक् श्रोत्रं चेन्द्रियाणि तु ॥ ८१ ॥

शरीरप्रक्रमाद् बुद्धीन्द्रियाधिष्ठानेष्वयमौपचारिकस्तच्छब्दः श्रोत्र-
शब्दश्च कर्णवचनः तु शब्दसामर्थ्यात् । ऋज्वन्यत् ॥ ८१ ॥

इमानि तु —

हस्तौ पायुरुपस्थं च मुखं पादौ च पञ्चमम् ।

कर्मेन्द्रियाणि जानीयान्मनश्चैवोभयात्मकम् ॥ ८२ ॥

मुखग्रहणं ताल्वादिवागधिष्ठानाभिप्रायम् । पञ्चमवचनं पाण्यादाव-
भेदज्ञापनार्थम् । प्रसिद्धमन्यत् ॥ ८२ ॥

किञ्च —

नाभिरोजो गुदं शुक्रं शोणितं शङ्खकौ तथा ।

मूर्धा च हृदयं कण्ठः प्राणस्यायतनानि तु ॥ ८३ ॥

जीवनहेतोः प्राणस्यायुषो नाभ्यादीन्यायतनानि । आशयशुद्धावेषां
परिज्ञानोपयोगिता । एवमुत्तरत्रापि योज्यम् । प्रवृत्तरुधिराद्यारम्भोऽन्नरस
ओजः । स्पष्टमन्यत् ॥ ८३ ॥

कोष्ठसंबन्धितया —

वपा वपावहननं नाभिः क्लोम यकृत् प्लिहा ।

क्षुद्रान्त्रं वृककौ वस्तिः पुरीषाधानमेव च ॥ ८४ ॥

आमाशयोऽथ हृदयं स्थूलान्त्रं गुद एव च ।

उदरं च गुदः कोष्ठयो विस्तारोऽयमुदाहृतः ॥ ८५ ॥

वपावहननं वपान्त्रबन्धनम् । क्लोमयकृदादीनि त्वभिधानकोशान्मां-
सविक्रयिभ्यो भिषक्च्छास्त्राद्वावगन्तव्यानि । यथाह —

“उशन्ति तिलकं क्लोम तालखण्डं यकृत् तथा”

इति । तथा

“पक्वाशयादधो नाभेरूर्ध्वं चामाशयः स्मृतः”

इत्यादि ॥ ८४, ८५ ॥

अविभक्तेऽप्यवयवशो विभज्यमाने —

कनीनिकेऽक्षिणी कूटे शङ्कुली कर्णपुत्रकौ ।

गण्डौ शङ्खौ भ्रुवौ दन्तावेष्टावोष्ठौ ककुन्दरौ ॥ ८६ ॥

वङ्क्षणौ वृषणौ वृक्कौ श्लेष्मसंघातिके स्तनौ ।

उपजिह्विका स्फिजौ बाहू जङ्घे चोरू सपिण्डके ॥ ८७ ॥

तालूदरं वस्तिशीर्षं चिबुकं गलगण्डिका ।

अवटुश्चैवमेतानि स्थानान्यत्र शरीरके ॥ ८८ ॥

कनीनिके अक्षितारके । अवशिष्टे त्वक्षिणी । तच्छादने चर्मणी कूटे ।
कर्णशङ्कुली स्पष्टे । तच्छिद्रे कर्णपुत्रकौ । दन्तावेष्टौ दन्तानामवेष्टनानि ।
ककुन्दरौ नितम्बकूपकौ । ऊरुसन्धिर्वङ्क्षणः । वृषणयोरुपरि वृक्कौ ।
जिह्वामूले उपजिह्विका । अभितो गुदं मांसपिण्डौ स्फिजौ । गुदस्यान्तर्मू-
त्राधानं वस्तिः । प्रसिद्धमन्यत् ॥ ८६—८८ ॥

अस्मिन्नेव शरीरके —

अक्षि वर्त्मचतुष्कं च पञ्चस्तहृदयानि च ।

नवच्छिद्राणि तान्येव प्राणस्यायतनानि च ॥ ८९ ॥

वर्त्मचतुष्कमवबोधकमिन्द्रियचतुष्टयं श्रोत्रप्राणरसस्पर्शनीत्यर्थः ।
एतान्यक्ष्यादीनि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि । पाणिपादौ कर्मेन्द्रियार्थौ । चशब्दो-
ऽवशिष्टानां ग्राहकः । हृदयं मनः । यान्येतान्येकादशेन्द्रियाणि तान्येव
पाण्यादिवर्जं नवच्छिद्राणि च । एतानि प्राणस्य प्राधान्येनायतनानि ।
शिरसि सप्त पायुरूपस्थं चेत्येवं नवच्छिद्राणि ॥ ८९ ॥

किञ्च —

सिराशतानि सप्तैव नव स्नायुशतानि च ।

धमनीनां शते द्वे तु पञ्च पेशीशतानि च ॥ ९० ॥

रुधिरस्राविच्छिद्राणि सिरा । स्नायु प्रसिद्धम् । वायुग्राहिण्यः सिरा
एव धमन्यः, यासां पूरणे स्थूलता रेचने कुशता । मेदोवाहिन्यः सिरा एव
पेश्यः । भिषक्छास्त्रोपयोगित्वेन स्थूलपरिमाणमेतत् ॥ ९० ॥

वायुविजयार्थं तु सूक्ष्मपरिमाणालोचनायेदानीमाह —

एकोनत्रिंशतं लक्षास्तथा नवशतानि च ।

षट्पञ्चाशच्च निर्दिष्टाः सिरा धमनिसंज्ञकाः ॥ ९१ ॥

निगदोक्तः श्लोकः ॥ ९१ ॥

योगशास्त्राभिप्रायचतुरैः शरीरतत्त्वबुभुक्षुभिः —

त्रयो लक्षास्तु विज्ञेयाः केशश्मश्रु मनीषिभिः ।

रोमभेदसंख्ययेति शेषः ।

किञ्च —

अष्टोत्तरं मर्मशतं द्वे तु सन्धी शते तथा ॥ ९२ ॥

विज्ञेये इत्यनुषङ्गः । तथाशब्दः शास्त्रान्तरोक्तकेशादिपरिमाणविकल्पद्योतनार्थः सर्वस्मिन् संख्याप्रकरणे व्याख्येयः ॥ ९२ ॥

शास्त्रान्तरोक्तपरिमाणवैकल्पिकत्वेनैव च —

रोम्णां कोट्यस्तु पञ्चाशत् तथा कोटिचतुष्टयम् ।

सप्तषष्टिस्तथा लक्षाः सार्धाः स्वेदायनैः सह ॥ ९३ ॥

नन्वेतत् केशसंख्यादिपरिमाणं बाधकानुपलम्भमात्रेण यदृच्छ्याभिधानात् परस्परव्याघाताच्च धूर्तनिखातपृथिवीमध्यलक्षणार्थकीलादितुल्यमिवोपलक्ष्यते । सत्यमेवम् । शरीरनिन्दापरत्वात् स्मृतेः । अतिशयपुण्यकारिभिश्च पुराणैर्ब्रह्मविद्भिर्नव्यव्यतिरेकाभ्यामपि संभाव्यमानत्वाददोषः ॥ ९३ ॥

एतदेव स्पष्टयति —

वायवीयैर्विगण्यन्ते विभक्ताः परमाणवः ।

यद्यन्ये कोनु वेदैषां भावानां चैव संस्थितिम् ॥ ९४ ॥

सनत्कुमारादयो वायुशिष्या वायवीयाः, तैस्तावद् येऽस्माभिरुक्ताः संख्याविशेषास्ते विगण्यन्ते । यदि त्वेतेभ्योऽपि परमाणवः परमसूक्ष्मा अन्ये संख्याविशेषा भवन्ति, भवन्तु, न दोषो यस्मात्, तस्मात्, को नु वेदैषां परमार्थतः परिमाणम् । श्रद्धामात्रेण यथावगमं किञ्चिदभिधीयत इत्यभिप्रायः । किञ्च भावानां च प्राणिनामनेकप्रकारां विचित्रां संस्थितिं को नु वेदेति योज्यम् ॥ ९४ ॥

भागमानुसारेणैव च —

रसस्य नव विज्ञेया जलस्याञ्जलयो दश ।

सप्त चैव पुरीषस्य रक्तस्याष्टौ प्रकीर्तिताः ॥ ९५ ॥

स्वस्थस्य चैतन्निष्पन्नस्य धातुपरिमाणं विज्ञेयम् । यत्तु कैश्चिद्वेत्तु-
नुसारादुक्तं 'मनियतं मूत्रपुरीषमि'ति, तदिहापरिनिष्पन्नजातमात्रविषयत्वा-
दचोद्यम् ॥ ९५ ॥

अञ्जलिर्नैव च —

षट् श्लेष्मा पञ्च पित्तं तु चत्वारो मूत्रमेव च ।

वसा त्रयो द्वौ तु मेदो मज्जैकार्धं च मस्तके ॥ ९६ ॥

एकोऽञ्जलिर्मज्जा मस्तके चार्धम्, एवमध्यर्धोऽञ्जलिः ॥ ९६ ॥

श्लेष्मौजसस्तावदेव रेतसस्तावदेव तु ।

इत्येतदस्थिरं वर्ष्म यस्य मोक्षाय कृत्यसौ ॥ ९७ ॥

ओजो व्याख्यातम् । तदेव श्लेष्मणः कारणभूतं श्लेष्मौजः, तस्य
देवाध्यर्धोऽञ्जलिरित्यर्थः । एवं रेतसोऽध्यर्ध एव । एवं यद् व्याख्यात-
मास्थिरम् अनित्यं विनाशि महाघोरं दुर्लक्ष्यं संसारनिमित्तं वर्ष्म शरीरं
यस्य क्षेत्रिणः पुण्यकृतः सञ्जातवैराग्यस्योच्छिन्नामिलाषस्य मोक्षार्थं चतु-
र्थाश्रमप्रतिपत्त्यर्थं स्यात्, कृत्यसौ कृतकृत्य इत्यर्थः ॥ ९७ ॥

कः पुनरत्र मोक्षप्रकारो येनेह पुनर्जन्म न स्याद्, उच्यते—

द्विसप्ततिसहस्राणि हृदयादभिनिःसृताः ।

हिता नाम हि ता नाड्यस्तासां मध्ये शशिप्रभम् ॥ ९८ ॥

मण्डलं तस्य मध्यस्थ आत्मा दीप इवाचलः ।

मध्ये यस्तं विदित्वा तु पुनराजायते न तु ॥ ९९ ॥

संसारापनोदनक्षमत्वाद्धिता इत्यन्वर्थसंज्ञैवेयमित्यवगन्तव्यम् । हिशब्दो
हेत्वर्थः । यस्मात् प्राणात्मनः सञ्चरणार्थत्वेनोत्कर्षनिमित्तं, तस्माद्धिता

नामेति । तासां मध्ये शशिप्रभं मण्डलं हृदयान्तर्वर्तिं ध्यानैकगम्यं यत्, तस्य मध्यस्थ आत्मा दीपे इवेत्यादिना दृष्टान्तेन स्पष्टीकृतः । योऽयं मध्ये हृन्मण्डलस्योपलभ्यस्तं विदित्वा तु संसारचक्रे न पुनराजायते मुच्यत एवेत्यर्थः । ननु चात्मनः सर्वगतत्वाच्चित्तदेशाभिधानमयुक्तम् । मैवम् । उपलब्धिमार्गोपदेशोऽयं, नात्मनः स्वरूपोपदेशः । अतएव च पुनर्विशेषाभिधानं मध्ये यस्तं विदित्वेति । प्रदीपदृष्टान्तस्त्वनन्यप्रकाशत्वाद् व्यापित्वाच्च । यथैवं ह्यविभक्तस्यापि प्रदीपतेजसः प्रचिततरत्वेनैकत्रोपलम्भादिहैवायमिति व्यवच्छेदाभिधानं, तथैवात्मव्यवच्छेदाभिमानोऽपीत्यभिप्रायः ॥ ९८, ९९ ॥

अस्यैव तु सम्यग्विवेकार्थं —

ज्ञेयमारण्यकमहं यदादित्यादवाप्तवान् ।

योगशास्त्रं च मत्प्रोक्तं ज्ञेयं योगमभीप्सता ॥ १०० ॥

अहं यदादित्यादित्यादिना बृहदारण्यकमिति ज्ञापयति । आरण्यकज्ञानोपदेशाच्च वेदादेवायमर्थोऽवगन्तव्यः नान्यत इत्यवगम्यते । वेदादपि चाचार्यतो ब्रह्मचर्याधिगतादित्यहमादित्यादित्यादिर्नो द्योतितम् । नचैवं सति स्मृत्यानर्थक्यम् । किं तर्हि, वेदार्थोपकरणतया । योगसिद्धिमाभिमुख्येन कर्तुमिच्छता योगशास्त्रमपि मत्प्रोक्तं ज्ञेयमेवेत्यभिप्रायः । मत्प्रोक्तं वेदार्थानुगुणं, नतु त्रुटिपरीतं बुद्धाद्युक्तमित्यभिप्रायः । तथाचोक्तं स्वयम्भुवा—

“आर्षं धर्म(प्र)वचनं वेदशास्त्राविरोधिना ।

यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥”

इति । ऋषयो ब्रह्मविदस्तेषामिदमित्यार्षं ब्रह्मस्वरूपप्रतिपत्त्यर्थम् । स्पष्टमन्यत् ॥ १०० ॥

तद्विद्वान् वेदानुगुणध्यानप्रकारं प्रपञ्चयति —

अनन्यविषयं कृत्वा मनोबुद्धिस्मृतीन्द्रियम् ।

ध्येय आत्मा स्थितो योऽसौ हृदये दीपवत् प्रभुः ॥ १०१ ॥

१. 'व' वि', २. 'चुरतं', ३. 'मानः त' ग. पाठः. ४. 'नोद्व्योति' च. पाठः.
५. 'दास्य', ६. 'र्थः' त', ७. 'ण' ग. पाठः.

नास्मादन्यो विद्यत इत्यनन्य आत्मा तद्विषयं मनोबुद्धिस्मृतीन्द्रियं कृत्वा अन्यविषयताया व्यावर्त्येत्यर्थः । क पुनः शरीरदेशे वर्तमानस्य मनो-बुद्ध्यादेरनन्यविषयता स्यात्, तदाह — हृदय इति । यदा हि बाह्यविषयोपरमेणेन्द्रियप्रवृत्तयो हृदि नियम्यन्ते, तदा मनोऽपि तदनुविधानात् स्वदेशवर्त्यपि स्वविषयात् सुखादेरपैवृत्तमकल्पकं भवति । तदधीनत्वाच्च स्मृतिबुद्ध्योरात्मन्यवस्थानात्मनो बुद्धिस्मृतीन्द्रियस्यात्मविषयत्वसिद्धिः । अतो हृदये संनिरुध्येन्द्रियग्राममात्मविषयतया प्रदीपवदभिन्नोऽपि भेदावभासी व्यापितया प्रभुरव्ययः परमात्मा ध्येय इत्यादि योज्यम् ॥ १०१ ॥

नन्वेतद् दुर्वारत्वादिन्द्रियग्रामस्य दुःशकमिवोपलक्ष्यते, सखं दुःशकं, न त्वशक्यमेव । यतः पश्य —

यथावधानेन पुमान् साम गायत्यविध्ययम् ।

सावधानस्तथाभ्यासात् परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ १०२ ॥

किमत्राशक्यं, दृष्टं हि प्रणिहितमनसां सामगानामृतो विवेकेन दुर्लक्ष्यामपि रथन्तरादिगीतिमृगन्तरारोपितामिदमत्र सामेत्येवमविभाव्यं यमविनष्टं सामगानं यथैव च पुमानेव प्रसक्तबाह्यविषयमना अप्यविध्ययं सावधानः साम गायति, एवमेव ध्यानाभ्यासात् परमपि ब्रह्माधिगच्छत्येव । अतोऽत्र यत्नवता भाव्यं नाशक्यमेवैतदिति पराभङ्गः कार्यः । तथा-चोक्तम् —

“उत्सेकं जलधेर्दृष्ट्वा तृणाग्रेणैकबिन्दुना ।

अशक्यमिति मन्तव्यं न किञ्चित् कृतबुद्धिना ॥”

इति ॥ १०२ ॥

अतएवचेन्द्रियनिरोधकत्वेन परब्रह्मप्राप्तिहेतोर्योगस्थोपायभूतं गानमिति मन्यमाना गीतिवेदविदो नारदादयः स्मरन्ति —

अपरान्तकमुल्लोप्यं मद्रकं प्रकरीं तथा ।

औवेणकं सरोबिन्दुमुत्तरं गीतिकानि तु ॥ १०३ ॥

१. 'त', २. 'ट', ३. 'प्र', ४. 'यविषयस्या', ५. 'भ्य', ६. 'पि भवितव्यं य', ७. 'नो', ८. 'बुद्ध्वा तु' क. पाठः.

ऋग् गाथा पाणिका दक्षविहिता ब्रह्मगीतिका ।

गेयमेतत् तदभ्यासकारणाच्चोक्तसंज्ञकम् ॥ १०४ ॥

इमान्यपरान्तकादीनि प्रायेण वस्तुमात्रापादभागात्मकानि स्वविष-
यविशिष्टानि सप्त गीतिकानि गानशास्त्रादेवावसेयानि । तद्यथा —

“अथ वस्तूनि षट् सप्त पञ्च वाप्यपरान्तकम् ।”

इत्यादि, तथा —

“आदाबुद्धोप्यकस्याथ मात्राभिः पतनैर्युता ।”

इति । एवमादि महत् तन्त्रं ग्रन्थगौरवप्रसङ्गादत्र न प्रपञ्च्यते । तथा वस्तुमा-
त्रापादभागादिविवेकोऽपि तत एव मृग्यः । यथा — ‘स्वयं वस्तुषण्मात्रा’
इत्यादि । ऋग्गाथा इत्यत्रापि च विशिष्टा एव बृचो दिव्यवीण्या ब्रह्म-
णा गीताः । तथा गाथा काश्यपप्रजापतिगीता । पाणिका दक्षविहिता दक्षप्र-
जापतिगीतेत्यर्थः । ब्रह्मस्तुत्यर्था गीतिका ब्रह्मगीतिका । सर्वमेतच्चोक्तसं-
ज्ञकं नारदाद्युक्तलक्षणं योगैमार्गोपयोगित्वाद् गेयम् । अन्यपरत्वाच्चोपदेशस्य
नात्यभिनिवेशः कार्यः । यद्वा नारदादिस्मरणोद्दिहापि च प्रसङ्गाभिधानाद्
वेदमूलत्वमेवानुमेयमित्यनवद्यम् ॥ १०३, १०४ ॥

भूयश्च नारदाद्यभिप्रायेणैवाह —

वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः ।

तालज्ञश्चाप्रयासेन योगमार्गं निगच्छति ॥ १०५ ॥

श्रुतिध्वन्यात्मिका द्वाविंशतिप्रकारा स्वरपरिमाणनियामिका विज्ञेया ।
जातिस्त्वष्टादशप्रकारा षड्जाद्या । तालः कालपातात्मको मानविशेषः ।
स्पष्टमन्यत् ॥ १०५ ॥

किञ्च —

गीतिज्ञो यदि योगेन नाप्नोति परमं पदम् ।

१. ‘स्यादि’, २. ‘ता ब्र’, ३. ‘गोप’ ग ड. पाठः. ४. ‘णानुसारा-
दिना च प्र’ ड. पाठः.

तथापि तु —

रुद्रस्यानुचरो भूत्वा तेनैव सह मोदते ॥ १०६ ॥

अनेन च गानाधिदेवता रुद्र इत्येतद् ज्ञापितम् ॥ १०६ ॥

प्रासङ्गिकमभिधायेदानीमिदमेवात्मतत्त्वमतिषौहृदात् कृत्स्नं जीवलोकमनुजिघृक्षुरा-
चार्यं दृष्टयितुं शास्त्रारम्भप्रयोजकानेव मुनीन् प्रष्टृत्वेनोपन्वस्यति स्म —

अनादिरात्मा कथितस्तस्यादिश्च शरीरकम् ।

आत्मनश्च जगत् सर्वं जगतश्चात्मसम्भवः ॥ १०७ ॥

“निमित्तमक्षरं कर्ते”त्यादौ कथित एवेति शेषः ॥ १०७ ॥

एवञ्चानुपपन्ने जगतश्चात्मनश्च कार्यकारणभावे सति —

कथमेतद् विमुद्दामः सदेवासुरमानवम् ।

जगदुत्पन्नमात्मा च कथन्न्वस्मिन् वदस्व नः ॥ १०८ ॥

कथन्नु खल्वयं विरुद्धः कार्यकारणभावः । अस्मिन् विरोधे परिहा-
राय नः अस्माकं वदस्व कथयेत्यर्थः ॥ १०८ ॥

इदानीं योगीन्द्रस्तेषामुत्तरमाह —

मोहजालमपास्येदं पुरुषो दृश्यते हि यः ।

सहस्रकरपन्नेत्रः सूर्यवर्चाः सहस्रशः ॥ १०९ ॥

स आत्मा चैव यज्ञश्च विश्वरूपः प्रजापतिः ।

विराट् च सोमरूपेण यज्ञत्वमुपगच्छति ॥ ११० ॥

ग्रन्थरूपतया प्रश्नोत्तराभिधानं कृतव्याख्यानमेव । मास्मिन् व्यामोहं
कृथाः । कुतार्किकोक्तालीककुचोद्यानुसारिमोहजालमपनीयाखिलप्रपञ्चरूपा-
तिरिक्तो वक्ष्यमाणयुक्त्यनुग्रहात् प्रत्यक्षेणैव प्रत्यगात्मन्यपरोक्षरूपतया नि-
रस्तद्वितयप्रतिभासः पुरुषो यो दृश्यते अनुभूयते । कथंलक्षणः, सहस्रकरप-
न्नेत्र इत्यादिलक्षणः । स एवात्मा यज्ञश्च, यज्ञशब्दश्च तत्कारणपृथिव्यादिम-
हाभूतवचनः, पृथिव्यादीन्यपि स एवेत्यर्थः । कथं पुनः स एवात्मा यज्ञश्च,

यतो विश्वरूपः प्रजापतिश्च सः । सर्वाणि भूतान्यस्यैवाविभक्तस्यात्मनो रू-
पाणि यस्मात्, तस्माद् विश्वरूपः । अत एव चोक्तं सहस्रकरचरण इ-
त्यादि । सहस्रशब्दश्च बह्वर्थो न संख्यार्थः, अनन्तजातिरूपसम्बन्धेनाभि-
न्नोऽपि घटाकाशादिवद् भिद्यमानः सहस्रशो दृश्यते । सूर्यवर्चाः स्वयंप्र-
काश इत्यर्थः । स्वयं च भेदेन प्रजासर्जनात् प्रजापतिः विराट् च । अन्नं
स एव भूत्वा सोमादिरूपेण यज्ञत्वं यज्ञसाधनत्वमुपगच्छति प्राप्नोतीत्यर्थः
॥ १०९, ११० ॥

ततश्च —

यो द्रव्यदेवतात्यागसम्भूतो रस उत्तमः ।

देवान् स सन्तर्प्य रसो यजमानं फलेन तु ॥ १११ ॥

संयोज्य वायुना सोमं नीयते रश्मिभिस्ततः ।

ऋग्यजुःसामविहितं सौरं धामोपनीयते ॥ ११२ ॥

योऽयमाहुत्यात्मको द्रव्यदेवतात्यागसम्भूतो याज्ञेः सोमादिद्रव्य-
स्य दर्शनानुविधायी साधारणात्मको जगत्कारणभूतः सूक्ष्म उत्तमा रसः स
देवान् सम्यक् तर्पयित्वा विशेषात्मना च यजमानं फलेनानुष्ठितनियोग-
तया संयोज्य ततः साधारणात्मना “समिष्टयजुषा स्वाहा वातेधा” इत्येवं
विद्यादर्शनाद् वाते प्रक्षिप्तः स वातेन सोमं सोममण्डलं नीयते । ततश्च सौ-
रैरेव रश्मिभिर्दर्शनानुग्रहाद् ऋगादिमन्त्रार्थवादादिप्रतिपादितं सौरं स्थान-
मुपनीयत इत्यादि । तदेतद्व्याप्युक्तं “यमक्षितमक्षितयः पिबन्ति” इत्यादि
॥ १११, ११२ ॥

यश्वासौ याज्ञो रसः सौरं धाम प्राप्नोति जगत्कारणत्वेन सम्भूतः —

तन्मण्डलमसौ सूर्यः सृजत्यमृतमुत्तमम् ।

यज्जन्म सर्वभूतानामंशानानशनात्मनाम् ॥ ११३ ॥

(योऽसौ याज्ञो रसः?) तन्मण्डलमसौ परमात्मा सूर्यः । तदुक्तं —
 “सूर्यभात्मा जगत्तस्तस्थुषश्चे”ति । असौ सूर्यस्तदुत्तमममृतमुदकं जगत्कार-
 णभूतं सृजति मुञ्चतीत्यर्थः । तदेवोदकं विशिनाष्टि — यज्जन्म सर्वभूता-
 नामित्यादि । अशनानशनात्मनां स्थाणुजङ्गमानामित्यर्थः ॥ ११३ ॥

योऽसावुदकभावेन याज्ञो रस इह प्राप्तः फलभूतो विरादत्वमन्नरूपतामापन्नः —

तस्मादज्ञात् पुनर्यज्ञः पुनरन्नं पुनः क्रतुः ।
 एवमेतदनाद्यन्तं चक्रं संपरिवर्तते ॥ ११४ ॥

तस्मादज्ञात्पूर्वेणैव मार्गेण पुनः साधारणात्मना यज्ञो निष्पद्यते त-
 स्माच्च यज्ञात् तेनैव वाय्वादिना मार्गेण पुनर्विराद् चान्नं, ततोऽपि चान्नात्
 तथैव पुनः क्रतुर्यज्ञः ततश्च पुनरप्यन्नमित्येवमेतदनादिनिधनं विश्वरूपस्य
 ब्रह्मणः संसारबीजं चक्रक्रमात् परिवर्तते । ततश्चान्योन्यकार्यकारणत्वेऽप्य-
 विरोधः ॥ ११४ ॥

इदं चानादिनिधनं चक्रं परिवर्तमानमालोच्यास्माभिरुक्तः —

अनादिरात्मा संभूतिर्विद्यते नान्तरात्मनः ।
 समवायी तु पुरुषो मोहेच्छाद्वेषकर्मजः ॥ ११५ ॥

यद्यनादिरात्मा कथं जायते म्रियत इति व्यवहारः, उक्तं—“शरी-
 रग्रहणात् स जात इति कीर्त्यत” इति । परमार्थतत्त्वनादिरात्मा नास्या-
 न्तरा सम्भूतिर्जन्म विद्यते इत्यभिप्रायः । शरीरग्रहणमेवाकलङ्कस्य ब्रह्मणः
 कस्मादिति चेद्, नैवाक्षरस्य परमात्मनः शरीरसम्बन्धः, शरीरासंसृष्ट एव
 हि सः । अयं त्वन्य एव ततोऽवच्छिन्नः शरीरसमवायी पुरुषः अविद्या-
 व्यामोहादिच्छाद्वेषाभ्यां साधारणविशेषात्मकत्वेन च कर्मणा संसृष्टो जन्म-
 व्यपदेशभागित्यवसेयम् ॥ ११५ ॥

अतश्चायं परावरात्मको मूर्तामूर्तरूपः स एव परमात्मा —

सहस्रात्मा मया यो व आदिदेव उदाहृतः ।
 मुखबाहूरुपज्जातास्तस्य वर्णा यथाक्रमम् ॥ ११६ ॥

मुखेनाध्ययनभोजनादिकार्यसंयोगाच्चैष्ठ्येन च प्राथम्याद् ब्राह्मणस्य
मुखजत्वम् एवं रक्षणादिबाहुकार्यसम्बन्धाद् बाहुजत्वमित्यादि ब्रह्मणः
परमार्थिकमुखाद्यभावात् प्रपञ्चनीयम् ॥ ११६ ॥

एवमेव प्रतिष्ठादिपदादिकार्ययोगात् —

पृथिवी पादतस्तस्य शिरसो द्यौरजायत ।

नस्तः प्राणा दिशः श्रोत्रात् त्वचो वायुर्मुखाच्छिखी ॥

मानसेन दर्शनेन चाभिव्यक्त्यत्वात् —

मनसश्चन्द्रमा जातश्चक्षुषश्च दिवाकरः ।

जघनादन्तरिक्षं च जगच्च सचराचरम् ॥ ११८ ॥

जघनशब्दो नाभ्याद्यर्थः । सचराचरं जगत् तस्मादेव ब्रह्मणो जा-
तमित्यादि योज्यम् । ऋज्वन्यत् ॥ ११८ ॥

एवं परमात्मस्वरूपेऽभिहिते मुनयश्चोदयन्ति —

यद्येवं स कथं ब्रह्मन् पापयोनिषु जायते ।

ईश्वरः स कथं भावैरनिष्टैः सम्प्रयुज्यते ॥ ११९ ॥

करणैरन्वितस्यापि पूर्वज्ञानं कथञ्च न ।

वेत्ति सर्वगतां कस्मात्सर्वगोऽपि न वेदनाम् ॥ १२० ॥

यद्येवमनादिनिधनोऽक्षरः परमात्मा ततो ब्रह्मन् ! पृच्छामो भवन्तं
कथं पापयोनिषु पराधीनवज्जन्म प्रतिपद्यते । अथ मतं रागाद्यनिष्टसम्प्र-
योगादिति तदपि पर्यनुयोगभागेव ईश्वरोऽप्यपराधीनः स कथं भावैर-
निष्टैः सम्प्रयुज्यत इति । अथायमभिप्रायः संसार्यात्मतया पूर्वज्ञाननिरो-
धादिति । तदप्यसत् । कथं तस्याकलङ्कस्य संसार्यात्मता, कथं च तदात्म-
कत्वेऽपि शक्तिरूपैर्दृष्ट्याद्यैरनपायिभिः करणैरन्वितस्यापि पूर्वज्ञानं नास्ति ।
संसार्यात्मतया विच्छेदादेवेति चेत्, अज्ञत्वप्रसङ्ग एव स्यात् । सर्व-
गतपरमात्मस्वरूपानपायाद् ज्ञानोत्पत्तिरिति चेत्, एवं सति सर्वगोऽपि
सन् स देवः कस्मात् सर्वशरीरान्तर्गतां वेदनां सुखादिसंविदं न वेत्ति न
जानातीत्यर्थः ॥ १२० ॥

१. 'तत्त्वे', २. 'ज्ञात् स', ३. 'देव सर्वगतः श' ग. पाठः.

एवं मुनिभिः परिचोदिते भगवतोत्तरमुच्यते—

अन्त्यपक्षिस्थावरतां मनोवाक्कायकर्मजैः ।

दोषैः प्रयाति जीवोऽयं भवन् जातिशतेषु च ॥ १२१ ॥

यदुक्तं पापयोनिषु कथं जायत इति तत्रेदमुत्तरं मनोवाक्कायकर्म-
जैर्दोषैरन्त्यपक्षिस्थावरतां जातिभेदेषु च शतशो भवन्नुत्पद्यमानो यातीति ।
एतदेव तु प्रथमतः वाच्यमासीत्, कथं ब्रह्मणः संसार्यात्मतैवेति । तत्तु
साधारणविशेषात्मकत्वेनारम्भकस्य यज्ञादिचक्रस्यानादिनिधनत्वाभिधाने-
नैव परिहृतप्रायत्वात् कूपपतितस्येवोद्धारणप्रकारार्थिनः पतनप्रकारान्वेष-
णवदनुपयोगित्वान्न परामृश्यते ॥ १२१ ॥

किञ्च—

अनन्ता हि यथा भावाः शरीरेषु शरीरिणाम् ।

रूपाण्यपि तथैवेह सर्वयोनिषु देहिनाम् ॥ १२२ ॥

वाक्कायकर्मणोऽपि हि कारणभूता मानसा एव भावाः । तथाचा-
म्नायोऽपि 'अथ खलु क्रतुमयोऽयं पुरुष' इति । ते चानन्ताः शरीरिणा
संसार्यात्मनां शरीरेषु वर्तमानानां यथैवच कारणभूता अनन्ता भावाः, त-
थैवच कार्यभूतानि रूपाण्यपीह वर्तमानानां देहिनामपि । अतश्च परमा-
त्मस्वरूपवदनन्तमानसभावसम्बन्धात् संसार्यात्मज्ञामप्यनादित्वसिद्धिः
॥ १२२ ॥

यदि कर्मतो योन्यन्तरसम्बन्धः यस्यां तर्हि तिर्यगादियोनावनधिकारः ततो योन्य-
न्तरसम्बन्धो न प्राप्नोति, सत्यं, यद्यैहिकफलान्येव वैदिकानि कर्माणि स्युः, ततः स्याद-
येवम् । यदा तु खलु—

विपाकः कर्मणां प्रेत्य केषांचिदिह जायते ।

इह चामुत्र चैकेषां

तदैतदचोद्यमिति शेषः ।

किञ्च नैव हि तत्र कर्मफलोत्पादेऽधिकारज्ञानस्योपयोगः । किन्तर्हि—

भावस्तत्र प्रयोजकः ॥ १२३ ॥

प्रायश्चित्ताध्यायः यतिधर्मप्रकरणं चतुर्थम् ।

५२

भावमोत्रेणापरिज्ञातमपि कर्म फलमुत्पादयत्येवेत्यभिप्रायः । प्रेत्य
विपाकः स्वर्गादिफलानाम्, इहैव वृष्ट्यादेः, अनियतः पश्वादीनाम् । ऋ-
ज्वन्यत् ॥ १२३ ॥

तदिदानीं कर्मजं कार्यकारणभावं प्रपञ्चयति —

परद्रव्याण्यभिध्यायंस्तथानिष्ठानि चिन्तयन् ।

वितथाभिनिवेशी च जायतेऽन्त्यासु योनिषु ॥ १२४ ॥

परद्रव्याभिध्यानादिभिर्मानसैर्दोषैरन्त्यासु चण्डालादियोनिषु जायत
इति मन्तव्यम् ॥ १२४ ॥

स वाग्दोषैस्तु —

पुरुषोऽनृतवादी च पिशुनश्चैव मानवः ।

असम्बन्धप्रलापी च मृगपक्षिषु जायते ॥ १२५ ॥

पुनर्मानव इति पुरुषवचनात् पुरुषमात्राश्रयमेतदिति ज्ञापयति ।
मृगपक्षिवचनं चाशेषतिर्यग्जातिलक्षणार्थम् । ऋज्वन्यम् ॥ १२५ ॥

कायिकैस्तु कर्मदोषैः —

अदत्तादाननिरतः परदारोपसेवकः ।

हिंसकश्चाविधानेन स्थावरेषूपजायते ॥ १२६ ॥

सत्त्वगुणातिशययोगात् पुनः —

आत्मज्ञः शौचवान् दान्तस्तपस्वी नियतेन्द्रियः ।

धर्मकृद् वेदविद्याभिः सात्त्विको देवयोनिषु ॥ १२७ ॥

आत्मज्ञः शौचादिनिष्ठो वेदविच्च यः स सात्त्विको देवयोनिषु याति
कर्मणा देवत्वं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ १२७ ॥

अतिशयरजःसंबन्धात् तु —

असत्कार्यरतोऽधीर आरम्भी विषयी च यः ।

स राजसो मनुष्येषु मृतो जन्म प्रपद्यते ॥ १२८ ॥

सच्छब्दो नित्यवचनः नित्यं यत् कार्यमग्निहोत्रादि तत् सत् कार्यं ततोऽन्यदसत् कार्यं काम्यं, तत्प्रधानः अधीरश्चञ्चलचित्तः आरम्भी सान्दृष्टि-कारम्भप्रधानः भोगादिकामविषयासक्तश्च यः स राजसो मनुष्यजात्याश्र-यफलोपभोक्तृत्वान्मनुष्येषु जायते मृतो मर्त्यः अमृतत्वलक्षणदेवत्वानर्ह इत्यर्थः ॥ १२८ ॥

अपुण्यभूयस्त्वात् स्वभावत एव —

निद्रालुः क्रूरकृल्लुब्धो नास्तिको याचकस्तथा ।

प्रमादवान् भिन्नवृत्तो भवेत् तिर्यक्षु तामसः ॥ १२९ ॥

यदेकैकत्र सात्त्विकादौ स्वयंभुवा त्रैविध्यमुक्तं तदिहोदाहरणार्थ-तयोपन्यासान्न प्रपञ्चितम् ॥ १२९ ॥

एवञ्च मनोभावमूलत्वात् संसारस्थितेर्मानसैरेव —

रजसा तमसा चैव समाविष्टो भ्रमन्निह ।

भावैरनिष्टैः संयुक्तः संसारं प्रतिपद्यते ॥ १३० ॥

सत्त्वालपतया रजस्तमोभ्यां समाविष्टः पराधीनत्वादिहैव संसारे भ्र-मन् भूयः संसारमेवानिष्टैर्मानसैर्भावैः संयुक्तः प्रतिपद्यते न विमुच्यत इत्यर्थः ॥ १३० ॥

रजस्तमोभ्यामभिभूतसत्त्वश्च सत्यज्ञत्वेऽपि विज्ञानात्मतया विच्छेदात् —

मलिनो हि यथादर्शो रूपालोकस्य न क्षमः ।

तथाविपक्वकरण आत्मा ज्ञानस्य न क्षमः ॥ १३१ ॥

सत्यपि ह्यालोकसामर्थ्ये मलोपघाताद् यथैवादर्शो रूपालोकनासम-र्थः, तथैव रजस्तमोपघातादपकोऽपटुकरणो विज्ञानात्मा सम्यग् ज्ञानस्यास-मर्थः । अतो यदुक्तं कथं करणवतोऽपि पूर्वज्ञानाभाव इति तत् परिह-तम् ॥ १३१ ॥

अतश्चानुच्छिन्नकरणशक्तावपि —

कटूवारी यथा पक्वे मधुरः सन् रसोऽपि न ।

प्राप्यते

इतिच्छेदः ।

आत्मन्यपि तथा नापक्करणे ज्ञता ॥ १३२ ॥

उर्वारुश्चिद्विटसदृशं फलम् । स्पष्टमन्यत् ॥ १३२ ॥

यदुक्तं 'वेत्ति सर्वगतां कस्मात्सर्वगोऽपि न वेदनाम्' इति । तत् परिहर्तुमाह —

सर्वाश्रयां निजे देहे देही विन्दति वेदनाम् ।

योगी युक्तस्तु सर्वेषां यो नावाप्नोति वेदनाम् ॥ १३३ ॥

भोगायतनत्वान्निज एव देहे यस्माद् विज्ञानोत्पादः तस्मात्सर्वगतोऽपि सर्वाश्रयाः संविदो न विभावयति । यदा तु योगी परिनिष्पन्नयोगज्ञानः स्यात् तदा युक्तः समाधिस्थो निज एव देहेऽवस्थितः स्पर्शयोगसामर्थ्यात् सर्वाश्रयां देहान्तरवर्तिनीमपि विज्ञानात्मान्तरेण भेदप्रत्ययमपनीयात्मव्यवस्थितो वेदनां संविदं वेत्ति उपलभत इत्यर्थः । तुशब्दस्य चोत्कृष्य नञा संबन्धः न त्ववाप्नोति वेदनामिति । एतदुक्तं भवति — उपलभत एव न त्ववाप्नोति विज्ञानफलं सुखादि नोपभुङ्क्ते इत्यर्थः । कथं पुनर्ज्ञातृत्वेनाभिन्नस्यापि सुखाद्यभोक्तृत्वं, कर्मसाध्यत्वात् फलोपभोगस्य भेदानुपातिनश्च कर्मणो विज्ञानात्माश्रयत्वादित्यविरोधः ॥ १३२ ॥

कथं पुनरेकस्यैव विभक्ताविभक्तत्वं तथैव युक्त्यागमाभ्यामुपलम्भनात् । तथाहि —

आकाशमेकं हि यथा घटादिषु पृथग् भवेत् ।

तथात्मैको ह्यनेकश्च जलाधारेष्विवांशुमान् ॥ १३४ ॥

यथैव ह्येकत्वेऽप्याकाशं घटादिभिरवच्छिन्नविशेषमेकताप्रत्ययं भिदां च विभर्ति न च भेदानुपातिधर्मसंकरः, तथा ब्रह्मणोऽपीत्यवसेयम् । तथा चाह —

“यथैकस्मिन् घटाकाशे रंजोधूमादिभिर्भुते ।

न सर्वे संप्रयुज्यन्ते सुखं दुःखं तथात्मनः ॥”

इति । तथान्यैरपि —

“धूमपूर्णघटानां च यस्यैकस्यैव रेचनम् ।
उत्पाद्य क्रियते तत्र जायते व्योम निर्मलम् ॥”

इति ॥ १३४ ॥

यदि तर्हि सवितुरिवाभिन्नस्यापि जलाधारादिवद् ब्रह्मणो भेदावभास न तर्हि भेदः प्रमाणवान् व्यामोहनिबन्धनत्वादित्यादिकामाशङ्कां निराकरोति —

ब्रह्मखानिलतेजांसि जलं भूश्चेति धातवः ।

परमार्थसत्या एवेति शेषः । यदुक्तं—

“पञ्च धातून् स्वयं षष्ठानादत्ते युगपत् प्रभु”

इत्यत्र यथैते पञ्च धातवः परमार्थसत्याः ।

इमे लोका एष चात्मा तस्माच्च सचराचरम् ॥ १३५ ॥

लोकशब्दः शरीरवचनः लोकाः शरीराणीत्यर्थः । तस्माच्चात्मनोऽन्यतयैव घटाद्याकाशवत् सचराचरं भेदव्यवहारानुपाति जगदित्यर्थः । कथं पुनरभिन्न एवात्मात्मनः शरीरादि कुर्यात्, उक्तं भावविशेषानुग्रहादिति ॥ १३५ ॥

किञ्च —

मृदण्डचक्रसंयोगात् कुम्भकारो यथा घटम् ।

करोति तृणमृत्काष्ठैर्यहं वा गृहकारकः ॥ १३६ ॥

हेममात्रमुपादाय रूपं वा हेमकारकः ।

निजलालासमायोगात्कोशं वा कोशकारकः ॥ १३७ ॥

करणान्येवमादाय तासु तास्विह योनिषु ।

कार्यगम्यत्वात्सामग्रीनियमस्य तद्दर्शनानुसारिण्येव कल्पनेत्यभिप्रायः । यथा च घटगृहादौ सामग्रीवैचित्र्योपलम्भः, कोशकारादेस्तु कोशादिसर्जनं लालादिकरणवतः तत्सृष्टौ त्वात्मन एव कर्तृत्वकरणत्वे एवं ब्रह्मणोऽपि महाभूतादिजन्यकर्मादिकरणवतः शरीरादिसर्जनं करणादिसृष्टौ त्वात्मन एव कर्तृत्वकरणत्वे ।

तद् दर्शयति—

सृजत्यात्मानमात्मैव संभूय करणानि च ॥ १३८ ॥

इति । संभूय करणानि च स्वयं कर्तृकरणभूत इत्यर्थः । ननु चान्योन्यव्याहत एवायं चेतनाचेतनत्वेनैकबहुत्वानुसारी परावररूपः परमार्थान्वेषणेनात्मप्रत्ययः । तथाहि, यदि तावद्युक्त्यागमानुसारादद्वयं ब्रह्म, ततो भेदव्यवहारो जलपात्रेष्विव सवितुरुपाधितो भ्रान्तिनिबन्धनतयैव स्यात् । अथ भेदव्यवहारसत्यता कुतस्तर्ह्यात्मनो व्यतिरेकिणः शरीरसंबन्धः । न च महाभूतव्यतिरेकेणात्मनः स्वरूपं पश्यामः चैतन्यस्य मदशक्तिवद् भूतसमुदायधर्मतयाप्युपपत्तेः । अपिच महाभूतान्यपि विज्ञानवादिनं प्रति साध्यान्वेव ज्ञानाकारतया नीलाद्यवबोधसम्भवात् । अतो वक्तव्यमेतत् । अत्राभिधीयते । प्रतीयते हि बाह्योऽर्थः कथमसावपहनूयते न ज्ञानाकारतयैव तदुपपत्तिः असंवित्रसङ्गात्, न ह्यात्मनैवात्मसंवित्रसम्भवः । किञ्च ग्राह्यग्राहकप्रत्ययस्तावद्भेदहेतुतायामनपेक्षः । कल्प्यं त्वेकत्वमारोप्याद्याकारत्वम् । न चोपलब्धिविरोधिन्यः कल्पनाः सम्भवन्ति । न च स्वप्नादिवैतथ्येन जाग्रत्प्रत्ययवैतथ्यं जाग्रत्स्वप्नादिभिदैवान्यासिद्धेः, प्रमुषितस्मरणाभिमानत्वेऽपि च स्मार्तत्वेन बाह्यालम्बनत्वम् । अथोच्येत कथं व्यतिरिक्तोऽर्थः संविदं जनयेत् जनने वा सर्वार्थसंविदवबोधो वा स्यादिति । तदपि हीन्द्रियार्थसम्बन्धानुसारात् ज्ञानोत्पादनस्याचोद्यमेव । न च सतोऽपि बाह्यस्य क्षणिकत्वं प्रत्यभिज्ञानेनैकताध्यवसानात् अन्तरा च विनाशहेतुनूपलम्भात्सामग्र्यधीनत्वाच्च कार्योत्पादस्य स्थासुतायामपि क्रमयौगपद्यादिना तदसम्भवादिचोद्यानवकाश एवेत्येषा दिक् । एवञ्चेदयथोपलम्भमर्थस्थितेर्महाभूतानि तावत् सत्यान्वेव । यत् तु तत्सत्यत्वे तत्संघधर्मतया मदशक्तिवद् विज्ञानोत्पत्तौ नैरात्म्यप्रसङ्ग इति तदपि बाह्यार्थानुभूतिवदात्मनोऽप्यनुभवत एव सिद्धेरकिञ्चित् ॥ १३८ ॥

किञ्च—

महाभूतानि सत्यानि यथात्मापि तथैव हि ।

कोऽन्यथैकेन नेत्रेण दृष्टमन्येन पश्यति ॥ १३९ ॥

यथैव ह्यनुभूयमानत्वान्महाभूतानि पृथिव्यादीनि सत्यानि एव-
मेवानुभवितृत्वादात्मापि सत्य एवेत्यभिप्रायः । अन्यथा हि भूतधर्मत्वे ज्ञा-
नस्यानुभवितारमन्तरेण एकेनाक्षणा दृष्टं पुनस्तदेवेदं पूर्वदृष्टमित्यन्येनाक्षणा
कः पश्येत् कोऽनुसन्दध्यादित्यभिप्रायः ॥ १३९ ॥

एतदेव भूयः स्पष्टयति —

वाचं वा को विजानाति पुनः संश्रुत्य संश्रुताम् ।
अतीतार्थस्मृतिः कस्य को वा स्वप्नस्य कारकः ॥ १४० ॥
प्रपञ्चार्थमेतत् ॥ १४० ॥

अपिचानुभवत एवात्मतत्त्वावगम किमत्र युक्त्या प्रयोजनम् । यो ह्ययं रजस्तमो-
भ्यामुपप्लुतचेताः —

जातिरूपवयोवृत्तविद्यादिभिरहङ्कृतः ।
सक्तः शब्दादिविषये कर्मणा मनसा गिरा ॥ १४१ ॥
स एवापरोक्षस्वसंवित् नात्मेत्यभिप्रायः ॥ १४१ ॥

किञ्च यस्तावद्योगसंसिद्धः स निर्विकल्पमपरोक्षमद्वयं ब्रह्मावबुध्यत एव । इतरेऽपि
कुतार्किकचोद्याभिमानी यः —

स सन्दिग्धमतिः कर्मफलमस्ति न वेति वा ।
संप्लुतः सिद्धमात्मानमसिद्धोऽपि हि मन्यते ॥ १४२ ॥

योऽसौ कुतार्किकमानी सन्दिग्धमतिस्तमसा संप्लुतोऽवष्टब्धः सो-
ऽपि यदैवमतिपाण्डित्याद् विकल्पयति कर्मफलमस्ति नवेति तदा सिद्धं
निश्चितं शरीरव्यतिरिक्तमात्मानं मन्यत एव । असिद्धोऽपि योगदर्शना-
नपेक्षोऽपीत्यर्थः । यत्त्विदमुक्तं कथं महाभूतसत्यत्वे व्यतिरिक्तस्यात्मनः
शरीरतया निबन्ध इति तन्महाभूतानामप्यात्मस्वरूपत्वेनाव्यतिरेकित्वाद्-
चोद्यमेव । यथानुभवानुसारेण विज्ञानात्मसत्यत्वाच्चोद्यमेवेति चेत् । न ।
निमित्तान्तरस्य सम्भवात् ॥ १४२ ॥

तथा हि —

मम दारसुतामात्या अहमेषामिति स्थितः ।
हिताहितेषु भावेषु विपरीतमतिः सदा ॥ १४३ ॥
ज्ञेऽज्ञे च प्रकृतौ चैव विकारे चाविशेषवान् ।
अनाशकाग्निप्रवेशजलप्रपतनोद्यमी ॥ १४४ ॥
एवं वृत्तोऽविनीतात्मा वितथाभिनिवेशवान् ।
कर्मणा द्वेषमोहाभ्यामिच्छया चैव बध्यते ॥ १४५ ॥

एवं श्लोकद्वयोक्तवृत्तोऽलीककुतार्किकचोद्याभिनिवेशवान् अविनीतः साधारणविशेषात्मकेन कर्मणा मानसाभ्यां च द्वेषमोहाभ्यां भोगातिविषये-
च्छया च व्यतिरिक्तोऽपि बध्यत इत्यभिप्रायः । मम दारपुत्रादयोऽहं चै-
षामित्यन्योन्यमुपकार्योपकारकतया योऽवस्थितः हिताहितेषु चादृष्टार्थसा-
न्दष्टिकार्थेषु च भावेषु यो विपरीतबुद्धिः सान्दष्टिक एव हिताभिमानी
अहिताभिमानी चेतरेषु तथा ज्ञे च ज्ञातरि वेदार्थविदि अज्ञे च कुतार्कि-
कादौ प्रकृतौ चात्मनि विकारे च रजस्तमोलक्षणे विशेषानभिज्ञः अतश्च
धर्मबुद्ध्याभिमानादनाशकादावुद्युक्तो यः एवंवृत्तः, स बध्यते इति व्या-
ख्यातमेतत् ॥ १४३ — १४५ ॥

एवञ्च महावोर संसारमापन्नस्यायं तनुमोचनप्रकारोपदेशः —

आचार्योपासनं वेदशास्त्रस्यार्थविवेकिता ।
तत्कर्मणामनुष्ठानं सङ्गः सद्भिर्गिरः शुभाः ॥ १४६ ॥
स्त्रधालोकालम्भविगमः सर्वभूतात्मदर्शनम् ।
त्यागः परिग्रहाणां च जीर्णकाषायधारणम् ॥ १४७ ॥
विषयेन्द्रियसंरोधस्तन्द्रयालस्यविसर्जनम् ।
शरीरपरिसंख्यानं प्रवृत्तिष्वघदर्शनम् ॥ १४८ ॥

१. 'चा' क. ड. पाठः २. 'त्येवमन्यो', ३. 'रित' ग. पाठः. ४. 'याव'
क. पाठः. ५. 'वा दृष्टादृष्टार्थसाधका' ग. पाठः. ६. 'आवर्मे घ' क. ड. पाठः.
७. 'स्यादि व्या', 'व ॥' ग. पाठः.

नीरजस्तमसः सत्त्वशुद्धिर्निस्पृहता शमः ।

एतैरुपायैः संशुद्धः सत्त्वयोग्यमृतीभवेत् ॥ १४९ ॥

आचार्योपासनादिभिरेतैरध्यर्धश्लोकत्रयोक्तैरुपायैः सम्यक् शुद्धः सात्त्विको योगं प्राप्य कैवल्यज्ञानादमृतीभवेद् ब्रह्मत्वं प्राप्नुयादित्यर्थः । स्पष्टमन्यत् ॥ १४६ — १४९ ॥

योगात् कैवल्यमुक्तम् स एव तु योगः कथं स्यादित्युच्यते —

तत्त्वस्मृतेरुपस्थानात् सत्त्वयोगात् परिक्षयात् ।

कर्मणा सन्निकर्षाच्च सतां योगः प्रवर्तते ॥ १५० ॥

तत्त्वानि पृथिव्यादीनि तेषामागमानुविधानेनात्माभेददर्शनं तत्त्व-
स्मृतिः तस्यास्तत्त्वस्मृतेरुपस्थानादुद्भवात् नीरजस्तमस्कत्वेन च सत्त्वयोगाद्
जन्मान्तरकृतानां च ध्यानादिना परिक्षयात् कर्मणां सन्निकर्षाच्च सम्ब-
न्धात् सतां साधूनां योगः परानन्दप्राप्तिलक्षणः प्रवर्तते इति व्याख्येयम्
॥ १५० ॥

यद्यपि च कथञ्चिद्युक्तस्यापि प्रमादात् परप्राप्तिर्न स्यात्, तथाप्याधुनिकफलतयैव
तावत् —

शरीरसंक्षये यस्य मनः सत्त्वस्थमीश्वरम् ।

अविप्लुतस्मृतिः सम्यक् स जातिस्मरतामियात् ॥

शरीरसंक्षये उत्क्रान्तिकाले यस्य मनो विषयानासक्तं सत्त्वस्थमीश्व-
रमपराधीनं रागाद्यनभिभूतं, स सम्यगविनष्टस्मृतिः श्रेष्ठ जातिस्मरतामि-
यात् जातिस्मरतां प्राप्नुयात् । ततश्च पुनरपि योगसंबन्धादमृतीभवत्ये-
वेत्यभिप्रायः ॥ १५१ ॥

किञ्च स्वयंकृतैरेव शुभाशुभैः कर्मभिर्युज्यमानः —

यथाहि भरतो वर्णैर्वर्तयत्यात्मनस्तनुम् ।

नानारूपाणि कुर्वाणस्तथात्मा कर्मजस्तनुम् ॥ १५२ ॥

प्रायश्चित्ताध्यायः यतिधर्मप्रकरणं चतुर्थम् ।

५

उपसंहारार्थः श्लोकः । भरतो नटः स यथा स्वां तनुं भूमिकाविशेषानुसारेण वर्णैर्वर्तयति, एवं कर्मजोऽपि विज्ञानात्मा नानाविधानि शुभाशुभानि कर्माणि कुर्वन् विचित्रासु योनिषु संभूतिं निर्वर्तयतीत्यर्थः ॥ १५२ ॥

ननु च जातिस्मरत्वेऽयविकलाङ्गस्यैव धर्माद्यनुष्ठानसामर्थ्यात्तत्रैव तावदुपायो वक्तव्यः । उच्यते । नात्रोपायाभिधानमुपयुज्यते, स्वाभाविकत्वादविकलाङ्गताया । तथा हि—

कालकर्मात्मबीजानां दोषैर्मातुस्तथैव च ।

गर्भस्य वैकृतं दृष्टं नाङ्गहानं हि जन्मतः ॥ १५३ ॥

कालदोषः प्रतिषिद्धरात्र्युपगमादिकः । गर्भाधानादिकर्मणि वैगुण्यमक्रिया वा कर्मदोषः । अनिष्टस्यन्तराभिधानादिकस्त्वात्मदोषः । अल्पत्वादिको बीजदोषः । परपुरुषाभिधानं मातृदोषः । एवमादिभिर्दोषैर्गर्भविक्रियां वैरूप्यं, नतु जन्मतः स्वभावतोऽङ्गहानमित्यभिप्रायः ॥ १५३ ॥

यत्त्विदमुक्तं कथमक्षरस्य ब्रह्म । ससारापत्तिरिति, अत्रोच्यते —

अहङ्कारेण मनसा गत्या कर्मफलेन च ।

शरीरेण च नात्मायं मुक्तपूर्वः कदाचन ॥ १५४ ॥

अन्य एव ह्यसौ नित्यमवस्थितः परमानन्दरूपः परमात्मा । अयं त्वन्य एव । तदविभागेऽप्यनादितयैवावच्छिन्नो विज्ञानात्माहङ्कारादिभिः, शरीरेण च न वियुक्तः । तस्यैव चायं परब्रह्माभिदप्राप्त्यर्थो भगवत आम्नायस्य प्रयत्नः ॥ १५४ ॥

अस्यैव च परप्राप्त्युपदेशो मार्गस्य यदि परं रोगितया विधातः, तत्रायेतदुच्यते —

दाता सत्यः क्षमी प्राज्ञः शुभकर्मा जितेन्द्रियः ।

तपस्वी योगशीलश्च न रोगैः परिभूयते ॥ १५५ ॥

निगदोक्तः श्लोकः ॥ १५५ ॥

१. 'व्यः ना' क. पाठः. २. 'तः । यत्त्वि' क. ड. पाठः. ३. 'वाय' ग. पाठः.
४. 'ह्यप्रा' क. ड. पाठः. ५. 'चाय प' ग. पाठः.

ननुच साधारणविशेषात्मकस्य कर्मणोऽनादिनिधनत्वाद् यथैवानादि शरीरस-
बन्धः, तथैवानन्तोऽपि । ततश्चानिमोक्षप्रसङ्गात् तत्प्रतिपादनप्रयामानर्थक्यमेव स्यात् ।
उच्यते—

वर्त्याधारस्नेहयोगाद् यथा दीपस्य संस्थितिः ।

विक्रियापि च दृष्टैवमकाले प्राणसंक्षयः ॥ १५६ ॥

आरम्भकानादितया ह्यारभ्यस्यानादितैव स्यान्न त्वनन्ततयानन्त-
तापि । न ह्यवश्यं कारणविनाशादेव कार्यविनाशः, तत्संज्ञावेऽप्यन्यतो ना-
शदर्शनात् । तथाच वर्त्याधारस्नेहयोगात् तदारभ्यस्य प्रदीपादेर्यावत्कारणं
च संस्थितिर्दृष्टा निमित्तान्तरादपि वाताद्यभिघाताद् विक्रिया । एवमात्मनो-
ऽपि कर्मकार्यशरीरसंबन्धिनस्तदनुच्छेदेऽप्यन्यतस्तत्त्वावबोधादेरकाले प्राण-
संक्षयः सूक्ष्मावच्छेदकलिङ्गादिसंक्षय इत्यर्थः । सांसारिकत्वेऽपि चैवमेव
तीव्रफलकर्मादिसन्निपातात् पुरुषस्य शरीरसंक्षयो योज्यः ॥ १५६ ॥

तदिदानीं प्राणसंक्षयहेतुभूत तत्त्वावगमोपायं प्रपञ्चयति —

अनन्ता रश्मयस्तस्य दीपवद्यः स्थितो हृदि ।

सितासिताः कद्रुनीलाः कपिलापीतरोहिताः ॥ १५७ ॥

योऽसौ पूर्वव्याख्यातो दीपवद् हृदि निदिध्यास्यतयावस्थितस्तस्य
प्राप्त्युपायास्तदवभासकतया अनन्ता रश्मयो नाड्यः सितादिवर्णाः । सिता
चोत्र शुक्ला निष्कलङ्का परप्राप्तिरभिप्रेता । तदुपायतया च नाड्यां ताच्छ-
ब्दघम् । एवं कद्रादिष्वपि योज्यम् । सितैकैव । अन्याः सर्वा असिताः ।
तत्प्रपञ्चः कद्रुनीलो इत्यादिकः । यथाविप्रकर्षं योज्यम् । कद्रुशब्दः कु-
त्सितगत्यर्थो नीलादिविशेषणो न वर्णवचनः । कुत्सितगत्यर्था नीलाः
कद्रुनीलाः कद्रुपिङ्गला इति च योज्यम् । आपीता हरिताः । तथाचा-
म्नायः — “तस्मिन् शुक्लमुत नीलमाहुः पिङ्गलं हरितं लोहितं चे”त्यादि-
॥ १५७ ॥

१. ‘प्या’, २. ‘त्संभवे’, ३. ‘रायुषः श’, ४. ‘दि चात्र’, ५. ‘लादि’
ग. पाठः.

प्रायश्चित्ताध्यायः यतिधर्मप्रकरणं चतुर्थम् ।

६१

परप्राप्त्युपायभूतश्च सुषुप्ताख्यो हृदयादूर्ध्वमृजुर्मूर्धानमभिप्रस्थित^१ शुक्लो रश्मिः —

ऊर्ध्वमेकः स्थितस्तेषां यो भित्त्वा सूर्यमण्डलम् ।
ब्रह्मलोकमतिक्रम्य तेन याति परां गतिम् ॥ १५८ ॥

काम्योपासनयोगाद् ब्रह्मार्पणन्यायेन वा य कर्मण्यवस्थितः —

यदस्यान्यद् रश्मिशतमूर्ध्वमेव व्यवस्थितम् ।
तेन देवनिकायानां स धामानि प्रपद्यते ॥ १५९ ॥

वस्वादयो देवनिकायाः । स्पष्टमन्यत् ॥ १५९ ॥

यस्तु कामात्मको राजसः खलु कर्मानुसारेणैव —

येऽनेकरूपाश्चाधस्ताद् रश्मयोऽस्य मृदुप्रभाः ।
इह कर्मोपभोगार्थास्तैश्च सञ्चरतेऽवशः ॥ १६० ॥

कृतव्याख्यानः श्लोकः ॥ १६० ॥

एवञ्चैतत् परावरं ब्रह्मणः स्वरूपमालोच्य सर्वस्यात्माधिगमव्यतिरिक्तस्य प्रयासस्य निष्प्रयोजनत्वाद् यथाकथञ्चित्स्वशक्त्यनुसारेणात्मानं ज्ञातुं हे मुनय ! प्रयत्नः क्रियतामित्येवं यागीन्द्रो वक्तुमाह —

वेदैः शास्त्रैः सविज्ञानैर्जन्मनामरणेन च ।

आध्या गत्या तथागत्या सत्येन ह्यनृतेन च ॥ १६१ ॥

श्रेयसा सुखदुःखाभ्यां कर्मभिश्च शुभाशुभैः ।

निमित्तशकुनज्ञानैर्ग्रहसंयोगजैः फलैः ॥ १६२ ॥

तारानक्षत्रसञ्चारैः जलजैः स्वप्नजैरपि ।

आकाशपवनज्योतिर्जलभूतिमिरैस्तथा ॥ १६३ ॥

मन्वन्तरैर्युगप्राप्त्या मन्त्रौषधिबलैरपि ।

वित्तात्मानं विद्यमानं कारणं जगतः सदा ॥ १६४ ॥

सर्वप्रकारं वेदादिभिर्मन्त्रौषधिबलान्तैर्यथासामर्थ्यमात्मानं वित्तं वेत्तुं प्रयत्निनो भवथ । यथाशक्ति आत्मज्ञानाय प्रयत्नः क्रियतामित्यभिप्रायः ।

वेदाद्युपायासंभवेऽपि जन्ममरणादिभिरपि निमित्तशकुनज्ञानादिभिरपि मन्त्रौषधिबलैरपि, न त्वसंभाव्योपायतयात्मज्ञानाय शैथिल्यं कार्यम्, अवश्यं चात्मज्ञानं कार्यमित्येवम्परत्वादारम्भस्य । न मन्त्रौषध्यादावत्य-
भिनिवेशः कार्यः । वेदैस्तत्त्वज्ञानोपायभूतैः, शास्त्रैः व्याकरणादिभिः शास्त्रैः, सविज्ञानैः विविधेतिहासादिज्ञानसहितैः । जन्मना इहावधारणाशक्ता-
वन्येनापि जन्मनेत्यर्थः । आमरणेन च यावज्जीवमत्यभियोगेनेत्यर्थः । चशब्दो जन्मान्तरशतैरप्यपराभङ्गप्रदर्शनार्थः । आध्या महत्यापि मनः-
पीडया । गत्या देशान्तरगमनेन । अगत्या एकावस्थानतया । तथाशब्द-
श्चैवंभूतप्रकारान्तरार्थः । सत्येनैकात्म्यदर्शनेन । अनृतेन चतुर्भुजादिक-
ल्पितोपासनाप्रकारेण । श्रेयसा पारिव्राज्येन । सुखदुःखाभ्यां कर्मभिश्च
शुभाशुभैरिति चशब्देन सुखादीनां समुच्चयाद् गार्हस्थ्येनेत्यर्थः । सुखं
गन्धमाल्यादिसेवनम्, असुखं यमनियमावस्थितिः, शुभं कर्माभिहोत्रादि,
अशुभं कर्म सर्वस्वारादिः विहितत्वेऽपि मरणसंबन्धादशुभत्वम्, असाम-
र्थ्यं च ज्ञानक्षमशरीरान्तरोत्पादकत्वात् प्रकृतोपयोगित्वम् । निमित्ता-
दिज्ञानैश्च अभ्युदयकालमुपलक्ष्यानिर्वेदेन पुनः पुनः प्रवृत्त्यर्थं निमित्तं
दक्षिणाक्षिस्पन्दनादि उदगयनादि च । शकुनज्ञानं वायसरुतादिज्ञानम् ।
ग्रहसंयोगश्चन्द्रबलादिः । तारानक्षत्रसञ्चारः क्रूरग्रहैर्जन्मनक्षत्राद्यपीडनम् ।
जलजानि तीर्थयात्रादीनि । स्वप्नजानीष्टस्वप्नदर्शनानि । अपिशब्दः पूर्वव-
दुपायत्वसंभावनार्थः । आकाशादिभिश्च परमार्थतः पुराणदर्शनानुसारेणो-
त्पन्नैर्जायमानैस्तिमिरैश्च तदनुसारेणैवादित्यरूपात्मतत्त्वावरोधकैः तथैव
तदुक्तप्रकारेणैवापनीयमानैः । तद्दर्शनादेव च मन्वन्तरयुगादिप्राप्त्या काल
चक्रज्ञानेनापि । प्रज्ञास्थैर्यहेतुभिर्मन्त्रौषधिबलैर्वित्तात्मानम् । कथंलक्षणं,
विद्यमानं सदा विद्यमानं कालत्रयपरामर्शशून्यमित्यर्थः । कारणं जगत
इत्युक्तार्थमेतत् । न चायमतिपरोक्षः केवलागमिकत्वमात्रेण श्रद्धेय आ-
त्मलक्षणोऽर्थः, किं तर्हि, प्रमाणान्तरमत्रोक्तमेव “महाभूतानि सत्यानि
यथात्मापि तथैवे”त्यत्र ॥ १६१—१६४ ॥

१. 'पि च ज', २. 'सत्त्वसंभा' ग. पाठः. ३. 'तैश्च व्या', ४. 'पि इत्यपरम'
ड. पाठः. ५. 'रार्थः', ६. 'नि फलानि । त्व' ग. पाठः.

भूयश्चोपसंहारार्थं सौहृदात् तदेव स्पष्टयति —

अहङ्कारः स्मृतिर्मेधा द्वेषो बुद्धिः सुखं धृतिः ।

इन्द्रियान्तरसञ्चार इच्छाधारणजीविते ॥ १६५ ॥

स्वप्नेसर्गश्च भावानां प्रेरणं मनसोऽगतिः ।

निमेषश्चेतना यत्न आदानं पाञ्चभौतिकम् ॥ १६६ ॥

यत् एतानि चिह्नानि दृश्यन्ते परमात्मनः ।

तस्मादस्ति परो देहादेही सर्वग ईश्वरः ॥ १६७ ॥

मेधा प्रज्ञातिशयः । धृतिर्धारणा । इन्द्रियान्तरगृहीतस्य परामर्शः इन्द्रियान्तरसञ्चारः । इच्छया यदधारणं शरीरस्य तत्पगित्यागः तदिच्छा-धारणम् । स्वप्नेऽनेकविधो विद्यमानभूतसर्गः स्वप्नेसर्गः । तथाचाम्नायो-ऽपि — “न तत्र रथा” इत्युपक्रम्य “अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजत” इत्यादि । प्रेरणं तु मनसो जाग्रदवस्थायामपि । अगतिर्मनसः सुषुप्तावस्था-याम् । निमेषः सर्वकायिकचेष्टोपलक्षणम् । चेतना अन्तर्वर्तिनी । प्रयत्नः सर्वप्रकारः । आदानं ग्रहणं त्रिविधकर्मानुसारेण । पाञ्चभौतिकं पृथिव्या-दिपञ्चभूतविषयम् । यत्तश्चैतानि भूतधर्मवैलक्षण्येन परमात्मनश्चिह्नभूतान्यु-पलभ्यन्ते, तस्मादस्ति देहाद् देहवर्तिनः क्षेत्रज्ञाद् व्यतिरिक्तोऽन्यो देही क्षेत्रज्ञः सर्वगतः परः परमात्मा ईश्वरः कर्मणा ग्रहीतुमशक्यः आनन्दोऽज-रोऽमृत इत्यर्थः । अत्र च जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तावस्थानुयायित्वं महाभूताद्या-दानोपपत्तिश्चाव्यतिरेकाभिप्रायेण परमात्मलिङ्गम् । अवशिष्टानि तु विज्ञा-नात्मसाधारणान्यपि ब्रह्मणः परावरात्मकत्वसिद्ध्यर्थं प्रसङ्गादुपन्यस्तानी-त्यवगन्तव्यम् । स्पष्टमन्यत् ॥ १६५—१६७ ॥

— इदानीं क्षेत्रज्ञपत्योर्विवेकं परावरत्वं च ब्रह्मण क्षेत्रज्ञाभिधानानुगमद्वारेण स्पष्टीक-रोति —

बुद्धीन्द्रियाणि सार्थानि मनः कर्मेन्द्रियाणि च ।

अहङ्कारश्च बुद्धिश्च पृथिव्यादीनि चैव ह ॥ १६८ ॥

बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुरादीनि । एषामर्था रूपादयः । अहङ्कारः प्रत्य-
गात्मन्यवमर्शोऽन्यकारणासंसृष्टो बुद्धिनिमित्तकः । बुद्धिरनुभवहेतुफला-
क्रिया । चशब्दादव्यक्तं प्रधानाख्यं, तच्च न सांख्याभिमतं सत्त्वादिगुण-
साम्यावस्थात्मकं, किन्तर्हि जगत्कारणभूतं साधारणात्मकम् । तदुक्तं —
“यो द्रव्यदेवतात्यागसंभूतो रस” इत्यत्र । सत्त्वादीनां त्वात्मगुणत्वमेव ।
स्पष्टमन्यत् ॥ १६८ ॥

एतच्चतुर्विंशतितत्त्वात्मकं यन् क्षेत्रम् —

अव्यक्त आत्मा क्षेत्रज्ञः क्षेत्रस्यास्य निगद्यते ।

ईश्वरः सर्वभूतानां सन्नसन् सदसच्च सः ॥ १६९ ॥

अस्य चतुर्विंशतितत्त्वात्मकस्य वेत्ताधिष्ठातृत्वेन फलभोक्तृतया
चेश्वरोऽव्यक्तं च कर्मण्यवस्थितः कर्मावबद्धो यः क्षेत्रज्ञ इत्येवं ब्रह्मविद्भिः
स निगद्यते । तथाच व्यासः —

“एतद् यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः”

इति । यद्वा आत्मविशेषणत्वेनाव्यक्त इत्येतद्योजनीयम् । अव्यक्तो रू-
पाद्यसंसृष्ट इत्यर्थः । सर्वभावानां तु क्षेत्रक्षेत्रज्ञात्मकानां य ईश्वरः स पर-
मात्मा इत्येवमनयोर्भेदः । भूतशब्दो भावमात्रतया क्षेत्रज्ञवचनोऽपि । य-
श्चायं परमात्मा सन् असन् सदसच्च, सः सन् क्षेत्रज्ञतया असन् परमा-
त्मरूपतया सदसदित्येवं व्यपदेशात् । परमार्थतस्तु यत् सदसच्च यत् त-
त्सर्वं स एव सदसदात्मकः, तथैवोपलम्भात् । तथाचाम्नायः — “द्वे वा
व ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चामूर्तं चे”ति ॥ १६९ ॥

इदानीं क्षेत्रज्ञोत्पत्तिक्रमं दर्शयति —

बुद्धेरुत्पत्तिरव्यक्तात् ततोऽहङ्कारसंभवः ।

तस्मात्स्वादीनि जायन्ते एकोत्तरगुणानि तु ॥ १७० ॥

सुषुप्तावस्थायामेव तावत् सर्वविज्ञानमहाप्रलये सत्यव्यक्तादुपभो-
गनिमित्तात् कर्मणः सकाशाद् बुद्धेरुत्पत्तिः । ततश्च प्रबोधात् प्रत्यगा-

१. ‘ल’ क ख. पाठः. २. ‘म्यात्म’, ३. ‘तसा’ ड. पाठः. ४. ‘न चे-
श्वरः फ’, ५. ‘क्ते क’, ६. ‘वमादि योज’ ७. ‘त्रज्ञा’, ८. ‘रह’ ग. पाठः.

प्रायश्चित्ताध्यायः यतिधर्मप्रकरणं चतुर्थम् ।

६५

त्मन्यवबोधादहङ्कारसम्भवः । तथैव बाह्यविषयप्रसङ्गादाकाशादीन्येको-
त्तरगुणान्येकद्वित्रिचतुष्पञ्चगुणानित्यर्थः । तद्ग्राहकत्वप्रयुक्तानि च तद्वि-
कारापत्त्या तदात्मकानीन्द्रियाणि मनश्चादावेव स्वविषयानुसारात् स-
दसदात्मकमित्येषा प्रक्रिया सृष्टिप्रलयोपवर्णनादौ सर्वत्र पुराणादिष्वपि
योज्या ॥ १७० ॥

यानि च खादीन्यत्राकाशपवनज्योतिर्जलपृथिव्यन्तानि एकोत्तरगुणत्वेन महाभूता-
न्युक्तानि—

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः ।

उत्तरत्र चशब्दः पूर्वगुणसमुच्चयार्थः रसश्चेत्यत्रापिच्छन्दोनुरोधा-
दनुच्यमानोऽपि द्रष्टव्यः ।

सृष्टौ च—

यो यस्मिन्नाश्रितस्तेषां स तत्रैव प्रलीयते ॥ १७१ ॥

भूतेषु च गुणानां प्रलयात् परमात्मनो निर्गुणत्वसिद्धिः ॥ १७१ ॥

इदानीं पूर्वोक्तमर्थं कात्स्न्येनोपसंहरति—

यथात्मानं सृजत्यात्मा तथा वः कथितं मया ।

विपाकस्त्रिप्रकाराणां कर्मणामीश्वरोऽपि सन् ॥ १७२ ॥

उक्तनिगदार्थः श्लोकः ॥ १७२ ॥

त्रिरूपकर्मविपाकात्मकमव्यक्तमदृष्टं प्रधानाख्यं संसारप्रवृत्तिर्बाजं न पुनस्तन्त्रान्तरा-
भिप्रायेण सत्त्वादिगुणसाम्यलक्षणं, यतो न सत्त्वादयः प्रकृतिगुणाः, किन्तर्हि—

सत्त्वं रजस्तमश्चैव गुणास्तस्यैव कीर्तिताः ।

आत्मनो न प्रकृतेरित्यर्थः ।

यद्येवं कथं तर्हि बन्धमुक्त्यादिव्यवस्था, उच्यते—

रजस्तमोभ्यामाविष्टश्चक्रवद् भ्राम्यते हि सः ॥ १७३ ॥

तदुच्छेदात् तु सत्त्वगुणयोगात् स्वरूपावस्थितेर्मुच्यत एवेत्यभि-
प्रायः ॥ १७३ ॥

१. 'यप्रहणप्र', २. 'मा' ड. पाठः.

इदानीं परावर ब्रह्मोपसंहर्तुमाह —

अनादिमानादिमांश्च य एष पुरुषः परः ।

लिङ्गेन्द्रियैरुपग्राह्यः सविकार उदाहृतः ॥ १७४ ॥

महदादिभिर्विकारैः क्षेत्रलक्षणमहदादिसम्बन्धादादिमान् क्षेत्रज्ञः, यश्चानादिरकलङ्कः परमात्मा उभयरूपत्वाल्लिङ्गेन्द्रियोपग्राह्यतया उदाहृतः, स एष भगवानुभयप्रकारः सदसदात्मना विश्वरूपः परमात्मैवेत्यवगन्तव्यम् । नात्र व्यामोहः कार्य इत्यभिप्रायः । लिङ्गादीन्यहङ्कारादीन्यात्मविषयत्वेन, इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि प्रकृतिविषयत्वेनेत्येवं योजना ॥ १७४ ॥

यश्चाय क्षेत्रज्ञतया प्रविभक्तः तस्येन्द्रियोपलब्धवाह्यलिङ्गसंसृचितमुत्कर्षापकर्षहेतुमार्गमाह —

पितृयाणोऽजवीथ्याश्च यदगस्त्यस्य चान्तरम् ।

तेनाग्निहोत्रिणो यान्ति प्रजाकामा दिवं प्रति ॥ १७५ ॥

“यदस्यान्यद्रश्मिशतमि”त्याद्यनन्तरं मार्गाभिधानं, तस्यैवेदमुपलक्षणत्वेन बाह्येमार्गः (मु० उ०) च्यते — यदेतदजवीथ्यगस्त्ययोरन्तरं स पितृयाणः पन्थाः । तेनाग्निहोत्रिणः प्रजाकामाः कर्ममात्रनिष्ठाः संवत्सरोपासका यान्ति । एवं मार्गान्तरेऽपि योज्यम् । पुराणे हि भगवतः सवितुर्बह्वथो वीथ्यो दिवि पद्धतयः श्रूयन्ते । तत्रागस्त्यस्यानन्तरा अजवीथी । स्पष्टमन्यत् ॥ १७५ ॥

किञ्च —

येऽपि दानपराः सम्यगष्टाभिश्च गुणैर्युताः ।

तेऽपि तेनैव गच्छन्ति सत्यव्रतपरायणाः ॥ १७६ ॥

दया सर्वभूतेषु क्षान्तिरनसूयेत्यादयोऽष्टावात्मगुणाः । प्रसिद्धमन्यत् ॥ १७६ ॥

यश्चानेन मार्गेण शुद्धोक्तः, तत्र —

अष्टाशीतिसहस्राणि मुनयो गृहमेधिनः ।

पुनरावर्तिनो बीजभूता धर्मप्रवर्तकाः ॥ १७७ ॥

तिष्ठन्तीति शेषः । तस्यां हि जनस्थानसंज्ञायां दिवि गृहमेधिनो गृहस्थाः कर्मणाग्निहोत्रादिना लोकजितः संसारबीजभूताः प्रलीयमानधर्मोद्धारप्रवर्तकाः अष्टाशीतिसहस्रास्तत्परिमाणा अग्निहोत्रादिना तत्र यान्ति । पुनर्धर्मप्रवर्तनायेहाभिमुख्येन वर्तन्त इत्येवं तत्प्रवर्तकाः पुनरावर्तिन इति व्याख्येयम् ॥ १७७ ॥

देवयानेनाप्येवमेव मार्गेण —

सप्तर्षिनागवीथ्योस्तु देवलोकं समाश्रिताः ।

तावन्त एव मुनयः सर्वारम्भविवर्जिताः ॥ १७८ ॥

अयमपि पूर्ववत् ॥ १७८ ॥

सप्तर्षिनागवीथ्योरन्तरालेन च योऽयं लोकः —

तपसा ब्रह्मचर्येण संगत्यागेन मेधया ।

यातास्तत्रावतिष्ठन्ति यावदाभूतसंश्लवम् ॥ १७९ ॥

ननुच कार्यार्थत्वाद् वेदस्य प्रमाणान्तरस्य च भावान्निर्मूलकमिवेदं मार्गादिनिरूपण लक्ष्यते, सत्यं, यदि कार्यार्थतयैव वेदस्य प्रामाण्यं स्यात् । स्वरूपेऽपि तु प्रामाण्यमिष्यत एव —

यतो वेदाः पुराणं च विद्योपनिषदस्तथा ।

श्लोकाः सूत्राणि भाष्याणि यत्किञ्चिद्वाङ्मयं क्वचित् ॥

वेदानुवचनं यज्ञो ब्रह्मचर्यं तपो दमः ।

श्रद्धोपवाससातत्यमात्मनो ज्ञानहेतवः ॥ १८१ ॥

यदिहि कर्मानुष्ठानमात्रनिमित्ततया क्रियैव वेदार्थः स्यात्, ततः स्वरूपपरता न स्यात् । यदा तु नियोगसिद्धिरेव वाक्यार्थः, तदा नियोज्यत्वावगमै एव तत्सिद्धिः । प्रतिपन्नात्मस्वरूपस्यैवं निर्वर्तितनियोगता स्यात् । ततश्चात्मस्वरूपावगतिरेव वेदार्थ इति स्वरूप एवावसितं वेदस्य प्रामाण्यम् । किञ्च कार्यतया व्युत्पत्तेः कार्ये प्रामाण्यमुक्तम् । न च प्रार्थस्य कार्यत्वोपपत्तिः ।

१. 'द्वि । य', २. 'ज्य तत्त्वा', ३. मत ए' ड. पाठः. ४. 'व च नि' ग. पाठः. ५. 'हि' ड. पाठः.

को हि परार्थं बुद्धिपूर्वकारी कुर्यात् । अतः स्वार्थ एव कार्यं, न चान्योऽतः कश्चिदात्मनोऽर्थोऽन्यत्र स्वरूपज्ञानादिति तदेव कार्यमवशिष्यते । अतश्च पारमार्थिकं तत्रैव भगवतो वेदस्य प्रामाण्यम् । तथाचोक्तं — “चेदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तामित्याद्येवंजातीयकमर्थं शक्नोत्यवगमयितुमिति । एवंजातीयकम् आत्मस्वरूपमित्यर्थः । तथाचेन्द्रियान्तरप्रतिषेधस्ताद्विषयतयैवोपपद्यते “नान्यत्किञ्चनेन्द्रियमिति । अन्यथा हि विध्यर्थे तत्प्राप्त्यभावादाकस्मिक एव प्रतिषेधः स्यात् । अतो ब्रह्मस्वरूप एवाभ्यासस्य प्रामाण्यं स्यात् । तदेव च पारमार्थिकं विध्यर्थसतत्त्वम् । यत्तु अग्निहोत्रादिकार्यावबोधनं, तद् अवान्तरवाक्यार्थतया तदपेक्षितावेद्याव्युदासपरत्वेन तदुपायतयैव प्रमाणान्तराविषयतया कार्यव्यपदेशभागित्यवसेयम् । एवं चेन्मार्गादिस्वरूपप्रतिपादनेऽप्यविरुद्धं कार्यव्यपदेशित्वमित्येषा दिक् । तद्विशयति — यतो वेदाः पुराणं चेत्येवमादयः सर्व एवात्मनो ज्ञानहेतवः, शब्दप्रवृत्तेस्तत्परतयैव व्युत्पत्त्यवधारणात् । ततः स्वरूपेऽप्यव्याहृतं प्रामाण्यं वेदस्य । अतश्च मार्गादिस्मृतेरप्यनवद्यं वेदमूलत्वमित्यभिप्रायः । पुराणं चेतीतिहासार्थश्चशब्दः । विद्या मीमांसादिका । उपनिषदां पृथग्वचनं वेदभागान्तरस्य तादर्थ्यप्रदर्शनार्थम् । तथा श्लोकाः उपनिषत्सूत्रस्थानीया मन्त्रा एव । “तदप्येते श्लोकाः — अणुः पन्था विततः पुराण” इत्यादिकाः । उपनिषत्सूत्रताप्रतिपत्त्यर्थमेव च तेषां पृथग्वचनम् । तद्विवरणार्थान्येव चार्थवादादिवाक्यानि भाष्याणि । प्राधान्याच्चायमुपनिषदामतिप्रपञ्चः । किञ्च यत्किञ्चिद्वाङ्मयं क्वचिदिति । लोके ह्यप्यात्मपरतयैव शब्दव्युत्पत्तिरित्यर्थः । एवञ्च वेदानुवचनादिस्तादर्थ्येनैव चातुराश्रम्यप्रयासः । तथाभ्यासः — “तमेत वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्तत्यादि । गुरुक्तस्यानुपाठो वेदानुवचनम् । आद्यं ब्रह्मचर्यम् । यज्ञा इति गार्हस्थ्योपलक्षणम् । ब्रह्मचर्यं नैष्ठिकत्वम् । तपो दम इति वानप्रस्थत्वम् । श्रद्धोपवाससातत्यमिति पारिव्राज्यं, “अष्टौ ग्रासां मुनेर्भक्तम्” इति वचनात् । लघ्वशनार्थो वायमुपवासशब्दः । व्याख्यातमतन्यत् ॥ १८०, १८१ ॥

यतश्चैतदेवम् अतः —

स ह्याश्रमेर्निदिध्यास्यः समस्तैरेवमेव तु ।

सर्वारम्भाणां तत्परत्वादित्यभिप्रायः ।

किञ्च —

द्रष्टव्यस्त्वथ मन्तव्यः श्रोतव्यश्च द्विजातिभिः॥१८२॥

द्विजातिवचनं द्वितीयस्योपनयनजन्मनस्तादर्थ्यप्रदर्शनार्थम् । द्रष्ट-
व्यः प्रत्यक्षादिना । श्रोतव्य आगमात् । मन्तव्यस्तर्केण । क्रमभेदश्छन्दो-
नुरोधात् । निदिध्यास्यः साक्षात्कर्तुं योगमार्गेण ॥ १८२ ॥

पूर्वोक्तमार्गद्वयानुसारिणश्च —

य एवमेनं विदन्ति ये चारण्यकमाश्रिताः ।

उपासते द्विजाः सत्यं श्रद्धया परया युताः ॥१८३॥

अरण्यमेवारण्यकम् । एवं विदन्तीति प्रक्रमानुसारादिह हिरण्यगर्भा-
द्यवान्तरं ब्रह्मस्वरूपम् । स्पष्टमन्यत् ॥ १८३ ॥

ये चैवं विदुः —

क्रमात् ते सम्भवन्त्यर्चिरहःशुक्लं तथोत्तरम् ।

अयनं देवलोकं च सवितारं सवैद्युतम् ॥ १८४ ॥

ततस्तान् पुरुषोऽभ्येत्य मानसो ब्रह्मलौकिकान् ।

करोति पुनरावृत्तिस्तेषामिह न विद्यते ॥ १८५ ॥

अर्चिरादिमार्गोऽयं परमात्मविषयो यथोपासनासामर्थ्यं क्रमेणाने-
कविधलोकजयहेतुः पौराणिकैः प्रपञ्चितः । वैद्युत इन्द्रो मानसादभिध्या-
नात् संस्तुतः । अयमेवान्तरात्मा मानसः पुरुषः । अनागमनं चात्र तद्भा-
वापत्तिः । इह ब्रह्माण्डान्तर्वर्तिनि विकारे पुनरावृत्त्यभावः । स्पष्टम-
न्यत् ॥ १८४, १८५ ॥

अजवीथिमार्गावस्थित्या च —

यज्ञेन तपसा दानैर्ये हि स्वर्गजितो नराः ।

धूमं निशां कृष्णपक्षं दक्षिणायनमेव च ॥ १८६ ॥

१. 'यन्त' ग. पाठः. २. 'य', ३. 'स्कृ' ग. पाठः. ४. 'तिः ब्र' ड. पाठः.
५. 'गैस्वि' ग. पाठः.

पितृलोकं चन्द्रमसां नमो वायुं जलं महीम् ।

क्रमात् ते सार्वभौमं पुनरेवं व्रजन्ति च ॥ १८७ ॥

धूमादिक्रमेण चन्द्रान्ततयान्तरोक्तन्यायेन गतिं प्राप्य पुनराका-
शादिक्रमेण पृथिवीं प्राप्नुवन्ति । ततश्च पुनरेवोत्कृष्यमाणाश्चक्रवर्त्तु क्रमात्
संसारबीजभावं प्रतिपद्यन्ते इत्यवसेयम् । ऋज्वन्यत् ॥ १८६, १८७ ॥

रजस्तमोभ्यामितिपरिप्लवादुपयोगोक्तचेताः —

एतद् यो न विजानाति सार्गद्वितयमात्मनः ।

दन्दशूकः पतङ्गो वा भवेत् कीटोऽथवा कृमिः ॥ १८८ ॥

तस्यापि च क्षीणाभुसस्य कश्चित्तुण्योदयाद् यज्ञाद्युपयोगितां प्राप्य
पुनरुत्कर्षसिद्धिः । दन्दशूको दन्तनशीलः सर्पादिः । स्पष्टमन्यत् ॥ १८८ ॥

इदानीमिति सौहृदात् १८८ मात्मनोऽनुत्तमभूत् योगमार्गसम्प्रदायमाह —

ऊरुस्थोत्तानचरणः सव्ये न्यस्येतरं करम् ।

उत्तानं किञ्चित्तुल्यस्य सुखं विष्टभ्य चोरसा ॥ १८९ ॥

निमीलिताक्षः सत्त्वरथो दन्तैर्दन्तानसंस्पृशन् ।

तालुस्थाचलजिह्वश्च संवृतास्यः सुनिश्चलः ॥ १९० ॥

सन्निरुध्येन्द्रियगामं जातिनीचोच्छ्रितासनः ।

द्विगुणं त्रिगुणं वापि प्राणायाममुपक्रमेत् ॥ १९१ ॥

योगशास्त्रान्तरानुसारात् प्राणायामो रेचकादिलक्षणोऽवसेयः । स्प-
ष्टमन्यत् । एते च पद्मासनादयो मनःसमाधानहेतुत्वेनार्थप्राप्ता एव यो-
गाङ्गतया नियम्यन्ते । अतश्चान्यथाप्येकाग्रता न विरुध्यत इति केचित् ।
तथाच दक्षेणोक्तं — “न च पद्मासनोद्योग” इत्यादि । तत्तु निया-
मकत्वाच्छास्त्रस्यायुक्तमेव । दक्षवचनं त्विन्द्रियजयप्रशंसार्थत्वादविरुद्धम्
॥ १८९ — १९१ ॥

१. 'तु सं' ग. पाठः. २. 'ज्ञोप', ३. 'रप्राप्त्यु', ४. 'गमा',
५. 'आनुसारेण प्रा', ६. 'सा यो', ७. 'ति।त', ८. 'द्वमेव। प्रा' ग. पाठः.

प्राणायामैवात्मानं संशोध्य —

ततो ध्येयः स्थितो योऽसौ हृदये दीपवत् प्रभुः ।

धारयेत् तत्र चात्मानं धारणां धारयन् बुधः ॥ १९२ ॥

योऽसौ हृदये दीपवदन्यप्रकाश्यः सर्वस्य प्रकाशकत्वेनावस्थितः परमात्मोपरतबाह्यप्रपञ्चः, स एव ध्येयः । हृदये चावस्थितो दर्शनश्रवणमननादिभिर्निदिध्यास्यतया यस्तत्रावस्थितस्तद्विषयत्वेनापास्तमेदां धारणां प्रसंख्यानादिकां धारयन्नुभयात्मकस्यापि ब्रह्मणः कैवल्यात्मकतैयैव तत्रात्मानं धारयेद् बुधः प्रतिपन्नोभयात्मकान्तर्यामिरूपब्रह्मस्वरूपः परं ब्रह्मोपरतध्यातृध्येयात्मस्वरूपात्मनात्मानं तत्र धारयन्तं चात्मन्यकलङ्कमभयमपुनरावृत्तम् अपरोक्षमानन्दमपास्ताखिलव्यपदेशं पर्येदित्यादिप्रपञ्चनीयम् ॥ १९२ ॥

प्रतिपन्नान्तर्यामिस्वरूपस्य योगसिद्धस्य परब्रह्मणो निदिध्यासनमुक्ता, तस्यैव त्वधिकारिणो लक्षणं वाच्यमित्यत आह —

अन्तर्धानं स्मृतिः कान्तिर्दृष्टिः श्रोत्रज्ञता तथा ।

निजं शरीरमुत्सृज्य परकायप्रवेशनम् ॥ १९३ ॥

अर्थानां छन्दतः सृष्टिर्योगसिद्धेस्तु लक्षणम् ।

सिद्धे योगे त्यजन् देहममृतत्वाय कल्पते ॥ १९४ ॥

अन्तर्धानं परैरनुपलभ्यत्वम् । स्मृतिः समाव्यवगतस्याविस्मरणं, नित्यं तथैवाव्यवधानेन प्रतिपत्तिरित्यर्थः । कान्तिरशनायाद्यपगमः । दृष्टिर्भविष्यदादावव्याघातः । श्रोत्रग्राह्यत्वाच्छ्रोत्रं शब्दः, तदर्थज्ञत्वं श्रोत्रज्ञता । तथाशब्दाद् वेदानुसन्धानानपेक्षत्वेनेत्यर्थः । निजं च वैशेषिकमसाधारणं कर्मारभ्यं शरीरं निजतयैवासाधारणप्रत्ययग्राह्यत्वेनोत्सृज्य सदसदात्मकत्वेन प्रागुक्तविश्वरूपात्मकं परकायप्रवेशनमेकत्वापत्तिः । यत् पुनः शरीरतयैव परकायप्रवेशनं, तन्मन्त्रविद्यास्वप्यस्तीति नात्रोपयुज्यते इत्येवमेव व्याख्येयम् । अर्थानां महदहङ्कारादीनां छन्दतः इच्छातः सृष्टिर्विसर्ज-

१. 'यः, तत्राबहिर्विष' ड. पाठः. २. 'ति' ड. पाठः. ३. 'तैव', ४. 'यस्व', ५. 'त्र तु धा' ग. पाठः. ६. 'ति योजनी' ड. पाठः. ७. 'स्य प', ८. 'रल', ९. 'क्षिणेल' ग. पाठः. १०. 'ण' ड. पाठः. ११. 'कं', १२. 'तिरिच्छर्थः । य' ग. पाठः.

नमुत्पादनं वा । स्पष्टमन्यत् । एवञ्चान्तर्याम्यात्मना सिद्धे योगे त्यजंस्तथा परावरभावात्मकध्येयध्यातृव्यपदेशभाक्त्वेन देहं परं ब्रह्मरूपतया अमृत-
त्वायापुनरावृत्तये कल्पते घटत इत्यर्थः ॥ १९३, १९४ ॥

एवमेतत्प्राप्तिपर्यन्तं पारिव्राज्यमुक्तं विशुद्धसत्त्वानां तत्त्वविदाम् । यस्त्वत्र मनोवाक्का-
यिकानामन्यतमदोषेणासमर्थः, तं प्रतीममन्यं पारिव्राज्यप्रकारभेदमाह —

अथवाप्यभ्यसन् वेदं न्यस्तकर्मा सुते वसन् ।

अयाचिताशी मितभुक् परां सिद्धिमवाप्नुयात् ॥ १९५ ॥

ग्रन्थार्थरूपतया जपानुवचनादिना वेदमभ्यसन् परित्यक्ताग्निहोत्राद्य-
नुष्ठानोऽनुपलक्षितलिङ्गविशेषो भैक्षेणैव वर्तेत । अथवा तदशक्तावयाचि-
ताशी अष्टग्रासादिना मितभुक् पुत्रगृहादौ वसेत् । एवमपि परां सिद्धिं प्रा-
प्त्युपायलक्षणां(?) ब्रह्मत्वं प्राप्नुयादिति ॥ १९५ ॥

यद्यपि पारिव्राज्यमधिकृत्यायं मुक्त्युपदेशः, तथाप्याश्रमस्यातन्त्रतैव, यदृच्छया
प्रचारमात्रव्युदासहेतुत्वादपवर्गस्य च ज्ञानैकसाध्यत्वात् । यतश्चैतदेवमतः —

न्यायार्जितधनस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः ।

श्राद्धकृत् सत्यवादी च गृहस्थोऽपि विमुच्यते ॥ १९६ ॥

श्राद्धशब्दः समस्तगृहस्थधर्मोपलक्षणार्थः । स्पष्टमन्यत् ॥ १९६ ॥

इति यतिधर्मप्रकरणम् ।

अथ प्रायश्चित्तधर्मप्रकरणम् ।

एवं प्रत्यात्मिकान् सर्वाश्रमाणां साधारणांश्च धर्मानभिधायेदानीं नैमित्तिकान्, दोष-
निर्घातार्थान् प्रायश्चित्तात्मकान् धर्मानुपदिदिक्षुः प्रतिषेधातिक्रमहेतुकं दोषमेवादौ प्रपञ्च-
यितुमाह —

महापातकजान् घोरान् नरकान् प्राप्य गर्हितान् ।

कर्मक्षयात् प्रजायन्ते महापातकिनस्त्वह ॥ १९७ ॥

महापातकमुपपातकं वा कृत्वा प्रायश्चित्तमकृत्वा ये म्रियन्ते, ते तन्निमित्तप्रभवान् घोरान् यमलोकसंबन्धिनस्तामिस्रादीनेकविंशतिनरकानतिशयेन गर्हितानेकद्वित्रिसामस्त्यादिनानुभूय तीव्रकर्मफलोपभोगेन क्षीणे पुनस्तदवशिष्टोपभोगायेह वक्ष्यमाणप्रकारेण महापातकिनो जायन्ते इति व्याख्येयम् । यदितु कृत्स्नकर्मक्षयादेवेति व्याख्यायेत, ततो महापातकिनस्त्वहेत्यसंबद्धं स्यात् । अतः कर्मक्षयादित्येवं व्याख्येयम् ॥ १९७ ॥

तत्र नरकान् वक्ष्यति । यथा त्विह जायन्ते तथा प्रपद्यति —

श्वसूकरमृगोष्ट्राणां ब्रह्महा याति योनिषु ।

खरपुल्कसवेनानां सुरापो नात्र संशयः ॥ १९८ ॥

कृमिकीटपतङ्गत्वं स्वर्णहारी समाप्नुयात् ।

तृणगुल्मलतात्वं च क्रमशो गुरुतल्पगः ॥ १९९ ॥

श्वदयः प्रसिद्धाः । सूकरश्चात्र ग्राम्यः श्वसन्निधानात् । मृगशब्दोऽपि प्रक्रमानुसारात् सृगालादिषु द्रष्टव्यः । उदाहरणार्थत्वाच्चोपन्यासस्य नात्रातीव स्मृत्यन्तरैः सह विषयविभागाय यतितव्यम् । महापातकजान् घोरान् नरकान् प्राप्येति चोपक्रमात् कामकृतमहापातकादिविषयोऽयं प्रपञ्चो वेदितव्यः । घोरगर्हितकर्मजन्यतया कारणानुरूप्येण कार्यसंबन्धविशेषस्यार्थवत्त्वात् । इतरथा तु नरकशब्दादेव तत्सिद्धेर्निष्प्रयोजनत्वं स्यात् । ततश्च स्मृत्यन्तरेष्वप्येवमेवं व्याख्येयम् । तथाचात्मनायः — “सह तत एव प्राक् प्रवव्राज” इत्युपक्रम्य “इत्थं वा इमेऽमुष्मिन् लोके सचन्ते तान् वयमिह प्रतिसचामह” इति कामकृत एव यातनां दर्शयति । तथाच व्यासः —

“कामकारकृतं पापं नरकेषूपभुज्यते ।

इहैव प्राप्नुयुः क्लेशानकामकृतपातकाः ॥”

इति । अतो यद्यपि स्मृत्यन्तरेषु अकामकृतेऽपि किञ्चिद्घातनातिशयवचनं स्यात्, तथोप्यत्यन्तवर्जनार्थं निन्दापरत्वेन व्याख्येयम् । खरपुल्कसवेनानां

१. ‘न्धिविषयस्या’, २. ‘वायं प्रपञ्चो व्या’, ३. ‘यः’, ४. ‘द’ ग पाठः.

सुरापो नात्र संशयः इत्यसंशयवचनं निन्दार्थवादाशङ्कानिवृत्त्यर्थम् । खरशब्दश्च गर्दभादिसदृशतिर्यग्योन्युपलक्षणार्थः । पुत्कसः क्षत्रियायां शूद्राज्जातः । वेनो नटः । कृमिकीटादित्वं च स्वर्णहारी समाप्नुयात् । संशब्दोऽतिशयदुःखप्रतिपत्त्यर्थः । तृणादिकांश्चानेकविधान् स्थावरभावान् गुरुतल्पगः प्राप्नुयात् । क्रमश इति वदन्नेकेनैव निमित्तेनानेकविधानेकजन्मप्राप्यं क्लेशसंबन्धं दर्शयति । स्पष्टमन्यत् ॥ १९८, १९९ ॥

एवं क्रमशस्तिर्यग्योनित्वमनुभूय ततश्चातुर्वर्ण्यविषये जायन्ते । तत्रापि तु —

ब्रह्महा क्षयरोगी स्यात् सुरापः श्यावदन्तकः ।

हेमहारी तु कुनखो दुश्चर्मा गुरुतल्पगः ॥ २०० ॥

क्षयो राजयक्ष्मा । श्यावदन्तादयः स्पष्टाः । दौर्धर्म्यं च स्त्रीणामपि यथासंभवं द्रष्टव्यम् । अकामकृतेऽपि च पापे यः प्रायश्चित्तं समर्थः सन् न कुर्यात्, तस्याप्येता नरकयातनाः स्वकर्मानुरूप्येण द्रष्टव्याः । क्षयरोगादीनि च लिङ्गान्यशक्त्याप्यकृतप्रायश्चित्तानां भवन्त्येव । तथाच

“इह दुश्चरितैः केचित् केचित् पूर्वकृतैस्तथा ।

प्राप्नुवन्ति दुरात्मानो नरा रूपविपर्ययम् ॥”

इति । इह दुश्चरितैरिति वचनादिहापि जन्मनि दुश्चरितैः प्रायश्चित्तैः पूर्वजन्मकृतैश्चाचरितप्रायश्चित्तैः तथाशब्दान्नरकाद्युपभोगान्ते कथञ्चिन्निमित्तान्तरादकृतप्रायश्चित्ताः सन्तो दुराचारात्मानो विरूपकशरीरैः सन्तः स्वाभाविकशुक्लदन्तादिविपर्ययं श्यावदन्तादिकं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥ २०० ॥

एवं तावच्चतुर्णां महापतकिमासुक्तं, तत्संपर्के तु —

यो येन संपिबत्येषां स तल्लिङ्गोऽभिजायते ।

येषां पतितानां यो येन संपिबति स तदीयेनैव क्षयरोगादिना लिङ्गेन व्यस्तसमस्ततया संसर्गानुरूप्येण जायत इत्यर्थः । अभिशब्दाच्च तदभिजनत्वेन क्षयरोगादियुक्तयोरेव पित्रोः तदनुरूपलिङ्गो जायत इति द्रष्ट-

१. 'तु सु', २. 'तु', ३. 'नि लि' ग. पाठः. ४. 'चिद्वा निमि', ५. 'राः स्वा' ड. पाठः. ६. 'षां चतुर्णां प' ग. पाठः.

व्यम् । यदि तु स तल्लिङ्गेऽभिजायते इति पाठस्तदा स्वयमनेवंलिङ्गत्वेऽपि यो यल्लिङ्गे कुले जायते स तथामृतपतितसंसृष्ट इत्यवगन्तव्यम् । अतश्च तैरपि प्रायश्चित्तं कर्तव्यमेवेत्युत्तरत्रापि योज्यम् ॥

महापातकव्यतिरेकेणापि रूपविपर्यया भवन्त्येवेत्येतत् प्रपञ्चयितुं चौर्यविषये तावद् दर्शयितुमाह —

अन्नहर्तामयावी स्यान्मूको वागपहारकः ॥ २०१ ॥

धान्यमिश्रयतिरिक्ताङ्गः पिशुनः पूतिनासिकः ।

तैलहृत् तैलपायी स्यात् पूतिवक्त्रस्तु सूचकः ॥ २०२ ॥

आमयावित्वं तु मन्दाग्निता । वागपहारकः यो गरादि दत्त्वा कु-
वैद्यतया वा मिथ्योपचारेण वाचमपहरति । अधीत्य वापलापः अनभ्यनुज्ञा-
ताध्ययनं च वागपहार इत्यन्ये । तच्च ब्रह्मस्तेयमुच्यते न वागपहरणम् ।
यथाह मनुः —

“ब्रह्म यस्त्वननुज्ञातमधीयानादत्राप्नुयात् ।

स ब्रह्मस्तेयसंयुक्तो नरकं प्रतिपद्यते ॥”

इति । विक्रयाद्यर्थं धान्यस्यान्यमिश्री धान्यमिश्री । पिशुनः परगुणापहारी ।
पूतिनासिकः कुथितनासिकः । तैलहृत् तैलमात्रस्य हर्ता । तैलपायी
कीटाविशेषः । पूतिवक्त्रः कुथितमुखः । सूचकः परस्यार्थलाभादिप्रसङ्गे तद्धि-
नाशाय वाग्दोषोद्भावकः । स्पष्टमन्यत् ॥ २०१, २०२ ॥

तथा —

परस्य योषितं हत्वा ब्रह्मस्वमपहृत्य च ।

अरण्ये निर्जले देशे जायते ब्रह्मराक्षसः ॥ २०३ ॥

परस्योत्कृष्टस्य जातितो गुणतो वा योषितं स्त्रीत्वेनोपभोग्यां ब्रह्मस्वं
च ब्राह्मणद्रव्यं ज्ञातिं वापहृत्य ब्रह्मराक्षसो भवतीति व्याख्येयम् । ब्रह्मणा
वेदात्मकेनाधिकल्पेनान्तर्बहिश्च दह्यमानोऽत्यन्तयातनाशरीरो ब्रह्मराक्षसः ।
वेदाध्यायिन एवैतद् ब्रह्मराक्षसत्वं सामर्थ्याद् द्रष्टव्यम् । अतश्च श्रुताध्य-

१. 'मित्येवमुक्त', २. 'पितु रु', ३. 'शेषे ता', ४. 'यति—अ',
५. 'कत्वेना' ड. पाठः. ६. 'री' ग. पाठः.

यनसम्पन्नेनापि परस्योत्कृष्टस्य भार्या नोपगन्तव्या । तथाचाम्नायः —
 “तस्मादेवंविच्छ्रोत्रियस्य जाययोपहासं नेच्छेद् उत ह्येवंवित् पराभव-
 ती”ति । तथा “स वा एष निरिन्द्रियो निर्वीर्यः क्षीणसमस्तसुकृतश्च अयिते-
 तस्य किमन्यदीदृशाद् ब्रह्मराक्षसत्वाद् भवेदि”ति । अतः सूक्तमरण्ये निरु,
 दके ब्रह्मराक्षसो जायत इति ॥ २०३ ॥

हीनजातौ प्रजायन्ते रत्नानामपहारकाः ।

पत्रं शाकं शिखी हृत्वा गन्धाश्चुच्छुन्दरी शुभान् ॥

मानवे तु —

“मणिमुक्ताप्रवालानि हृत्वा लोभेन मानवाः ।

विविधानि च रत्नानि जायन्ते हेमकर्तृषु ॥”

इति स्वर्णकारित्वं दर्शितम् । इह तु हीनजाताविति । तद् मनुवचनस्या-
 न्त्यलक्षणार्थत्वादविरुद्धं, स्वर्णकारजातेर्वीत्यन्तनिकृष्टत्वप्रतिपत्त्यर्थम् ।
 स्पष्टमन्यत् ॥ २०४ ॥

मूषिको धान्यहारी स्याद् यानमुष्ट्रः फलं कपिः ।

अजः पशुं पयः काको गृहकार उपस्करम् ॥ २०५ ॥

यानं गन्ध्यादि । फलमाग्रादिकम् । पशवोऽश्वादयः । पयो दुग्धम् ।
 गृहकारो मृत्तिकासूकरिकः । स्पष्टमन्यत् ॥ २०५ ॥

मधु दंशः पलं गृध्रो गां गोधार्मिं बकस्तथा ।

श्वित्री वस्त्रं श्वा रसं तु चीरी लवणमेव च ॥ २०६ ॥

मधु माक्षिकं मद्यं वा । पलं मांसम् । गामिति चात्र स्त्री प्रत्येतव्या,
 पशुग्रहणेनैव गोमात्रस्योक्तत्वात् । तथाशब्दोऽत्र संस्कृतौपासनादिप्रका-
 रभेदेनाग्निहरणेऽनेकविधबकादिजातिप्रतिपत्त्यर्थः । तथोत्तरत्रापि वस्त्रगतर-
 क्तादिप्रकारभेदानुरूप्येण श्वित्रस्य रक्तशुक्लादिभेदप्रतिपत्त्यर्थः । श्वा

१. ‘यो विमुक्तकृद् अस्माद्धोकात् प्रैतीति यश्चैवभूतो निरिन्द्रियो नि’, २. ‘वा-
 प्दास्य’ ग. पाठः, ३. ‘स्त्री गौः प्र’ ग. पाठः ४. ‘तिपक्षिप्र’ ड, पाठः.

प्रसिद्धः । अरसमिति वा, तुल्यत्वात् संहितायाः । नीरसं पर्युषितादि हृत्वा श्वयोनिं प्राप्नुयात् । तुशब्दोऽवधारणार्थः । आदरार्थं चैतत् । यत्र पर्युषितादिहरणेऽपि श्वा भवति तत्राभ्यधिकहरणे न विद्मः किं भविष्यतीति प्रदर्शयितुम् । चीरी नाम निदाघकालेऽटवीषु वाश्यते कीटविशेषः ॥ २०६ ॥

इदानीमुपसंहरति —

प्रदर्शनार्थमेतत् तु मयोक्तं स्तेयकर्मणि ।

द्रव्यप्रकारा हि यथा तथैव प्राणिजातयः ॥ २०७ ॥

स्तेयकर्मणीत्युपलक्षणार्थम् । सर्वत्र वधकर्मण्यभक्ष्यकर्मणि परदार-भिगमनकर्मणि च स्वकर्मानुरूप्येण तिर्यग्योनिषु मानुष्ये चानेकविधवै-रूप्यव्याधितारिष्यबन्धुवियोगादिर्वधबन्धनादिक्लेशश्च प्रपञ्चनीयः । एतदेव प्रपञ्चयति । ह्रियमाणद्रव्यप्रकारा हन्यमानप्राणिप्रकारा अभिगम्यमान-परदारादिप्रकाराश्च यथानेकविधाः, तथैव तदुपभोगायानेकविधप्राणिजा-तयोऽपि । अतः स्वकर्मानुरूप्येण प्रतिषिद्धसेवनाद् विहित तुष्टानाद् अन्यत्रापि परिवित्यादौ निमित्ते प्रायश्चित्ताकरणात् तासु तासु दुःखोप-भोगबहुलासु योनिषु उत्पादक्लेशादिप्राप्तिः प्रपञ्चनीया ॥ २०७ ॥

एतदेव स्पष्टयति —

यथाकर्म निषेव्यैवं तिर्यक्त्वं कालपर्ययात् ।

जायन्ते लक्षणभ्रष्टा दरिद्राः पुरुषाधमाः ॥ २०८ ॥

पापकर्मणो विशेषानुरूप्येण नरकांस्तिर्यग्योनित्वं चानुभूय ततः कालपर्ययात् सत्पुरुषोचितलक्षणरहिता दरिद्राः पुरुषाधमाश्च जायन्ते, न तेषामुत्कर्षः सम्भवतीत्यभिप्रायः । अतोऽवश्यं तैरिहापि जन्मनि प्रायश्चित्तं चरितव्यम् । तथाच वसिष्ठेनोक्तं — “कुनखी कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वात्मानमुद्धरेदिति” । अतोऽनेवंलिङ्गैरपि दरिद्रैः पुरुषाधमैश्च प्रायश्चित्तं कर्तव्यमेवेत्यभिप्रायः । यतश्च कौनख्यादिलक्षणयोगित्वमपि तिर्यग्योनिग्रहणादेव गृहीतं, ततश्च कालपर्ययात् तदप्यनुभूय तैर्लक्षणैः कौनख्यादिभिर्भ्रष्टाः सन्तो दरिद्राः पुरुषाधमाश्च जायन्ते । ततश्च प्रायश्चित्तं कर्तव्यमेवेत्यभिप्रायः ॥ २०८ ॥

ये पुनः कृत्वापि पापानि तदनुरूपप्रायश्चित्तानि सम्यगनुतिष्ठन्ति, तेषामपुण्यानुवृत्ति-
र्मेनागपि यतो नास्ति —

ततो निष्कल्मषीभूताः कुले महति भोगिनः ।

जायन्ते लक्षणोपेता धनधान्यसमन्विताः ॥ २०९ ॥

स्पष्टार्थः श्लोकः । अन्ये तु तत एवाशुभकर्मोपभोगान्निष्कल्मषी-
भूता इति व्याचक्षते । तत्तु मन्दप्रयोजनं विपरीतार्थं चेति नादर्थव्यम्
॥ २०९ ॥

इदानीं यस्मिन् निमित्ते प्रायश्चित्तं कर्तव्यं, तद् दर्शयति —

विहितस्याननुष्ठानान्निन्दितस्य च सेवनात् ।

अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति ॥ २१० ॥

विहितस्य स्मार्तस्य सन्ध्योपासनाष्टकादेः श्रौतस्य चाग्निहोत्रादेर-
ननुष्ठानात् । निन्दितस्य च अर्थतः प्राप्तौ सत्यां प्रतिषिद्धस्य सेवनात् । अत
एवच प्रतिषिद्धस्येति वक्तव्ये निन्दितस्येत्युक्तम् । अन्यथाहि शब्दप्राप्त-
स्यापि षोडशीग्रहणादेर्निषिद्धस्य सेवनात् पतनप्रसङ्गः स्यात् । इन्द्रियाणां
चानिग्रहात् प्रायश्चित्ताकरणादित्यर्थः । नरग्रहणं सार्ववर्णिकत्वप्रदर्शना-
र्थम् । पतनमृच्छतीति च पतनं प्रायश्चित्ताहर्त्वमेवाभिप्रेतं न तु द्विजा-
तिकर्मभ्यः, तस्य महापातकविषयत्वात् । तथाच मानवे “प्रायश्चि-
त्तीयते नरः” इति प्रायश्चित्ताहर्त्वमेवोक्तम् । ननुच प्रायश्चित्ताकरणमपि
विहिताननुष्ठानमेव, मैवं, दोषनिर्घातार्थं हि प्रायश्चित्तं, न त्वग्निहोत्रा-
दिवच्चैमित्तिकमात्रम् । अतस्तदकरणाद् दोषनिर्घात एव न स्याद् न त्वभ्य-
धिकदोषत्वम् । अस्मिन्ननिग्रहाच्चेन्द्रियाणामिति वचने सति न केवलं दो-
षनिर्घातो न भवति, अतिरिक्तं च पतनकारणमापद्यते । अतश्च तथावि-
धस्य गुरुत्तरो दण्डः प्रायश्चित्तं च गुरुतरं यथा स्यादित्येवमर्थः प्रयत्नः ।
मानवेऽपिच —

“अकुर्वन् विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन् ।

प्रसजंश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः ॥”

इति प्रायश्चित्ताकरणमेवेन्द्रियार्थप्रसजनं व्याख्येयम् । यदि त्वविहिता-

प्रतिषिद्धविषयाभिप्रायेणातिप्रसङ्गनिवृत्त्यर्थं प्रसजंश्चेन्द्रियार्थेषु इत्युच्येत,
ततः,

“धर्ममर्थं च कामं च यथाशक्ति न हापयेत्”

इत्यनेन विरोधः स्यात्, “कामात्मता न प्रशस्ते”त्यनेनैवातिप्रसङ्गस्य नि-
वारितत्वात् । अतः पूर्वैव व्याख्या ज्यायसी । स्पष्टमन्यत् ॥ २१० ॥

यस्माच्च विहितस्याननुष्ठानान्निन्दितस्य च सेवनात् प्रायश्चित्ताकरणेन चेन्द्रियाणा-
मनिग्रहाच्च गुरुतरप्रायश्चित्ताहर्त्वेन पुरुषस्य पतनप्रसङ्गः —

तस्मात् तेनेह कर्तव्यं प्रायश्चित्तं विशुद्ध्यै ।

एवमस्यान्तरात्मा च लोकश्चैव प्रसीदति ॥ २११ ॥

यस्मिन् निमित्ते सति प्रायश्चित्ताकरणात् पतनप्रसङ्गः, तस्मात् तेन
निमित्तवता पुरुषेण यथाधिकारं रहस्यं वा वक्ष्यमाणेन रहस्यप्रायश्चित्त-
मार्गेण प्रकाशं वा प्रकाशप्रायश्चित्तप्रकारेण प्रायश्चित्तमात्मविशुद्ध्यर्थं लो-
कव्यवहारप्रसिद्ध्यर्थं चावश्यं कर्तव्यम् । इहेत्यानन्तर्यार्थम् । इहैव, निमि-
त्तानन्तरकाल इत्यर्थः । एवञ्च सति अस्य पापकृतोऽन्तरात्मा रहस्यप्राय-
श्चित्तकरणाल्लोकश्च प्रकाशप्रायश्चित्तानुष्ठानात् प्रसीदति प्रसन्नो व्यवहार-
विषये भवतीत्यर्थः ॥ २११ ॥

इतश्च प्रायश्चित्तं निषेधतः कर्तव्यम् । यतः —

प्रायश्चित्तैरपैत्येनो यदज्ञानकृतं भवेत् ।

कामतो व्यवहार्यस्तु वचनादिह जायते ॥ २१२ ॥

प्रायश्चित्तैर्विशेषविहितैः प्रकाशरहस्यात्मकैर्निश्शेषं पापं यस्मादबु-
द्धिपूर्वकृतं बुद्धिपूर्वकृतं वापगच्छति, तस्मात् प्रायश्चित्तान्यवश्यकर्तव्या-
नीति श्लोकस्य समस्तस्यार्थः । ननुच कामकृतं पापं नैव प्रायश्चित्तैरपग-
च्छति । यदिनाम वचनसामर्थ्यादिहानपगतेऽपि संव्यवहार्यत्वं भवति,
भवतु । अत एवोक्तं — कामतो व्यवहार्यस्तु वचनादिह जायते इति ।
अस्मिन्नल्लोके संव्यवहार्यत्वं भवति, न तु पापमपैतीत्यभिप्रायः । तथाचाह
मनुः —

“इयं विशुद्धिरुदिता प्रमाप्याकामतो द्विजम् ।
कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधीयते ॥”

इति । तथा —

“अकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं विधीयते ।”

इति स्वाभिप्रायेणोक्तम् । तथा श्लोकोत्तरार्धेन परमतोपन्यासः कृतः ।

“कामकारकृतेऽप्याहुरेके श्रुतिनिदर्शनात् ॥”

इति । अन्यपरैर्वैदिकैरर्थवादैर्व्यामोहिताः केचित् कामकारकृतेऽपि प्रायश्चित्तमाहुः, न तु तन्ममाभिप्रेतमिति भगवतोऽभिप्रायः । तथाच स्मृत्यन्तरेष्वप्येवंविधान्येव वचनानि वासिष्ठादिषु “अनभिसन्धिकृते प्रायश्चित्तमपराधे” इत्येवमादीनि । अतः स्वमतिपरिकल्पितमिदं कामकारकृतेऽपि प्रायश्चित्तात् पापापगम इति । कथं तर्ह्ययं श्लोकः —

“एनस्विभिरनिर्णिक्तैर्नार्थं किञ्चित् समाचरेत्”

इति । अस्याप्ययमेवार्थः—यावत् प्रायश्चित्तं न कुर्वन्त्येनस्विनः, तावत् तैः सह न कश्चिद् व्यवहारः कार्यः । अत एव चोक्तं —

“कृतनिर्णेजनांश्चैनान् न जुगुप्सेत कर्हिचित्”

इति । एतदुक्तं भवति — यद्यपि कामकृतं पापं प्रायश्चित्तैर्नापगच्छति, तथाप्येनान् कृतप्रायश्चित्तान् व्यवहारविषये न मनागपि जुगुप्सेतेति । अन्यथा ह्यनिर्णिक्तैर्नाचरेदित्युक्ते सामर्थ्यात् कृतनिर्णेजनैः सहाचरणं प्राप्नोत्येव । तत्र कृतनिर्णेजनांश्चैनानित्येतदनारभ्यमेव स्यात् । तस्मात् कामकृते संव्यहार्यत्वमात्रं न पापापगमः । किञ्च यः प्रतिषेधं दृष्ट्वा तदतिक्रमेण प्रवर्तते, स नरकाद्युपभोगमङ्गीकृत्यैव प्रवर्तते । ततश्च तं प्रति प्रायश्चित्तं पापक्षपणार्थत्वेनानपेक्षितत्वाददृष्टार्थं स्यात् । अतो व्याख्येयमेतत् कामतो व्यवहार्यस्त्विति । अत्रोच्यते — प्रायश्चित्तं तावद् दोषवति निमित्ते विधीयमानं फलान्तरानुपपत्तेर्दोषनिर्घातार्थमेव प्रतीयते । तत्र निमित्तगतः श्रूयमाणोऽपि विशेषो “यस्योभयं हविरार्तिमाक्रेदि”तिवदविवक्षितः । तेनोभयत्राविशेषेणैव ब्रह्महत्यादौ प्रायश्चित्तोपदेशः । यद्यु —

“कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधीयते”

इति । तन्निन्दार्थं मरणान्तिकप्रायश्चित्तार्थं वा न तु प्रायश्चित्तनिवृत्त्यर्थं, पूर्वाधेनैव सिद्धत्वात् तथा सत्यानर्थक्यप्रसङ्गः स्यात् । अत एव च कामकृतेऽपि जीवप्रायश्चित्तसिद्ध्यर्थं कामतो व्यवहार्यस्त्वित्यत्रोक्तम् । नन्वत्र व्यवहार्यत्वमिह लोके वचनात् स्यादित्युक्तं, पापं त्वज्ञानकृतमेवापैति नेतरदपीति । नैतद्युक्तं, श्रुतिविरोधात् । यथोक्तम् — “इन्द्रो यतीन् सालावृकेभ्यः प्रायच्छत् तमस्त्रीला वागभ्यावदत् स प्रजापतिमुपाधावत् तस्मादेतदुपह्वयं प्रायच्छदि”त्युपक्रम्य “अभिज्ञस्यमानं याजयेदि”त्युक्तम् । अतश्चोपक्रमसामर्थ्यात् कामकृत एवैतद् विज्ञायते । तथा “एतेन हेन्द्रो दैवापः शौनको जनमेजयं पारीक्षितं याजयाञ्चकारे”त्युपक्रम्य “सर्वा ह वै पापकृत्यां तत् सर्वा ब्रह्महत्यामपहन्ति योऽश्वमेधेन यजत” इति । सर्वग्रहणात् कामकृत एवाश्वमेधो विज्ञायते । अतः पापापनुत्तये प्रायश्चित्तं कर्तव्यं न संव्यवहार्यत्वसिद्ध्यर्थम् । तथाचानन्तरमेवोक्तम् । “पारीक्षिता यजमाना अश्वमेधैः परावरमजहुः कर्म पापकं पुण्याः पुण्येन कर्मणे”ति पापापनोदनत्वं दर्शयति । पुण्याः पुण्येन कर्मणेत्यपुण्यमूलोच्छित्तिमेव स्पष्टयति । अतः प्रत्यक्षश्रुत्यानुगुण्येनैव सृष्टिव्याख्यानं युक्तम् । तथाच मनुः —

“अकामतः कृतं पापं वेदाभ्यासेन शुध्यति ।”

इत्युक्त्वा

“कामतस्तु कृतं मोहात् प्रायश्चित्तैः पृथग्विधैः ।”

इति । मोहश्चात्रावलिसतया श्रुतिस्मृत्योरनादरोऽभिप्रेतो न तून्मादादिलक्षणः, तथाविधस्योन्मत्तादेः कामकृताकामकृतयोरविशेषात् । यो हि प्रत्यक्षादिविषये सम्यग्वर्तमानः शास्त्रार्थं च जानन्नपि नास्तिक्येनातिशयसान्दष्टिकविषयाभिलाषेण चोदितो मोहाच्छास्त्रमसमंज्ञसं मन्यते, तस्य तत्कामतो मोहात् कृतं पापं प्रायश्चित्तैः पृथग्विधैरत्यन्तगुरुभिरपगच्छती-

१. ‘कमेव । न’ ग. पाठः. २. ‘न्द्रोऽतो है’, ३. ‘त्यां, येऽन्तत्’ ड. ‘तान्’ ग. पाठः. ४. ‘सं न’ ड. पाठः. ५. ‘त्समं म’ ग. पाठः.

त्यभिप्रायः । ततश्च कामकृतब्रह्महत्यादौ मरणान्तिकैरेव प्रायश्चित्तैरपनो-
दनप्रसक्तावाचार्येणोक्तं — कामतोऽपि पापं कृत्वाप्रत्यक्षश्रुतिवचनादिहैव
जन्मन्यश्चमेधादिभिः पापं निर्णिज्य व्यवहार्यत्वं जायत इति । किञ्च —
यदि प्रायश्चित्तात् संव्यवहार्यत्वमात्रमेव स्याद् न दोषनिर्घातः, ततो
येन सकृत् कृतं प्रायश्चित्तं, स पुनः कृत्वापि ब्रह्महत्यामसंव्यवहार्यो
न स्यात् । यदि प्रायश्चित्तं दोषापघातार्थं भवेत्, तर्तः कृतप्राय-
श्चित्तस्यापि पुनर्दोषोत्पत्तेस्तन्निर्घाताय प्रायश्चित्तं प्रसज्येत । यदा तु कृ-
तप्रायश्चित्ततैव संव्यवहार्यत्वे हेतुः, तदा सकृत्कृतेऽपि कृतप्रायश्चित्तताया
यावज्जीवमनपगमात् किमित्यसंव्यवहार्यः स्यात् । अथोच्येत — अपा-
पापनोदकत्वेऽपि प्रायश्चित्तस्य नैमित्तिकत्वात् पुनरपि निमित्तोत्पादे सति
प्रसज्यत इति । तदयुक्तं, नैवेदं “भिन्ने जुहोती”तिवद् ब्रह्महत्यादौ नि-
मित्ते नैमित्तिकं प्रायश्चित्तं, किंतिहि असंव्यवहार्यत्वेऽपि सति संव्यवहार्य-
त्वार्थम् । तत्रैव च यद्ययं वचनार्थः— यो ब्रह्महत्यादि कुर्यात्, तमकृतप्रा-
यश्चित्तं न संपिबेदिति । ततो येन सकृत्कृतं तस्यामरणं कृतप्रायश्चित्त-
त्वमस्त्येवेति नासंव्यवहार्यत्वं स्यात् । अथ यदा यदा ब्रह्महत्या भवति,
तदा तदा प्रायश्चित्ते कृते संव्यवहार्यत्वमिति । तथा सति कालार्थः सं-
योगः स्यात् । ततश्च यदि कथञ्चिद्धननानन्तरं न कृतं ततः कालस्या-
पगतत्वादुदितसन्ध्योपासनादिवन्न कश्चिदुपकारः स्यात् । यदिच नैमि-
त्तिकं प्रायश्चित्तं न दोषनिर्घातार्थं, ततश्च यावन्ति प्रायश्चित्तान्युपादि-
श्यन्ते सर्वाणि तान्यविशेषात् कर्तव्यानि स्युः, विकल्पस्य विषयविभा-
गस्य चाभावात् । दोषनिर्घातार्थत्वे हि सर्वप्रायश्चित्तानां समानकार्यत्वाद्
युक्तो विकल्पः । विषयविभागकल्पना च युक्ता । तस्याकामकृतनैमित्तिकत्वे
तु प्रयोजनान्तराभावादसत्येकस्मिन् कार्यविकल्पो निष्प्रमाणकः स्यात् ।
यत्रापि चशब्दोक्त एव वाशब्दाद् विकल्पः यथा —

“हविष्यभुग् वानुसरेत् प्रतिश्रोतः सरस्वतीम् ।”

१. ‘हि’, २. ‘त्त्व’, ३. ‘कमात्रप्रा’, ४. ‘त्र य’, ५. ‘णात् सं’
ग. पाठः.

इत्यादौ, तत्रापि यः कश्चिदनियमेनैकः कल्पः स्यात् । न चात्र गुरुतरकल्पस्यानर्थक्यप्रसङ्गाद् विषयविभागकल्पना युक्ता, तस्याकामकृते दोषनिर्घातार्थत्वेन तद्विशेषार्थत्वसिद्धेः । अथोच्येत — पतितस्यानधिकृतस्य द्विजातिकर्मस्वधिकारसञ्जननार्थानि प्रायश्चित्तानीत्यस्त्येवैककार्यत्वं तेषाम्, अतश्चात्राप्युपपद्यत एव विषयकल्पनेति । तदप्ययुक्तं, पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गादेव । किञ्चाधिकारार्थत्वेऽपि कर्तुरयोग्यत्वव्यावृत्तिं योग्यतां वा प्रायश्चित्तं कुर्यात् । तत्रायोग्यत्वं तावद् ब्रह्महत्यादिनिमित्तम् । तच्च तज्जनितदोषवत्तया कर्तृत्वमात्रेण वा स्यात् । यदिच वधकर्तृत्वमात्रं तत् क्रियानन्तरमेव प्रलीनमिति न तद्व्यावृत्त्या प्रयोजनमस्ति । अथ तूत्तरकालेऽप्यस्ति, तत् प्रायश्चित्तसहस्रेणाप्यशक्यमपनेतुम्, अथ तु दोषवत्तात्मकमयोग्यत्वं, ततः तदुपाकरणद्वारेण शक्या योग्यता कर्तुमिति दोषनिर्घातार्थमेव प्रायश्चित्तं स्यात् । अथ प्रायश्चित्तेनान्यदपूर्वं योग्यत्वं जन्यते न तु दोषवत्तात्मकमयोग्यत्वमपनीयत इत्युच्येत, तथा सत्यन्वारम्भणीयावत् सकृदेव करणं स्यात्, कर्माङ्गता च प्रायश्चित्तानां प्रसज्येत, अत्रापि क्रतूपकारकत्वं तादर्थ्यं च प्रमाणशून्यं कल्प्यं स्यात् । यदिच कामकृतेऽधिकारमात्रार्थतोच्येत, ततो मरणान्तिकं प्रायश्चित्तम् अकामकृत एव स्याद्, जीवप्रायश्चित्तान्येव कामकृते स्युः, मृतस्याधिकारासंभवात्, संव्यवहार्यत्वं हि जीवत एवापेक्षितं यतः । तत्रैवमादीनि वचनान्यसंबन्धानि स्युः । यथापस्तम्बेन “अस्यास्मिन् लोके प्रत्यापत्तिर्विद्यते कल्मषं तु निर्हण्यते” तथा —

“मतिपूर्वमनिर्देश्यं प्राणान्तिकमिति स्थितिः ।”

इत्यज्ञातविषये च विषयोपदेशः । यथा “सुरायाश्चाज्ञाने तप्तकृच्छ्र” इति वासिष्ठं तथा —

“अज्ञानाद् वारुणीं पीत्वा संस्कारेणैव शुध्यति ।”

इति । एवं सर्वस्मृतिष्वेवंजातीयकानामसामञ्जस्यं स्यात् । रहस्ये च प्रायश्चित्तं न स्यात् । अत एवमयं याज्ञवल्कीयश्लोको व्याख्यातव्यः — यथैव प्रायश्चित्तवचनादज्ञातेऽपि प्रतिषिद्धकर्मणि पापं भवति, तच्च प्रायश्चित्तैरपैति, एवमेव कामतोऽपि कृते पापे न मरणान्तिकमेव प्राय-

श्रित्तम्, अपितु “तरति सर्वं पाप्मानमि”त्यादिवचनादिहैव संव्यवहार्यो निष्कल्मषो जायते इत्यलं प्रसङ्गेन ॥ २१६ ॥

एतदेवानन्तरश्लोकेन स्पष्टयति —

प्रायश्चित्तमकुर्वाणाः पापेषु निरता नराः ।

अपश्चात्तापिनः कष्टान् नरकान् यान्ति दारुणान् ॥२१७॥

ये हि कामतः प्रवर्तन्ते, प्रवृत्तिकाले नितरां पापेषु रतिं बध्नन्ति, ते पापेषु रताः सन्तो यद्यपश्चात्तापिनः स्युः, ततः प्रायश्चित्तान्यकुर्वाणाः कष्टान् दुस्सहान् नरकान् प्रतिपद्यन्ते । कष्टवचनात् सिद्धेऽपि पुनर्दारुणानित्यतिशयनिन्दार्थम् । ये त्वकामात् कथञ्चित् पापं कुर्युः, ते नियोगतः पश्चात्तापिनो भवन्त्येव । न च तेषां पापनिरतत्वम् । ते यद्यपि प्रायश्चित्तं न कुर्युः, तथाप्यस्मिन्नेव मनुष्यलोके यातनां प्राप्नुयुरस्मिन्नेव जन्मनि जन्मान्तरे वा, न तु यमलोकसंबन्धिषु तामिस्रादिष्वित्येतत् नरस्तादप्युक्तमेव । तथाच मन्त्रवर्णः — “नो जिह्वायन्तो नरकं पतामः” इति । जिह्वायन्तः कौटिल्येन प्रवृत्ताः, कामकारप्रवृत्ता इति यावत् । अतश्चाकामकृते नैव नरकप्राप्तिः । तथाच व्यासः —

“कामकारकृतं पापं नरकेषूपभुज्यते ।

इहैव प्राप्नुयुः क्लेशानकामकृतपातकाः ॥”

इति । अतश्च दोषनिर्घातार्थत्वात् प्रायश्चित्तस्य तदकरणे कष्टतरनरकप्राप्तिरूपपन्ना ॥ २१७ ॥

नानिदानीं नरकान् दर्शयति —

तामिस्रं लोहशङ्कुश्च महानिरयशल्लमली ।

रौरवं कुड्मलं पूतिमृत्तिकं कालसूत्रकम् ॥ २१८ ॥

संघातं लोहितोदं च सविषं संप्रतापनम् ।

महानरककाकोलं संजीवननदीपथम् ॥ २१९ ॥

अवीचिमन्धतामिस्रं कुम्भीपाकं तथैव च ।

असिपत्रवनं चैव तपनं चैकर्विंशकम् ॥ २२० ॥

अत्र द्वाभ्यां श्लोकाभ्यां षोडश नरकाः, तृतीयेन पञ्च । एवमेक-
विंशतिः । तामिस्रोऽत्यर्थं तमोबहुलः । लोहमयाः शङ्खवो यस्मिन् अनव-
रतं सर्वगात्रेषु निखन्यन्ते, स लोहशङ्कुः । महता रयेण वेगेन नितरां
यत्राजस्रं क्षेपणं, स महानिरयः । ताम्रमया अग्निवर्णाः शल्मलिद्रुमाः क-
ण्टकिनो यत्र परिष्वज्यन्ते, स शल्मलिः । यत्रास्थीनि भित्त्वा रुरुवत् त-
प्तानि लोहमृङ्गाण्युत्तिष्ठन्ति, स रौरवः । कुङ्गुलमित्यविकसितमुच्यते ।
तद्यथा पद्माद्यविकसितं पिण्डीभूतमास्ते, तद्वद् यत्र सर्वाङ्गानि संपीड्य
कुङ्गुलीक्रियन्ते, (स) कुङ्गुलो नाम नरकः । पाठान्तरं च—रौरवं कश्म-
लमिति, केशमलप्रायः । पूतिमृत्तिकः स्पष्टः । कृष्णसूत्रे प्रोक्तं यत्रान्तरिक्षः
स्था धार्यन्ते, तच्च सूत्रं नित्यं चाल्यते, स कालसूत्रकः । यथैव द्वौ मुस-
लिनौ संहृत्य तण्डुलाद्यवघातं कुरुतः, एवं यत्र संहन्यन्ते, स संघातः ।
सर्वेषूदककार्येषु लोहितं यत्र, स लोहितोदः । सविषाः फणिनोऽनवरतं
यत्र भक्षयन्ति, स सविषः । प्रकर्षेणान्तर्बहिश्च तापनात् सम्प्रतापनम् ।
पाठान्तरं तु — ऋषीसं संप्रतापनम् इति । तत्रान्तरुदरे नित्यं गर्भस्थिता-
पच्यन्ते यस्मिन्, स ऋषीसः । यममेक्ष्यान्ये नरकाः कालसूत्रादयो लघवाः,
स महानरकः । लोहतुण्डैः काकोलूकैरहर्निशं तुद्यन्ते यत्र, स काकोलः ।
सञ्जीव्य संजीव्यानेकविधैः प्रकारैर्यत्र प्रमाप्यन्ते, स सञ्जीवनः । वैतरणी
नाम नदी पूयप्रायोदका, सा पन्था यस्य नरकस्य, स नदीपथः । अधो-
मुखा गर्तायामङ्गारपूर्णायां निखाता दावाग्निना यत्रोपज्वाल्यन्ते, सोऽवी-
चिः । अन्धसर्पाः सन्तस्तमिस्रायामिव शकटैः सञ्चूर्ण्यन्ते यत्र, सोऽन्ध-
तामिस्रः । कुम्भीपाकः स्पष्टः । खड्गधारावत् तीक्ष्णानि पत्राणि यस्मिन्
तालवने, तस्मिन् कृप्यन्ते यत्र, सोऽसिपत्रवनः । प्रचण्डः सवितैव यत्र
तपति, न त्वन्यानि महाभूतानि सन्ति, स तपनः ॥ २१८—२२० ॥

एवमेतानेकविंशतिनरकान् स्वकर्मानुरूप्येण —

महापातकजैर्घोरैरुपपातकजैस्तथा ।

अन्विता यान्त्यचरितप्रायश्चित्ता नराधमाः ॥ २२१ ॥

घोरग्रहणं कामकारप्रतिपत्त्यर्थम् । कामकृतमहापातकोपपातकज-
नितैः पापैरन्विता युक्ताः सन्तो ये प्रायश्चित्तं नाचरन्ति नास्तिक्यातिश-

यात्, त एवैतान् नरकान् यान्ति, नत्वकामकृतपापा अपीत्यभिप्रायः । महापातकोपपातकतत्समातिदेशिकव्यतिरेकेणात्र कामकृतेऽपि नैव नरक-प्राप्तिः, तिर्यक्त्वमेव तत्र । यथाह मनुः —

“यद्वा तद्वा परद्रव्यमपहृत्य बलान्नरः ।

अवश्यं याति तिर्यक्त्वं जग्ध्वा चैवाहुतं हविः ॥”

इति । बलात् कामकारादित्यर्थः ॥ २२१ ॥

के पुनस्ते महापातकिन इत्यत आह —

ब्रह्महा मद्यपः स्तेनस्तथैव गुरुतल्पगः ।

एते महापातकिनो यश्चैतैः संपिबेत् समाम् ॥ २२२ ॥

यो ब्राह्मणं स्वातन्त्र्येण प्रयोजकत्वेन वा हन्ति घातयति वा, स ब्रह्महा । मद्यशब्दश्च पैष्ट्यां द्रष्टव्यः । स्तेनश्च ब्राह्मणसुवर्णस्तेनः । गुरुत-ल्पगस्त्वाचार्यस्य पितुर्वा भार्या य उपगच्छति, स विज्ञेयः । तैश्च व्यस्तैः समस्तैर्वा संपिबेत् संगत्य भोजनपानाद्याचरेत् । कियन्तं कालमित्यत आह — समां संवत्सरमित्यर्थः । तथाचाम्नायः —

“स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबंश्च गुरोस्तल्पमावसन् ब्रह्महा च ।

एते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचरंस्तैः ॥”

इति । हिरण्यशब्दश्च विशेषणान्तरादृते सुवर्ण एव प्रयुज्यते । स्थितमे-तच्छान्दोग्ये । “हिरण्यमिति जातरूपं प्रतीयात् सर्वत्र” इति श्रुति-प्रस्थानमेवाङ्गीकृत्य सूत्रकारैरुक्तम् । तथाच चरकाः — “आग्नेयो वै ब्राह्मणः आग्नेयं हिरण्यं तस्मादग्नेये ब्राह्मणाय हिरण्यं दद्याद् यथाग्नय एवाग्नी (ध्रे ? धे) हिरण्यं देयम्” इति प्रकृत्य “न सुवर्णं ब्राह्मणेभ्योऽपहर्तव्यं महद् वा एन एनमार्कति यो ब्राह्मणेभ्योऽपहृत्यावरुन्धत” इति । अतो ब्राह्मणसुवर्णहरणं स्तेयमत्राभिप्रेतम् । तथाच वसिष्ठ एते एव श्रुतिस्मृती उपसंहृत्य महापातकाधिकारे “ब्राह्मणसुवर्णहरणं चे”त्युक्तवान् । सुरां पिबंश्चेत्यत्रापि पैष्ट्येवाभिप्रेता । तस्यामेव मुख्यः सुराशब्दः, गौलीप्रभृ-

१. ‘नाद्या’, २. ‘स’ इ. पाठः. ३. ‘का आहुः — आ’ इ. पाठः. ४. ‘ङी’ च. पाठः.

तिषु तु मद्यसामान्याद् गौणः । ननुच “विज्ञेया त्रिविधा सुरा” इति सर्वासां मुख्यत्वम् । मैवं, नह्यनेकार्थत्वमसति प्रतिबन्धे न्याय्यम् । कथं निर्णय इति चेत् । पैष्ठ्यामेव हि वेदे प्रयोगदर्शनाद् वाजपेये सौत्रामण्यां च सुराग्रहेषु । तथा अग्नीषोमीयब्राह्मणे चरकाणाम् “अथ यन्मल्यमासीत् तत् पश्चात्समदोहत् सुरा वै मल्यं यन्नामानृतं पाप्मा तमः सुरा” इत्येवं सुराशब्दः पैष्ठ्यामेव प्रयुक्तः । तत्रैव चोपसंहारे “तस्माद् ब्राह्मणः सुरां न पिबेद्” इत्युक्तम् । अतः पैष्टीपान एव महापातकं नान्यत्रेति स्थितम् । गुरोस्तल्पमावसेदित्यत्रापि पितर्याचार्ये वा गुरुशब्दः, पितर्येव वा

“निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि ।
संभावयति चाग्नेन स विप्रो गुरुच्यते ॥”

इति मनुवचनात् । पितृत्वोपचाराच्चाचार्ये गौणत्वमेव युक्तम् । यथोक्तं—

“तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते”

इति । एवमन्यत्रापि शब्दार्थविवेकः कार्यः । तथाचाचार्याभ्यां वसिष्ठेन गुरुतल्पातिदेशः कृतः — “आचार्यपुत्रशिष्यभार्यासु चैवम्” इति । यत्तु नारदेनोक्तं —

“माता मातृष्वसा श्वश्रूमातुलानी पितृष्वसा ।

पितृव्यसखिशिष्यस्त्रा भगिनी तत्सखी स्नुषा ॥

दुहिता चार्यभार्या च सगोत्रा शरणागता ।

राज्ञी प्रव्रजिता धात्री साध्वी वर्णोत्तमा च या ॥

आसामन्यतमां गत्वा गुरुतल्पग उच्यते ।

शिश्रस्योत्कर्तनात् तस्य नान्यो दण्डो विधीयते ॥”

इति, तत्तु न्यायविरोधान्मनुविरोधाच्च दण्डसाम्यप्रतिपत्त्यर्थं न शब्द-
नियमायेत्यवगन्तव्यम् । यत्तु इहैव पितृष्वसां मातुलानीम् इत्यादि, तत्
स्वावसरे वक्ष्यामः । ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वार इत्यत्र आततायिसंभ्रा-
मव्यतिरेकेण यो ब्राह्मणमन्येनाप्रयुक्तः स्वातन्त्र्येण हन्याद् अन्यं वा द्रव्य-

दानादिना वशीकृत्य घातयति, स प्रत्येतव्यः । कुत एतत् । “आततायिनं हत्वा नास्य प्राणानाच्छेत्तुः किल्बिषमाहुरि”ति वचनात् ।

तथा —

“स्वाध्यायिनं कुले जातं यो हन्यादाततायिनम् ।

न तेन भ्रूणहा भवति मन्युस्तं मन्युमुच्छति ॥”

इति । तथा —

“गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।

आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥”

इति । आततायिनमायान्तमिति वचनात् संग्रामाभ्यनुज्ञाप्यत्रैव श्लोके । “अपि वेदान्तगं रणे” “जिघांसन्तं जिघांसीयाद्” इत्येवं संग्रामाधिकारे सर्वत्र स्मृतिष्वनुज्ञावचनानि सन्ति । यस्तु धनक्रीतः परप्रयुक्तो हन्यात्, तस्य स्वामिगामित्वात् क्रियाफलानामृत्विजामिव ब्रह्महत्याजन्यफलसम्बन्धो नास्त्येव । ननु च “ब्राह्मणो न हन्तव्य” इत्याभ्यासवचनाद् धनादिक्रीतस्यापि ब्रह्महत्यास्त्येव । श्येनादिवदेतद् द्रष्टव्यम् । यथैव श्येनादिजन्ये वधे नृत्विजां दोषः, तथात्रापि । यथाभीषोमीयवधे “न हिंस्यात् सर्वा भूतानी”ति ऋत्विजां प्रतिषेधो न भवति, तथात्रापि । अन्ये तु कुतश्चिदागम्येयं श्लोकं पठन्ति —

“रागाद् द्वेषात् प्रमादाद् वा स्वतः परत एव वा ।

यो हन्याद् ब्राह्मणं कश्चित् स सर्वो ब्रह्महा भवेत् ॥”

इति । तत्त्वविज्ञातमूलत्वाद् विचार्यम् । यद्यपि च स्यात्, तथाप्यातिदेशिकत्वान्महापातकं तावन्न भवति । यथा — “सृष्टश्चेद् ब्राह्मणवधे हत्वापि राजन्यवैश्यौ चेजानावि”त्यादि । यथाच लोकयात्रिकाः पठन्ति—“अभ्यायेन गृहीतस्वश्चे”त्यादि । “तमाहुर्ब्रह्मघातकमि”त्यघातकमपि वचनसामर्थ्याद् घातकमित्याहुः, एवं धनक्रीतादेरापि स्यात् । अतो य एव स्वयमनन्यप्रयुक्तः शस्त्रादिना परिक्रयादिभिर्वा हन्तारं स्वीकृत्य

ब्रह्माणं हन्ति घातयति वा, तस्यैव ब्रह्महाशब्देनात्र ग्रहणम् । ब्राह्मणसुवर्ण-
स्तेनादयश्चत्वार इति पाठात् सिद्धेऽपि पुनःश्रुतिः पातकसंयोजकादिनिवृ-
त्त्यर्था । तदेतदाचार्येणाप्युक्तं—एते महापातकिन इति । “पञ्चमश्चाचरंस्तै-
रि”त्यत्रापि तैरेव चतुर्भिः सहाचरणे महापातकित्वं न तु तत्संसर्गिणो-
ऽपि । पञ्चम इति चास्यैव दाढ्यार्थमुक्तम् ॥ २२२ ॥

इदानीं महापातकसमानि —

गुरूणामत्यधिक्षेपो वेदनिन्दा सुहृद्रथः ।

ब्रह्महत्यासमं ह्येतदधीतस्य च नाशनम् ॥ २२३ ॥

अत्र च बहुवचनादाचार्यादयोऽपि सर्वे गुरवः प्रत्येतव्याः । तेषां
महापातकित्वं युष्माकमस्तीत्येवंप्रकारोऽतिशयेनाधिक्षेपोऽत्यधिक्षेपः । तत्र
च गुरुविशेषापेक्षया अधिक्षेपविशेषापेक्षया च प्रायश्चित्तकल्पना । नन्व-
गुरावपि “ब्राह्मणाभिंशंसने दोषस्तावान्” “द्विरनेनसी”त्यस्त्येव पातक-
समत्वम् । सत्यं, प्रायश्चित्तान्तरं तु तत्र । यथाह वसिष्ठः —

“ब्राह्मणमनृतेनाभिंशस्य पतनीयेनोपपतनीयेन वा
मासमम्भक्षः शुद्धवतीरावर्तयेत्”

इति । अत्र तु ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तमेव यथा स्यादित्यारम्भः । महापातक-
व्यतिरिक्ते त्वधिक्षेपे तदनुरूपमेव प्रायश्चित्तं वेदितव्यम् । वेदनिन्दा
च हेतुशास्त्रावष्टम्भेन श्रुतिस्मृत्योर्बाधितान्तःकरणतयानुष्ठानपर्यन्तत्वेनाना-
दरः । तथाचाह मनुः —

“योऽवमन्येत ते तूमे हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः ।

स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥”

इति । सुहृद्रथस्त्वब्राह्मणविषयः, तस्य तत्समत्ववचनात् । अधीतनाशनं
तु पित्राद्यधीतां शाखां नेयं शोभनेति कृत्वा तत्परित्यागः । अन्ये त्वधी-
तविस्मरणमेवाचक्षते । तत्त्वतिप्रसङ्गान्नातीव युक्तेम् । मनुना तु सुरापान-
समत्वेन —

१. ‘तु संस’ च. पाठः. २. ‘त्र ब’ ग. पाठः. ३. ‘योऽधि’ च. पाठः.
४. ‘केषु त्व’, ५. ‘पिष्टु त’ ग. पाठः. ६. ‘वासिता’ च. पाठः.

“ब्रह्मोज्झो वेदनिन्दा च कौटसाक्ष्यं सुहृद्वधः ।

गर्हितानाद्ययोज्जिः सुरापानसमानि षट् ॥”

इत्युक्तम् । अतश्च प्रायश्चित्तविकल्पः । अन्यत्राप्यनेकपाठे सत्येवमेव व्याख्येयम् । ननु वेदविरोधवन्मनुविरोधोऽपि स्मृत्यन्तराणां बाधनाय युक्तः । सत्यं, यदि विरोधः स्यात् । इह तु महापातकत्वाविशेषाद् ब्रह्महत्यातिदेशमध्ये सुहृद्वधस्य सुरापानसममध्यपठितस्य पुनः पाठादविरोध एव । विस्पष्टतरं त्वेतदुपरिष्ठाद् वक्ष्यामः ॥ २२३ ॥

निषिद्धभक्षणं जैह्वयमुत्कर्षे च वचोऽनृतम् ।

रजस्वलामुखास्वादः सुरापानसमानि तु ॥ २२४ ॥

निषिद्धस्य लशुनादेर्नास्तिक्यातिशयान्निषेधं जानत एव कामकारेण भक्षणम् । यथाह मनुः—

“छत्राकं विड्वराहं च लशुनं ग्रामकुक्कुटम् ।

पलण्डुं गृह्णन् चैव मत्या जग्ध्वा पतेद् द्विजः ॥”

इति, विशेषाभिधानात् । अविशेषाभिधानेऽपि चैतान्येव गृह्यन्ते, अस्मादेव मनुवचनात् । जैह्वयं तु कौटिल्यमुच्यते । तदपि यदि कश्चित् सुरापानादिप्रवृत्तं ब्राह्मणं निवारणसमर्थोऽपि कौटिल्येनोपेक्षते, स एवात्र प्रत्येतव्यः । यथाह गौतमः— “दुर्बलहिंसायां च विमोचने शक्तश्चेदि”-ति । हिंसावचनं तत्रोपलक्षणत्वेनैव द्रष्टव्यं सर्वत्रैव तु शक्तस्योपेक्षणे पातकातिदेशार्थम् । जातिभ्रंशकरमध्ये च जैह्वयं मनुनोक्तम् । तदेतदुपरिष्ठाद् वक्ष्यामः । उत्कर्षे च वचोऽनृतमिति । एतच्च मनुना ब्रह्महत्यासमत्वेनोक्तम् । तत्रैवं विवेकः—ब्रह्महत्याप्रसङ्गे यदनृतं तस्य तत्समत्वं, सुरापानप्रसङ्गे यदनृतं तस्य सुरापानसमत्वं, यथा कश्चित् पक्षपातादिना ब्रह्महणमेव स्वपक्षोत्कर्षार्थं नायमेवंविध इति ब्रूयाद् विपरीतं वा । एवमन्यत्रापि योज्यम् । रजस्वला चात्र सुरापानी व्याख्येया नोदक्या, तस्या

१. ‘ज्ञा’ ग. च. पाठः. २. ‘त एव’, ३. ‘चावि’ ग. पाठः, ४. ‘यत्तस्य’ क. च. पाठः.

उपगमनेऽप्यल्पदोषत्वाद्, उपगमनाङ्गत्वाच्च मुखास्वादस्य । प्रक्रमानु-
गुण्याच्चैतदेवं युक्तम् ॥ २२४ ॥

अश्वरत्नमनुष्यस्त्रीभूधेनुहरणं तथा ।

निक्षेपस्य च सर्वं हि सुवर्णस्तेयसंमितम् ॥ २२५ ॥

अश्वोऽत्र यज्ञसाधनभूतः प्राधान्येन वा संग्रामसाधनभूतः प्रत्येत-
व्यः । धेनुरपि यज्ञाङ्गभूतैव । त्रैवर्णिकाश्च मनुष्याः । स्त्री च ब्राह्मणपरि-
गृहीतैव । भूमिरपि ब्राह्मणसात्कृतैव, निक्षेपश्च । तथाशब्दो रजताद्यर्थः ।
तथाच मनुः —

“निक्षेपस्यापहरणं नराश्वरजतस्य च ।

भूमिवस्त्रैर्मणीनां च रुक्मस्तेयसमं स्मृतम् ॥”

इति । पूर्वत्र स्तेयवचनं सुवर्णविषयमेवेति ज्ञापितम् । अतश्च निक्षेपः
सुवर्णव्यतिरेकेणेति व्याख्येयम् ॥ २२५ ॥

सखिभार्याकुमारीषु स्वयोनिष्वन्त्यजासु च ।

सगोत्रासु सुतस्त्रीषु गुरुतल्पसमं विदुः ॥ २२६ ॥

अन्त्यः शूद्रः तेन पूर्ववर्णेषु त्रिषु जाता अन्त्यजाः स्वयोनिष्विति
च मातृपितृसंबन्धाः पितृष्वस्त्रीयादयो गृह्यन्ते । सुतस्त्रियश्चासवर्णाः, स्नु-
षाभगिन्योऽरुत्तरत्राभ्यानात् । स्पष्टमन्यत् । मानवेऽपि च “रतेःसेकः स्वयो-
न्यास्वि”त्यत्र चकारद्वयसामर्थ्याद् सगोत्रोपादानं व्याख्येयम् ॥ २२६ ॥

प्रायश्चित्तातिरेकार्थं तु भेदेनाह —

पितृष्वसां मातुलानीं स्नुषां मातृष्वसामपि ।

मातुः सपत्नीं भगिनीमाचार्यतनयां तथा ॥ २२७ ॥

आचार्यपत्नीं स्वसुतां गच्छंस्तु गुरुतल्पगः ।

छित्त्वा लिङ्गं वधस्तस्य सकामायाश्च योषितः ॥ २२८ ॥

१. ‘ग्रह एव’ ग. च. पाठः. २. ‘अथ । तथाच’ च., ‘अथ (तथाशब्दो) भूधेनु-
हरणं तथा निक्षेपस्य च, सर्वं हि सुवर्णस्तेयसंमितम्’ ग. पाठः. ३. ‘अ’, ४. ‘वि च’,
५. ‘भि’ ग. च. पाठः.

अत्र एवशब्दार्थे तु शब्दस्योत्कृष्य योजना गच्छन् गुरुतल्पग एवेति । एतदुक्तं भवति — युक्तं सखिभार्यादिषु समत्ववचनं पितृष्वस्रादिषु गुरु-तल्पग एव, यथाभ्यर्हिते मन्त्रिणि किमयं राजसम इत्युच्यते ध्रुवमयं राजैवेति । एवञ्च वदता पितृष्वस्रादिषु गुरुतल्पान्यूनत्वं तत्समातिरेकश्च दर्शितो भवति । अन्ये तु मुख्यमेव गुरुतल्पं व्याचक्षते । (तदयुक्तं ?) तत्त्विह मातुरनुपादानाद् (अयुक्तम्) । स्मृत्यन्तरे च “ब्रह्महसुरापगुरुतल्पग” इत्युक्त्वा “मातृपितृयोनिःसंबन्धाग” इत्युक्तं, “स्तुषायां गवि च तत्समोऽव-कर इत्येके” इति च । तदसमञ्जसं स्याद्, अतः पूर्वैव व्याख्या ज्यायसी । मातुः सपत्नीति चासवर्णाभिप्रेता इतरासु तु गुरुतल्पसमत्वं मुख्यमेव यतः । स्पष्टमन्यत् ॥ २२७, २२८ ॥

इदानीमुपपातकान्युच्यन्ते —

गोवधो ब्रात्यता स्तैन्यमृणानां चानपक्रिया ।

अनाहिताग्नितापण्यविक्रयः परिविन्दनम् ॥ २२९ ॥

भृतादध्ययनादानं भृतकाध्यापनं तथा ।

पारदार्यं पारिवित्त्यं वार्धुष्यं लवणक्रिया ॥ २३० ॥

स्त्रीशूद्रविद्वक्षत्रवधो निन्दिताघोषजीवनम् ।

नास्तिक्यं व्रतलोपश्च सुतानां चैव विक्रयः ॥ २३१ ॥

धान्यरूप्यपशुस्तेयमयाज्यानां च याजनम् ।

पितृमातृसुहृत्त्यागस्तटाकारामविक्रयः ॥ २३२ ॥

कन्याया दूषणं चैव परिविन्दकयाजनम् ।

कन्याप्रदानं तस्यैव कौटिल्यं ब्रह्मलोपनम् ॥ २३३ ॥

आत्मार्थे च क्रियारम्भो मद्यपस्त्रीनिषेवणम् ।

स्वाध्यायाग्निसुतत्यागो बान्धवत्याग एव च ॥ २३४ ॥

इन्धनार्थं द्रुमच्छेदः स्त्रीहिंस्रौषधिजीवनम् ।

हिंस्रयन्त्रविधानं च व्यसनान्यात्मविक्रयः ॥ २३५ ॥

असच्छास्त्राधिगमनमाकरेष्वधिकारिता ।

भार्याविक्रयणं चैषामेकैकमुपपातकम् ॥ २३६ ॥

एतेऽष्टौ श्लोका निगदोक्ताः । एकैकग्रहणं द्वित्राद्यनुष्ठाने प्रायश्चित्तगौरवार्थम् । उपपातकसंज्ञाप्येवमर्थैव, उपचयेनोपेत्य वा सेव्यमानं पातकमेव स्यादिति । अत एव गौतमेन पातकमध्ये निन्दितकर्माभ्यासो दर्शितः । एवमेतैरष्टाभिः श्लोकैरेकपञ्चाशदुपपातकान्युक्तानि । अन्यान्यपि च सूर्याभ्युदितः सूर्याभिनिर्मुक्त इत्यादीन्यत्रैव तथाशब्दादिगृहीतत्वेन द्रष्टव्यानि । अथवा प्रायश्चित्तसाम्यार्थं एषामिह पाठो न तूपपातकसंज्ञानियत्यर्थः । तथा शङ्खेनाष्टादशैवोपपातकान्युक्तानि । यथाह — “अत ऊर्ध्वमुपपतनीयानि — कन्यादूषी सोमविक्रयी वृषलीपतिः कौमारदारत्याग्यसुरामद्यपायी गोघ्नः शूद्रवधी गुरोः प्रतिहन्ता नास्तिकः कृतघ्नः कूटव्यवहारी वृत्तिघ्नो मिथ्याभिज्ञंसी हिरण्यस्तेनः पतितसंव्यवहारी मित्रघ्नश्च शरणागतघाती प्रतिकूलवृत्तिरित्येतान्यष्टादशैवोपपातकानी”ति । एवं सुमन्तुः — “स्त्रीरजतगोस्तैन्यं गोश्च गैमनं नाशकं भूम्यनृतं क्षत्रियवैश्यगोघ्नता परिवर्जितावकीर्णिता प्रतिरूपकवृत्तिश्चेत्युपपातकानी”ति । शातातपे त्वष्टैवोपपातकान्युक्तानि — “अथोपपातकान्यग्न्युत्सादी”त्यादीनि । वासिष्ठे तु “सूर्याभ्युदितः सूर्याभिनिर्मुक्त” इत्युपक्रम्योपपातकिनामेनस्विन इत्येवं संज्ञा कृता, तन्मध्ये निस्सन्दिग्धोपपातकिनां परिवर्जितादीनामनुक्रमणात् । अतो यथानिर्दिष्टानामेव प्रायश्चित्तसाम्यार्थमियं संज्ञेत्येवमेव व्याख्येयम् । अत्र च पारदार्यस्तेयस्त्रीवधादीनि महापातकतत्समातिरेकेण व्याख्येयानि ॥ २२९—२३६ ॥

इदानीं यथानिर्देशं ब्रह्महत्यादीनां प्रायश्चित्तान्याह —

शिरःकपालध्वजवान् भैक्षाशी कर्म वेदयन् ।

ब्रह्महा द्वादश समा मितभुक् शुद्धिमाप्नुयात् ॥२३७॥

शिरःसंलग्नमेव कपालं ध्वजश्चिह्नं यस्य स एवमुक्तः । कपालग्रहणं चाखण्डशिरोवारणार्थम् । स्पष्टमन्यत् । एतच्च सार्ववर्णिकं प्रायश्चित्त-

१. ‘भिनि’ क. पाठः. २. ‘भु’ ग. पाठः. ३. ‘नमना’ च. पाठः.
४. ‘ष्टादशैवो’ ग. पाठः. ५. ‘दि. वा’ ग, ‘दिता । वा’ च. पाठः. ६. ‘भु’, ७.
‘यैस्त्री’ ग. पाठः.

तम् । स्मृत्यन्तरे तु क्वचित् सामर्थ्यान्नियमः । यथाह शङ्खः — “ब्रह्म-
हा परिषदानुमतः खट्वाङ्गी गर्दभाजिनी मृन्मयपात्रपतितशिष्टान्नभोजी स्व-
कर्म विख्यापयंश्चरेद् भैक्षमेककालाहारः शून्यागारनदीपर्वतगुहावृक्षमू-
लनिकेतनः । स एवं द्वादशे वर्षे शुद्धिमाप्नोति, अन्तरा वा ब्राह्मणं मर-
णान्मोचयित्वा गवां वा द्वादशानां परित्राणात्, सद्य एव वाश्वमेधावभृथे
स्नात्वा पूतो भवतीत्यु”पक्रम्य सर्वाणि प्रायश्चित्तान्यभिधाय पुनस्तदन्ते
गोसहस्रप्रदानमुक्त्वा पुनरुक्तं —

“प्रायश्चित्तमुपासीनो वाग्यतस्त्रिरुपस्पृशेत् ।

एकवासार्द्रवासाश्च लघ्वाशी स्थण्डिलेशयः ॥

स्थानं वीरासनं मौनं मौञ्जीदण्डकमण्डलू ।

भैक्षचर्याभिकार्यं च कूर्शमाण्डीभिः सदा घृतम् ॥”

इति । न ह्यत्रैवर्णिकस्य कूर्शमाण्डीभिरभिकार्यमुपपद्यते । अतश्चैवर्णिकस्यै-
वैतत् । क्वचिच्चोपदेशादेव विशेषः । यथाह शातातपः — “ब्राह्मणो ब्राह्मणं
हृत्वा तस्य शिरःकपालमादाये”ति । अत्र कपालनियममात्रमेव विशेषः ।
एवं यत्र सामर्थ्याच्छब्दतो वा कर्तृलाभः तन्नियतकर्तृकम् । यत्र त्वविशेषा-
भिधानं, यथात्रैव, तत् सार्ववर्णिकम् । एवमन्यत्रापि योज्यम् । न चैक-
मेवैतत् सर्वस्मृतिसिद्धं द्वादशवार्षिकं व्रतमित्याशङ्कनीयं, प्रतिस्मृति प्रयोग-
भेदस्य “वक्तारो धर्मशास्त्राणामि”त्यत्र श्लोकेऽभिहितत्वात् । अत एव च
यदि शङ्खोक्तं द्वादशवार्षिकमारब्धं, ततोऽन्तरा ब्राह्मणं मरणान्मोचयित्वा
गवां वा द्वादशानां परित्राणाच्छुद्धिः । अन्यत्र तु नियोगतः परिसमापन-
मेव । अश्वमेधावभृथस्तु शाङ्खेऽपि कल्पान्तरतयैव व्याख्येयः, श्रुतौ नैर-
पेक्ष्योपदेशात् । एवं हि श्रूयते — “स यदा राजानमुन्नेतोन्नयति, अथै-
नस्विन उपतिष्ठन्तेऽत उपब्रुवते इत्थं ब्राह्मणमवधिषमिन्त्थं गुरोर्जायाम-
भ्यगामिति । निरुक्तमेनो यथा यथा तान् ऋत्विजो राजा च ब्रूयुरश्वमे-
धावभृथपूता भवथेति । तेऽपोऽभ्यवयन्ति । यथाहिस्त्वचो निर्मुच्यते, एवं
सर्वस्मात् पाप्मनो निर्मुच्यन्ते । तान् न जुगुप्सेयुः । स यावन्तमश्वमेधे-

१.. ‘धातायित्वा’ ड. च. पाठः. २. ‘कर्म’, ३. ‘णं मोच’ ग. पाठः. ४. ‘वि’
च. पाठः. ५. ‘ते—य’, ६. ‘नो मुच्य’, ७. ‘ते’ ग. पाठः.

नेष्टा लोकं जयति, त्रिस्तावन्तं जयति ! यस्यैवं विदुष एवमेनस्विनो-
ऽवभृथमभ्यवयन्ती”ति जाबालिश्रुतिः । इयमेवं हि कात्यायनेनापि नि-
बद्धा — “उत्क्रान्ते यजमाने पापकृतोऽभ्यवयन्त्यचरित्वा व्रतान्यश्वमे-
धावभृथाख्यास्तै” इति । अतो नास्यै स्मार्तप्रायश्चित्तार्थता घटते । नहि
स्मृतिशेषत्वेन श्रुतिः शक्या कल्पयितुम् । यदि तु प्रक्रान्तद्वादशवार्षिक
स्यैतत् स्यात्, ततः श्रुतावेव तदनुवादेन विधीयेत । न चैवं श्रुतिरस्ति ।
अपिच, यदि श्रुतौ द्वादशवार्षिकानुवादः स्यात्, ततोऽन्यतः प्राप्त्य-
भावात् तदेव तावद् विधेयं स्यात् । नहि तथा श्रवणे सति स्मृतेर्मूल-
न्तरकल्पनोपपद्यते यतः । तत्राश्वमेधावभृथस्नानमङ्गत्वेन परिसमाप्त्यर्थं
वा विधीयेत । न च नित्यस्यानित्यपरिसमाप्तिर्युक्ता । यदि तु नैमित्तिकी
परिसमाप्तिरुच्येत, तथा सति यदि कथञ्चिन्न स्नायात्, ततो द्वादशवार्षिके
कृतेऽपि न शुध्यति । अथ तु नैमित्तिकं तदङ्गं स्नानमित्युच्येत, तथा स-
त्यवभृथे स्नात्वापि द्वादशवार्षिकशेषं परिसमापनीयमेव स्यात् । अतोऽश्व-
मेधावभृथस्य स्वातन्त्र्यकल्पनैव न्याय्या । अत एव च वासिष्ठे भ्रूणहत्याप्र-
करणमुल्लङ्घ्यान्यत्रोक्तं—“अथापरं भ्रूणहत्याया द्वादशरात्रमन्भक्षो द्वादश-
रात्रमुपवसेदश्वमेधावभृथं वा गच्छेदि”ति । लघुत्वादस्यान्यशेषत्वाशङ्कापि
कस्यचित् स्यात् । अत एव शङ्केनापि “सद्य एवाश्वमेधावभृथे स्नात्वा
पूतो भवती”ति सद्य एवेत्यवधारणाद् द्वादशाब्दाकरणाच्चास्य स्वातन्त्र्य-
मेव दर्शितम् । एतच्च शङ्कोक्तं क्षत्रियवैश्ययोरेवाधीतवेदयोरनमिकयो-
श्चाकामतो गुणवद्ब्राह्मणवधे द्रष्टव्यं, कामतो ह्येतदेव गोसहस्रदानोपचि-
तम् । शूद्रस्याप्येतद्दानसहितं मन्त्रवर्जं वाकामकृत एव । कामकृते तु
शूद्रस्य मरणान्तिकमेव । प्रतिलोमानां त्वकामतोऽपि मरणान्तिकमेव । कुत
एतत् । शङ्खवचनादेव । “अत ऊर्ध्वं पतनीयानी”ति प्रकृत्य “निष्कृति-
स्तेषां विहिता सद्भिरकामकृत” इत्युक्तम् । क्षत्रियवैश्ययोश्चैतत् । अन्यत्र
स्वल्पेतिर्कर्तव्यतायुक्तं ब्राह्मणस्योपदिष्टं यतः — “ब्राह्मणो ब्राह्मणं घात-
यित्वा तस्य शिरःकपालमादाय तीर्थान्यनुचरेदात्मनः पापं संकीर्तयन्

१. ‘व च का’ ग., ‘बका’ च. पाठः. २. ‘स्ता’ ग. पाठः. ३. ‘स्य प्रा’,
४. ‘श्वा’, ५. ‘त्या’ ड. पाठः.

द्वादशे वर्षे शुद्धिमाप्नोति, अथाश्वमेधं पश्यति तस्य दर्शनादेव शुद्धि-
माप्नोती”ति । तच्च स्वशब्दोपादानाद् ब्राह्मणस्यैव । न चैतत् काम-
कृतविषयं ब्राह्मणस्यापीति वक्तुं शक्यम्, अकामकृत इति वचनात् ।
अतः क्षत्रियवैश्ययोरेवैतदिति युक्तम् । शूद्रस्य त्वसामर्थ्यान्नैतद्
युक्तम् । अनग्निकयोरिति कुतो लब्धं, केवलस्य पुंसोऽविधानात्,
पत्न्यधीनत्वाच्चाग्निसाध्यानां कर्मणां, तस्याश्च पतनकारणाभावात् । यत्रै-
वोभयोः पतनं, तत्रैव वैतानिकसंबद्धानि प्रायश्चित्तानि । अन्यतरपतने तु
शरीरमात्रसाध्यैरेवाधिकारः । न चात्र किञ्चिदौपासनादिसंबद्धं कर्मास्ति ।
यत्तु कूश्माण्डीभिरग्निकार्यं, तत् समिदाधानं ब्रह्मचारिसम्बन्धिवत् प्रत्ये-
तव्यम् । तच्च लौकिक एवाग्नौ युक्तम् । गर्दभाजिनोपदेशाच्चात्रावकीर्णि-
पशुरपि यदि प्राप्नोति, सोऽपि लौकिक एवाग्नौ युक्तः । अतोऽनग्निकस्यै-
वैतदिति स्थितम् । नन्वेवमपि यदि नामाग्नेरत्रोपयोगो न स्यात्, न त्व-
नग्निकस्यैव प्रायश्चित्तमिति । सत्यं, यद्यत्राप्यग्निसम्बन्धं प्रायश्चित्तान्तरं न
स्यात् । तदपि तु श्रूयत एव । तद्यथा — “यजेत वाश्वमेधेने”त्यादि
मानवम् । तत्राश्वमेधो राष्ट्राधिपतेरेव, “तस्माद् राष्ट्र्यश्वमेधेन यजेते”ति
श्रुतेः । स्वर्जिदादयस्त्रयाणामपि वर्णानामिष्टप्रथमयज्ञानां भवन्ति । न च
तेषामन्यत् प्रायश्चित्तमस्ति, सापेक्षत्वेन विषमशिष्टविकल्पासम्भवात् । त-
दनधिकृतानामेवान्यत् प्रायश्चित्तं युक्तं, तस्यानन्यविषयत्वादिष्टप्रथमय-
ज्ञस्य । अनन्यविषयत्वादनिष्टप्रथमयज्ञस्याप्याहिताग्नेरग्निष्टोम एव प्रायश्चि-
त्तम् । गौतमेनाश्वमेधावभृथमुक्त्वा “अन्ययज्ञेऽप्यग्निष्टुदन्तश्चेदि”त्युक्तम् ।
न चाग्निष्टुदन्तः कश्चित् क्रतुरस्ति । सत्राहीनयोः प्रायशोऽतिरात्रान्तत्वात् ।
यत्रापि कचिदातिरात्रान्तता नास्ति, तत्राप्यग्निष्टुदन्तता नास्त्येव । अतो-
ऽयमग्निष्टुच्छब्दोऽन्वग्निष्टोमस्तोत्रवचनो द्रष्टव्यः । तदन्तश्चाग्निष्टोम एव
भवति । यस्य चान्यप्रयुक्तस्याप्यवभृथे स्नात्वा शुद्धिर्भवति, तत्र स्वयं-
प्रवृत्तेर्दण्डापूपन्यायेन सिद्धेरग्निष्टोमस्यास्त्येव विधानम् । काठकेऽप्यश्वमे-
धवदग्निष्टोमस्यापि “भ्रूणहत्याया वा एषोऽतिमुच्यते, योऽग्निष्टोमसंस्थं य-
जत” इत्याहिताग्नेरग्निष्टोम एवानिष्टप्रथमयज्ञस्य । इतरस्य तु स्वर्जिदादयो

द्रष्टव्याः । यस्य त्वौपासनमात्रं, तस्यान्यत् प्रायश्चित्तं शास्त्र एवोक्तम् । तत्र प्रायश्चित्तमकामावासौ । कामकृतेऽप्येके “पतितो ह्यात्मानमुद्धरेत् संवत्सरं तप्तकृच्छ्रमाचरेत् कृतवापनः शुचिरपोऽभ्यवेयात् त्रिरंकार्द्रवासाः काष्ठमौनी वीरासनमासीत रात्रौ, दिवा तिष्ठेद् युक्तोऽग्निकार्यपरः सावित्रीं सवनानुगां जपेत्, स्वयं व्रतमभ्युपगम्य कुशचीरफलकवासा मौञ्जी मेखली दमै वित्रपाणिर्हविष्यं श्रपयेच्चरुं भैक्षमदुष्टं वा यात्रिकमश्नीयाद् द्वादशरात्रं चोपवासो ब्राह्मणतर्पणं गवाहिकमित्येवं व्यवहार्योऽन्यथा पतितः शिष्टैरसम्भाष्य” इति । यद्यपि चैतद् “न विक्रीणीयादविक्रेयाणी”ति प्रकृत्य “तिलमधुगुलघृततैलेत्यादिनीलीपर्यन्तविक्रयात् सद्यः पतती”त्युक्तत्वात्, तथाप्येतन्न तद्विषयत्वेन प्रायश्चित्तं युक्तं, “पतितो ह्यात्मानमुद्धरेद्”ति श्रुतेः । न चैषा पूर्वत्रोपयुज्यते, प्रकृतत्वेनैव सिद्धत्वात्, प्रायश्चित्तस्य चातिगुरुत्वेन महापातकोचितत्वात् । अतः श्रुतेः सामर्थ्याच्च प्रकरणस्य बाधितत्वान्महापातकप्रायश्चित्तमेवेति व्याख्यातृसंप्रदायाविच्छेदात् सिद्धम् । तथाच सुमन्तुना — “रागद्वेषादलभ्यमाने प्रायश्चित्ते जपहवनाध्ययनब्रह्मचर्यपरो भैक्षाशी दण्डी मेखली त्रिषवण्यधःशायी स्वयमेव महदशुभं पुनाति, न ब्राह्मणस्य पतनमिच्छन्त्याचार्याः, किल्बिष्युपगतः पातव्य इत्याङ्गिरस” इति । ब्राह्मणग्रहणं चात्र प्रदर्शनार्थम् । यत्र च स्वयमभ्युपगम्य संवत्सराच्छुद्धिरिष्यते, तत्रावश्यं ततोऽधिकं परिषदा न दातव्यम् । तथाचानेनैवोक्तं — “ब्रह्महसुरापगुरुतल्पगसुवर्णस्तेयिनां महापातकिनं वक्ष्यामः प्रायश्चित्तमिति” । “ब्रह्महा संवत्सरं कृच्छ्रं चरेदधःशायी स्वकर्माचक्षाणो भैक्षाहारो दिव्यनदीपुलिनशायी सद्ग्रामाश्रमगौष्ठपर्वतप्रस्रवणतपोवनविहारी स्यात्, संवत्सरे पूर्णे हिरण्यमणिगोवृषाक्षतिलभूमिसर्पीषि ब्राह्मणेभ्यो दत्त्वा पूतो भवत्यश्वमेधावभृथस्नानेन वा सद्य” इति । “अतोऽर्धमर्धं क्षत्रियवैश्यवधे व्याख्यातमिति”ति जपहवनस्वाध्यायपरतादि पूर्वोक्तं च समुच्चीयते । कृच्छ्रशब्दश्चायं तप्तकृच्छ्रे द्रष्टव्यः । तदेतन्नासलौपासने भवति, “कर्म स्मार्तं विवाहाग्नौ” इति नियमात् । नन्वेतदप्यपत्निकस्य पतने नैव युक्तं, “जायापत्योर्न विभागो

विद्यते । पाणिग्रहणाद्धि सहत्वं कर्मणस्तद्व्यफलेषु चे”ति स्मरणात् । न च पत्न्याः पतनं ,

“आ शुद्धेः संप्रतीक्ष्यो हि महापातकदूषितः”

इत्युक्तत्वात् । सत्यमेवं, वैतानिके पत्न्या विना कर्मानुष्ठानासम्भवात् । स्मार्तानि तु कृतावस्थस्यैव कैवल्यसम्बन्धीन्यपि कर्णायौपासने भवन्ति । यथा ब्रह्मयज्ञसम्बन्धीनि प्रायश्चित्तानि । नहि ब्रह्मयज्ञे सपत्नीकस्याधिकार इति शक्यं वक्तुम् । न च तद्व्यपचारे महद्व्याहृतिहोमाधिकारः । एवमुपाकर्मण्यपि । यथा च तत्र, तथौपासने युक्तत्वाद्वोमानां केवलस्यापि पतने प्रवृत्तिरव्याहतैवेत्यलं प्रसङ्गेन ।

अतः स्थितमेतत् क्षत्रियवैश्ययोरनग्निकयोरधीतवेदयोश्च गुणवद्ब्राह्मणवधे शङ्कोक्तं द्वादशवार्षिकमिति । शूद्रस्य च ब्राह्मणमात्रवधे आपस्तम्बेन द्वादशवार्षिकमुक्तम् । शूद्रापेक्षया च क्षत्रियवैश्ययोरल्पं प्रायश्चित्तमित्येतद् दर्शयिष्यामः । अत इदं गुणवद्ब्राह्मणवध इत्युक्तम् । कामकृते तु गोसहस्रदानसहितम् । कुत एतत् । शङ्खवचनादेव, “चतुर्षु वर्णेषु प्रमाप्य द्वादश संवत्सरान् षट् व्रीन् संवत्सरं च व्रतमादिशेत्, तेषामन्ते गोसहस्रं ततोऽर्धं तस्यार्धं तदर्धं च दद्यात्, सर्वेषामानुपूर्व्येण”ति । शूद्रस्य चैतत् प्रायश्चित्तं सामर्थ्याद् विज्ञेयम् । नष्ट्युत्कृष्टवर्णानामपकृष्टवध एतत् संभवति । एवं ह्युक्तं—“सर्वेषामन्योन्यापकृष्टवधे चान्द्रायणमि”ति । अतः शूद्रस्यैव वित्तवत् इदं प्रायश्चित्तम् । निस्सैवस्य त्वापस्तम्बोक्तं, वैश्यस्य वा समस्तं चोक्तम् । ततश्च क्षत्रियवैश्ययोः कामकृत एतत् स्यात्, शङ्खवचनादेव, यथापकृष्टं च यदकामकृते कामकृते तद्यथोत्कृष्टमिति, अतः कामकृते गोसहस्रसहितमित्येषा दिक् ।

आपस्तम्बोक्तं तु शूद्रविषयं — “पूर्वयोर्वर्णयोर्वेदाध्यायिनं हत्वा सवनगतं वाभिश्चस्तः । ब्राह्मणमात्रं च । गर्भं च तस्याविज्ञातम् । आत्रेयीं च स्त्रियम् । तस्य निर्वेशः । अरण्ये कुटिं कृत्वा वाग्यतः श्वशिरोध्वजोऽर्धशानीपक्ष्मधोनाभ्युपरि जान्वोराच्छाद्य । तस्य पन्था अन्तरां कर्त्तव्यम् । दृष्ट्वैर्यमति-

१. ‘पि’ च. पाठः. २. ‘ह्य’, ३. ‘पीति । य’, ४. ‘ति’, ५. ‘क्षमका’, ६. ‘तान्यादि’, ७. ‘धैतस्य’, ८. ‘क्तं, ततश्च’, ९. ‘दी’, १०. ‘शर्मावर्तिनं’, ११. ‘ह्वाचार्ये’ ग. च. पाठः.

क्रामेत् । खण्डेन लोहितेन शरावेण ग्रामं प्रतिष्ठेत् । ततोऽभिशस्ताय भिक्षा-
मिति कर्माचक्षाणः सप्तागाराणि चरेत् । सा वृत्तिः । अलब्धोपवासः । गाश्च
रक्षेत् । तासां निष्क्रमणप्रवेशने द्वितीयो ग्रामेऽर्थः । द्वादश वर्षाणि चरित्वा
सिद्धः सद्भिः सम्प्रयोगः । आजीपथे वा ब्राह्मणं गव्युपजिगीषमाणस्त्रिः प्रति-
रादोऽवजित्य वा मुक्तः । आश्वमेधिकं वावमृथमुपेत्य मुच्यते । धर्मार्थसन्नि-
पाते अर्थग्राहिण एतदेव ।” इति । अत्र च पूर्वयोर्वर्णयोरिति शूद्रापेक्षया
क्षत्रियवैश्यावुक्तौ, ब्राह्मणमात्रं चेति वचनाद् न ब्राह्मणक्षत्रियौ पूर्ववर्णा-
विति घटते । तेनैतच्छूद्रस्येति द्रष्टव्यम् । न चात्र जपहोमादि किञ्चि-
च्छ्रुतं, येन त्रैवर्णिकविषयत्वमाशङ्क्येत । अनेनैवान्यत्रापि जातिकृता गुण-
कृता च व्यवस्था व्याख्येया । द्वादशसु च स्मृतिषु द्वादश वार्षिकाणि
पठ्यन्ते । तान्येवं विवेक्तव्यानि । तत्र मानवं याज्ञवल्कीयं च सर्वव-
र्णानाम् । तत्र च ब्राह्मणस्य कामकृते गुणवद्ब्राह्मणवधे, क्षत्रियवैश्ययोर-
कामकृते निर्गुणवधे, शूद्रस्य त्वकामकृते ब्राह्मणमात्रवधे, एवं वैश्य-
स्यापि क्षत्रियापेक्षया सर्वत्र च गुरुतरं प्रायश्चित्तं प्रयोज्यम् ॥ २३७ ॥

ब्रह्महत्यायामेवमन्यत् प्रायश्चित्तं —

लोमभ्यः स्वाहेति हि वा लोमप्रभृति वै तनुम् ।

मज्जान्तं जुहुयाद्वापि मन्त्रैरेभिर्धथाक्रमम् ॥ २३८ ॥

हिशब्दवैशब्दौ पादपूरणार्थौ । वाशब्दश्चाज्यापेक्षया लोमादिद्रव्यै-
विकल्पार्थः । तनुः शरीरं, तद् लोमप्रभृति लोमानि त्वचं च लोहितं
मेदो मांसं स्नाय्वस्थि मज्जानमित्येवमन्तं, लोमभ्यः स्वाहेत्येतैर्यजुर्वेद-
पठितैराश्वमेधिकैर्द्विरभ्यस्तैर्मन्त्रैर्जुहुयात् । आज्यं वा द्विरभ्यस्तैः प्रत्येकं
षोडशभिर्जुहुयात् । वापीत्ययं तु द्वितीयो वाशब्दः पूर्णप्रायश्चित्तापेक्षया
विकल्पार्थः । स नैककर्त्रपेक्षया । ब्रह्महत्यायामेकस्यामेव यथाधिकारं
कर्तुमिद्वादशवार्षिकमिदं वा कर्तव्यमित्यर्थः । ततश्चैतत्सामर्थ्यादधीतिवेद-
स्यामिमतश्च स्यात् । लोमप्रभृतीनां चात्र चतुर्थ्या मान्त्रवर्णिकं देवता-
त्वम् । ततश्च य एव लोमत्वगादीनामध्यात्माधिदैवाधियज्ञवित्, तस्यै-

वाधिकारः । तदधिगमविशेषापेक्षया च द्रव्यविकल्पव्यवस्था व्याख्येया । न चात्र शरीरदाहः, वचनाभावात् । लोमादीनां कात्स्न्येन होतुमशक्यत्वाद् अवश्यमेकस्मादेवाङ्गुल्यादेरवयवाद्भोतव्याः । तेन नैतन्मरणान्तिकमिति व्याख्येयम् । वासिष्ठेऽप्येवमेव—“भ्रूणहाग्निमुपसमाधाय जुहुयाद् लोमानि मृत्योर्जुहोमि, लोमभिर्मृत्युं वासये प्रथमामि”त्यारभ्य “मज्जानं मृत्योरि”त्येवमन्तम् । तत्रापि होममात्रमेव, शरीरप्रक्षेपस्यानुपदेशात् । ये त्वल्पत्वात् प्रायश्चित्तस्य स्मृत्यन्तरे च—

“प्रास्येदात्मानमग्नौ वा सामिद्धे त्रिरवाक्शिराः”

इति शरीरत्यागदर्शनादत्रापि शरीरत्यागं वर्णयन्ति, ते संहिताध्ययने किमित्यामरणादावृत्तिं न कुर्वन्ति—“त्रिः संहितामधीत्यातो नियतं भुक्त्वा पुनश्चिर”ति । एवं सर्वेषां जीवप्रायश्चित्तानामल्पत्वाद् यथासम्भवं मरणान्तिकैः सह तुल्यतासिद्ध्यर्थं कल्पना प्रसज्येत । अथ कथञ्चित् तेषु विषयकल्पना, ततोऽत्रापि तदेव युक्तं, न त्वश्रुत एवाग्नौ शरीरप्रक्षेपः । अतश्च वासिष्ठेऽपि होम एवेति स्थितम् । यदपि “भ्रूणहाग्निमुपसमाधाय जुहुयादि”ति होमवचनादेव प्राप्तस्याग्नेः पुनर्वचनं, न च लौकिकाग्निप्राप्त्यर्थम्, अदृष्टकल्पनाप्रसङ्गात् । भ्रूणहृतया वा कस्यचिन्मन्दबुद्धेः संस्कृताग्निविनाशाशङ्का मा भूदित्येवं व्याख्येयं, न तु वचनप्राप्तस्याग्नेः संस्कृतस्य ज्ञापकमात्रेण त्यागकल्पनेत्येषा दिक् । स्पष्टतरं तु विषयकल्पनां प्रायश्चित्तप्रकरणस्यान्ते वक्ष्यामः ॥ २३८ ॥

तथेदमन्यद् वैकल्पिकं—

ब्राह्मणस्य परित्राणाद् गवां द्वादशकस्य वा ।

तथाश्वमेधावभृथस्नानाद्वा शुद्धिमाप्नुयात् ॥ २३९ ॥

ब्राह्मणग्रहणं चात्र गुणवति द्रष्टव्यं न जातिमात्रे, समासाकरणात् । समासे हि लिङ्गानभिव्यक्तेर्जातिमात्रप्रतिपत्तिः स्यात् । नन्वेवमपि पुंस इत्येव लभ्यते, न तु गुणवत इत्यपि । सत्यमेवम् ।

१. ‘यिति प्र’ च., ‘यदिति प्र’ ग. पाठः. २. ‘मामार’ ग. च. पाठः.
 ३. ‘यद्यल्प’ ड. पाठः. ४. ‘सिद्धस्या’ ग. पाठः. ५. ‘प्र’ ड. च. पाठः. ६. ‘नं च’ पाठः. ७. ‘शब्दोऽत्र’, ८. ‘व्यो’, ९. ‘सेन हि’ ग. पाठः. १०. ‘त्रे’ ड. पाठः.

किन्त्वेवं सति स्त्रीत्वनिवृत्त्यर्थत्वात् परिसंख्या स्यात् । लिङ्गवच्चैकत्वस्यापि विवक्षितत्वाद् ब्राह्मणद्वयपरित्राणे वैगुण्यं प्रसज्येत । अथातन्त्रं लिङ्गं तत्स-
हचरिताध्ययनादिगुणप्राप्त्यर्थं भवेत् । ततो न कश्चिद् दोषः । तेन गुण-
वतो ब्राह्मणस्य परित्राणादित्येव युक्तम् । परिशब्दाच्च सर्वतः स्वप्राण-
परित्यागेनापीत्यर्थः । गवां द्वादशकस्य वेत्यत्रापि गुणवतो ब्राह्मणस्य
स्वभूतानामित्यधिकाराल्लभ्यते । तथाशब्दः प्रकारार्थः । यथा 'शिरःकपाली'
त्यादिना शुद्धिर्माप्नुयात्, तथा गोब्राह्मणपरित्राणादप्यन्यानपेक्षादेवे-
त्यर्थः । तथाच मनुना —

“कृतवापनो वा निवसेद् ग्रामान्ते गोब्रजेऽपि वा ।

आश्रमे वृक्षमूले वा गोब्राह्मणहिते रतः ॥”

इत्युक्तत्वात् —

“ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा सद्यः प्राणान् परित्यजन् ।

मुच्यते ब्रह्महत्याया गोसा गोब्राह्मणस्य वा ॥”

इति । तेन ज्ञायते प्रायश्चित्तान्तरमिदं न तु प्रक्रान्तद्वादशवार्षिकस्य ।
तद्विषयत्वेन गोब्राह्मणहिते रत इत्यनेनैव सिद्धत्वाच्छ्लोकान्तरारम्भो नि-
ष्प्रयोजनः स्यात् । न चानेन प्रकारेण हिते रतः स्यादित्येवमर्थः श्लोका-
न्तरारम्भ इति युक्तं, वाशब्दवैयर्थ्याद्, गोसा गोब्राह्मणस्य वेति च
पुनरभिधानात् । अतः स्वतन्त्रमेवेदं प्रायश्चित्तान्तरं भगवतोऽभिप्रेतम् ।
अत एव च निस्सन्दिग्धेनाश्रमेधावभृथस्नानेनास्य वैकल्पिकत्वमाचार्ये-
णोक्तं —

“तथाश्रमेधावभृथस्नानाद् वा शुद्धिमाप्नुयाद्”

इति । यथो चाश्रमेधावभृथस्यान्यत्रानुप्रवेशो न सम्भवति, तथा प्रदर्शि-
तमेव । शङ्कोक्तस्य च “अन्तरा वा ब्राह्मणान् मरणान्मोक्षयित्वे”ति तदु-
क्तद्वादशवार्षिकविषयं न सार्वत्रिकमित्येतद् व्याख्यातमेव ॥ २३९ ॥

१. 'माप्नु', २. 'प्यन', ३. 'ण गोब्राह्मणहि' गे. च. पाठः, ४.
'थाश्र' ग. पाठः. ५. 'ति । तत् त' च. पाठः. ६. 'न च सा' ग. पाठः.

तथेदमन्यत् वैकल्पिकं —

दीर्घतीव्रामयग्रस्तं ब्राह्मणं गामथापि वा ।

दृष्ट्वा पथि निरातङ्कं कृत्वा वा ब्रह्महा शुचिः ॥ २४० ॥

आमयो रोगः, तेन दीर्घेण चिरकालप्ररूढतयात्यर्थं कृच्छ्रसाध्येन तीव्रेण च राजयक्ष्ममहाकुष्ठादिना ग्रस्तमेकान्ततो भुक्तम् । ब्राह्मणमित्यत्रापि पुल्लिङ्गनिर्देशोऽध्ययनादिगुणप्रतिपत्त्यर्थ एव, न स्त्रीत्वनिवृत्त्यर्थः । अथशब्दस्योत्कृष्य वाशब्देन सह योजना—अथवोक्तविशेषणां गामपीति । अपिशब्दश्चैकसंख्यापेक्षया सम्भावनार्थः — ब्राह्मणजातीयं निर्गुणमपि, तथैकमपि, किमुत गुणवन्तो भूयांसो वेत्यभिप्रायः । पथि दृष्टेत्यभिसन्धिनित्यर्थम् । निरातङ्कं निःशेषरोगच्छेदान्निर्भयं व्यपगताकृतं स्वस्थं कृत्वा । वाशब्दादामरणाद्वा सर्वात्मना सर्वस्वेनापि स्वप्राणोपरोधेनापि शुश्रूषित्वा । ब्रह्महा शुचिः स्यादिति प्रकृतत्वेऽपि ब्रह्महा शुचिरिति पुनर्वचनं सर्वाधिकारप्रतिपत्त्यर्थं, सर्वत्रामतिपूर्वं कामकृते च त्रैवर्णिकानामिदं परिचर्यमाणैर्ब्राह्मणगुणापेक्षया भूयस्त्वापेक्षया परिचारकशक्तिगुणापेक्षया च योज्यम् । शूद्रस्याप्यमतिपूर्वं एतद्भवत्येव परित्राणं तदात्वविषयम् । यथा प्रदीप्ते वेश्मन्यन्तर्ब्राह्मणं गोद्वाशकं वा निस्सरणासमर्थं स्वमरणमङ्गीकृत्य प्रविश्यातिवाहयेद् यः, स तत्परित्राणाद् मरणाद्वा शुध्यतीति । अत्र तु आ निरातङ्कभावाद् आ मरणाद्वा परिचर्येति पुनरारम्भः ॥ २४० ॥

तथेदमन्यद् वैकल्पिकं ब्रह्महत्यायामेव —

आनीय विप्रसर्वस्वं हतं घातित एव वा ।

तन्निमित्तं क्षतः शस्त्रैर्जीवन्नपि विशुध्यति ॥ २४१ ॥

सर्वस्ववचनं बहुत्वोपलक्षणार्थं, भूयसो ह्यपहतस्य प्रत्यानयनं दुष्करं यतः । सर्वस्वं तु कदाचित् घटमात्रमपि भवति । तच्चात्मेनापि प्रयासेन शक्यमाहर्तुम् । तत्र घातितवचनं नातीव समञ्जसं स्यात् । घातित एवेति चैवकारेण यत्र हतप्रत्याहरणे मरणमैवौचित्यात् प्राप्नोति

१. 'स्त', २. 'णावरो' ग. पाठः. ३. 'णशु' च. पाठः. ४. 'यत्नेन', ५. 'मौखि' ग. पाठः.

तत्सर्वस्वमिति स्पष्टयति । ततश्च तदाहरणनिमित्तं यथाशक्त्याघातितोऽपि पुनःपुनरुत्थाय व्यायच्छन्नेनकशः शस्त्रैः क्षतो यदि जीवति, तथाप्यनाहतेऽपि द्रव्ये विशुध्यत्येव । एतच्चाक्षत्रियस्याहरणसम्भावनायुक्तस्य च प्रायश्चित्तम् । क्षत्रियस्य त्वेतान्नित्यत्वादनुपदेश्यमेव । यस्याप्युदाहरणसम्भावनास्ति, तस्याप्यानीयेत्येतन्नातीव समञ्जसम् । तेन सम्भावितस्याक्षत्रियस्य चेति स्थितम् । शस्त्रग्रहणं च प्रतिपक्षस्य दुर्जयत्वं प्रदर्शयितुम् । तेनाशस्त्रैरपि पाषाणादिभिर्निश्चेष्टीकृतः क्षतमन्तरेणापि शुध्यतीत्यवसेयम् ॥ २४१ ॥

तथेदमपरं प्रायश्चित्तद्वयम् —

अरण्ये नियतो जप्त्वा त्रिष्कृत्वो वेदसंहिताम् ।

शुध्येत वा मिताशीत्वा प्रतिस्रोतः सरस्वतीम् ॥२४२॥

ग्रामान्निष्क्रम्यारण्ये स्थित्वा नितरां यतः तदर्थानुसंधानैकनिष्ठः त्रिरावृत्त्या वेदसंहितां, मन्त्रब्राह्मणमित्यर्थः । संहिताग्रहणं चारमणस्थानेष्वेवारमणनियमार्थम् । पदक्रमादीनां तु पुरुषकृतत्वादेव व्यावृत्तेर्न तन्निवृत्त्यर्थं संहितावचनम् । त्रिरित्येतावता च सिद्धे त्रिष्कृत्व इत्युक्तं कृत्वसुज्विषया त्तिसिद्धचर्यम् । तेन पञ्चकृत्वः षट्कृत्व इत्येवमाद्यप्यत्रानुबन्धगुणापेक्षया योज्यम् । मानवेऽपि —

“जपेद् वा नियताहारस्त्रिवै वेदस्य संहिताम् ।”

इति । वेदस्य त्रिरिति सम्बन्धादेकस्य त्रिर्जप्त्वा ततो वेदान्तरस्य त्रिरित्येवं योज्यम्, अस्मादेव कृत्वसुचप्रयोगात् । वैशब्देन च प्रसिद्धार्थद्योतकेनैतदेव द्योतितं — स्मृत्यन्तरसम्प्रदायापेक्षः श्लोकार्थो ग्राह्य इति । एतच्च विद्वद्विषयत्वाद् वेदार्थज्ञस्यैव प्रायश्चित्तं तद्विशेषापेक्षया योज्यम् । अन्ये त्वरण्ये एव यो नियतः स जप्त्वा त्रिष्कृत्वो वेदसंहितां शुध्यतीत्येवं वनस्थस्यैवैतादिति व्याचक्षते । तत्त्वरण्यस्य मानवेऽनुपदेशादविशेषाभिधानेऽपि च तत्सिद्धेर्नावश्यमङ्गीकर्तव्यम् । शुध्येत वा मिताशीत्वा,

१. 'स्य', २. 'वा' गः पाठः, ३. 'प्राप्त्यर्थम्' ग. च पाठः, ४. 'त', ५. 'ज्य, विज', ६. 'सन् ज' ग. पाठः.

मिताशी च यथाश्रमोचितम् “अष्टौ ग्रासा मुनेर्भक्तमि”त्येवमादि, न पथि श्रान्तोऽपि गोतृप्त्या वर्तेतेत्यर्थः । मिताशी इत्वा गत्वेत्यर्थः । स्रोतोऽभिमुखः सोमेश्वरादारभ्याप्लक्षम् । मानवे तु हविष्यभुग्वेत्युक्तम् । तच्च यति-ब्रह्मचारिणोर्यथोक्तलक्षणं भैक्षमेव । इतरयोस्तु स्वधर्मानुसारेणौपासन-श्रामणकाग्निसंस्कृतव्रीहियवश्यामाकनीवारादि प्रत्येतव्यम् । ननुच पति-तस्याश्रमव्यवस्था नैवास्ति, पतितत्वादेव, “द्विजातिकर्मभ्यो हानिः पतन-मि”ति गौतमवचनात् । सत्यमेवं, प्राक् प्रायश्चित्तप्रवृत्तेः । प्रायश्चित्तप्र-वृत्तौ तु यथावर्णं यथाश्रमं च प्रायश्चित्ताविरोधेन वर्तितव्यम् । यदि तु पतितत्वेनाश्रमव्यवस्थापगमः स्यात्, ततः पतितस्याहवनीयाद्याग्निविना-शादग्निष्टुदादिचोदना दुःश्लिष्टा एव स्युः । तेन सत्यपि पतने गृहस्थत्व-स्यानपगमादग्नीनामविनाशः । अतश्चान्यतरपतने सूतकादाविवान्यतरे-णाग्नयो धार्याः । शुद्ध्यनन्तरकाले च कर्मप्रवृत्तिः । उभयपतने त्वप-रित्यज्यैवाग्नींस्तत्पालनमुभाभ्यां कर्तव्यम् । प्रायश्चित्तं च तत्सम्बन्धापरि-त्यागेन जपहोमादिलक्षणं प्रत्येतव्यम् । तेन सरस्वतीप्रायश्चित्तमपि हवि-ष्यभोजननियमाद् यथाश्रमं स्वधर्मानुसारेण व्याख्येयम् । अनग्निकस्यै तु स्नातकस्यापि भैक्षाहारत्वं “भैक्षाहारो वा सरस्वतीं प्रतिस्नोतसमि”ति हारीतवचनाद्, इत्येषा दिक् ॥ २४२ ॥

तदेतदपरं क्षत्रियस्यैव प्रायश्चित्तं —

संग्रामे वा हतो लक्ष्मभूतः शुद्धिमवाप्नुयात् ।

किं मरणान्तिकमेवेदं प्रायश्चित्तं, प्रवृत्तिस्तावत् कृतमरणनिश्चय-स्यैव ।

तथा प्रवृत्तस्तु सः —

मृतकल्पः प्रहारात्तो जीवन्नपि न शुध्यति ॥ २४३ ॥

सङ्ग्रामवचनं क्षत्रियाधिकारप्रतिपत्त्यर्थम् । लक्ष्मभूत आत्मनो रक्षा-मकुर्वन् सन्नहनादिरहितः परकीयशस्त्राण्यकवचयन् साङ्ग्रामिकविधिना

१. ‘यामि’, २. ‘रोधेन व्या’, ३. ‘स्यापि स्ना’, ४. ‘स्य भै’ ग. पाठः. ५. ‘क्षय’ क. पाठः. ६. ‘अन्यदीय’ ग. पाठः.

राजार्थे गवार्थे ब्राह्मणार्थे वाभिर्मुखो घातितः । तथाच वसिष्ठः —
“राजार्थे ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा सङ्ग्रामेऽभिमुख आत्मानं घातयेदि”ति ।
अस्वामी च राजा प्रत्येतव्यः । शुद्धिमाप्नुयादिति संशयव्युदासार्थो लिङ्-
प्रयोगः । तथाचाह मनुः —

“लक्षं शस्त्रभृतां वा स्याद् विदुषामिच्छयात्मनः ।”

विदुषां शस्त्रविदां संग्रामानिपुणानाम् । आत्मन इच्छया न स्वाम्यादेः । शर-
वेध्यकमिवात्मानमगोपायन् युद्धाभिमुखो भवेत् । नात्र संशयः कार्य इत्य-
त्रापि संशयव्यावृत्त्यर्थ एव लिङ्प्रयोगः ।

“प्रास्येदात्मानमग्नौ वा समिद्धे त्रिरवाकिशराः”

इत्येतदपि ब्राह्मणव्यतिरेकेणैव । स्तेयाधिकारे “ब्राह्मणस्तपसैव चे”ति
ब्राह्मणस्तपसैव पापमपनयेद्, न मरणान्तिकेनेति । एतच्च स्तेयाधिकारोक्त-
मपि विशेषवचनाद्वैतं सर्वविषयं द्रष्टव्यम् । तथाचापस्तम्बेन “गुरुतल्पगः
सूर्मीं ज्वलन्तीं प्रविश्यात्मानं दहेदि”त्युपक्रम्य “मिथ्यैतदिति हारीतो
यो ह्यात्मानं परं वाभिहन्यतेऽभिशस्त एव स” इत्यनेन विधिना “ओत्त-
मादुच्छवासाच्चरेदि”त्यैवाब्राह्मणाभिप्रायेणैव दर्शितम् । आचार्येण त्वग्निप्र-
वेशो नोक्तः, प्रत्यक्षश्रुतिचोदितत्वात् । एवं हि काठके श्रूयते—“अनाशकेन
कर्शितोऽग्निमारोहेत् त्रिरवाकिशरा” इति । अत एवाश्वमेधस्वर्जिदादीना-
मप्यत्रानुपदेशः । मानवे तु श्रौतस्मार्तानामेकीकृत्योपन्यासः समानार्थतयैव
स्मार्तानां बाधाशङ्कानिवृत्त्यर्थः । एवं तर्हि बाध एव स्मार्तानां युक्त इति
व्यर्थो भगवतः प्रयत्नः । सत्यं, यद्येकविषयता स्यात् । अत एव विषय-
भेदेन व्याख्यातम् । इतरथा हि वाशब्दादेकनिमित्तसम्बन्धाच्च यदृच्छा-
विकल्प एव स्यात् । यन्नामाविशेषेणैव प्राप्नोति, तत्रैव कल्पान्तरानर्थक्याद्
विषयव्यवस्था । यथा दर्शितं — “योऽश्वमेधेन यजते, य उ चैनमेवं
वेदे”ति । नह्यनधीत्याश्वमेधेन यष्टुं कश्चिच्छक्नुयात् । अत एव

“अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्”

१. ‘जार्थे ब्राह्मणार्थे वा गवार्थे वा’ ड. पाठ. २. ‘मतो घा’ ग. पाठः ३.
‘सैवेति’ ग., ‘सैव प्रा’ क पाठः. ४. ‘द्वेऽपि स’ ग ड. पाठः. ५. ‘नैव वि’ ग. पाठः.
६. ‘ना दत्ताडु’ ड. पाठः ७. ‘ति’, ८. ‘ण द’ ग पाठ ९. ‘तथा स्मा’ ड. पाठः.

इति, “तेनैव पथा मध्वर्थिनः पर्वतं गच्छेयुरिति च शाबरे दर्शितम् । न चात्रार्पणत्वमहत्त्वे विद्येते । कस्यचिद्धि क्लेशसहिष्णोः सात्त्विकस्य द्वादशवार्षिकान्मरणमेव सुकरम् । अन्यस्य तु क्लेशसहिष्णोः सत्त्वहीनस्येतरत् । एवमुदारतृष्णापरापेक्षया मरणसर्वस्वदानयोस्तुल्यता । विद्वन्मूर्खयोश्च संहिताध्ययनमरणद्वादशवार्षिकादिष्वेवमेव । न च यस्याविशिष्टं त्रयोदशस्वपि सामर्थ्यं, तमेवैकं पुरुषमङ्गीकृत्य मानव आरम्भः । तथा सति समविकल्प एव स्यात् । अतो विषयव्यवस्थयैव श्रौतस्मार्तानां परस्परव्याख्यानमुपदेशबलेनैवानुमर्तव्यं न त्वन्यानर्थक्येन इत्येषा दिक् ॥ २४३ ॥

वित्तवत्त्वं वार्षिकस्येदमन्यतः प्रायश्चित्तं पर्वोक्तं वाक्यिकत्वेन —

पात्रे धनं वा पर्याप्तं दत्त्वा शुद्धिं निगच्छति ।

आदातुश्च विशुद्ध्यर्थमिष्टिर्वैश्वानरी स्मृता ॥ २४४ ॥

पात्रे विद्यावृत्ततपःसंपन्नाय स्वाजन्यविद्विष्टाभिसन्धिरहितं धनं गोभूतिलहिरण्यादि पर्याप्तं तदीयेभ्यो नित्यतया प्राप्तेभ्यः श्रौतस्मार्तकर्मभ्यो यद्भवति, तद् दत्त्वा शुद्धिं नितरां गच्छति । सर्वप्रायश्चित्तानामिदमेवाभ्यर्हितमित्याभिप्रायः । मानवे तु दानप्रकारापेक्षः प्रपञ्चो न देयविशेषापेक्षः । देयं त्वेतावदेव । तत्र कदाचित् सर्वस्वमेतन्ममेत्येवं निःशेषमर्पयेत् । यदि तु नित्यानुष्ठानसंप्रदानसंबन्धि कात्स्न्येनालोच्यातिरिक्तमपि दातुः स्वं स्यात्, ततो यावज्जीवनसंबन्धिविहितश्रौतस्मार्तानुष्ठानाय यत् पर्याप्तं, तावदेव दद्यात् । कदाचित्तावन्मात्रेण द्रव्येण पूरयित्वा सपरिच्छदं गृहं वा दद्याद् इति । अत्र दातुरिच्छाविकल्पः, न द्रव्यपरिमाणे कश्चिद् भेदः । एतच्च कामकृते गुणवद्ब्राह्मणवधे द्रष्टव्यं, पात्रे दातव्यमिति वचनात् । न ह्यल्पेन प्रयासेनैवंभूतो ब्राह्मणः शक्यो ग्राहयितुम् । यो हि सम्यग् ग्रन्थतोऽर्थतश्चानुपूर्व्येण न्यायानुसारतश्च वेदं कात्स्न्येन वेत्ति, प्रायश्चित्तोपदेशात् सामिः स्वकर्मानुष्ठाननिरतः स कथमिव प्रतिगृहीयात् । किं वा तादृशे पात्रे एतावद् द्रव्यं दत्त्वा पापान्नापगच्छेत् । अतो गुरुरत एव प्रायश्चित्तं युक्तम् । तच्च दर्शितम् । तस्य चादातुः प्रतिगृह्णानस्य

विशुद्ध्यर्थं वैश्वानरो द्वादशकपालः पुरोडाशः । चशब्दाद् दातुश्चाहिताग्नेरेव । महाधनस्य तावन्मात्रधनस्यैवेति स्थितम् । श्रौतत्वेऽपि चेष्टेरिष्टिवैश्वानरी स्मृतेति स्मृतत्ववचनं मानवेऽनुक्तत्वादपस्मृतित्वाशङ्कानिवृत्त्यर्थम् । सत्यपि तत्रावचने मनुनैवायमर्थः स्मृत इत्यवगन्तव्यमित्यभिप्रायः । तत्रास्यानभिधानं दातुरनियमो यथा स्यादित्येवमर्थम् । तेनानाहिताग्नेरपि सर्वस्वं वा वेदविद इत्येतत् प्रायश्चित्तमस्त्येवेत्येषा दिक् ।

ननु चैतानि प्रक्रान्तद्वादशवार्षिकस्यैवाशक्तौ परिसमाप्त्यर्थानीति युक्तम् । तथाच मनुना—“ब्रह्महा द्वादशाब्दानि”^१त्युपक्रम्य “लक्षं शस्त्रभृतां वा स्याद्” इत्यादि “जपेद्वा नियताहार” इत्येवमन्तमुक्त्वा पुनर्द्वादशवार्षिकसम्बन्धितयैवोक्तं—

“कृतवापनो वा निवसेद् ग्रामान्ते गोव्रजेऽपि वा ।

आश्रमे वृक्षमूले वा गोब्राह्मणहिते रतः ॥

ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा सद्यः प्राणान् परित्यजन् ।

मुच्यते ब्रह्महत्याया गोप्ता गोब्राह्मणस्य वा ॥

व्यवरं प्रतिराद्धो वा सर्वस्वमवजित्य वा ।

विप्रस्य तन्निमित्ते वा प्राणालाभे विमुच्यते ॥”

इत्येवं ब्राह्मणार्थप्राणत्यागादिना द्वादशवार्षिकस्य परिसमाप्तिमुक्त्वोपसंहृतम्—

“एवं दृढव्रतो नित्यं ब्रह्मचारी समाहितः ।

समाप्ते द्वादशे वर्षे ब्रह्महत्यां व्यपोहति ॥”

इति । एवमुपक्रमोपसंहाराभ्यामेकमेवेदं प्रायश्चित्तं सोपस्करमवगम्यते । तथाचोत्तरत्र—

“हत्वा गर्भमविज्ञातमेतदेव व्रतं चरेत् ।”

इति । एतदेव प्रकृतं द्वादशवार्षिकमिति सामञ्जस्यं स्याद्, इतरथा चैतदेवेति न ज्ञायते कस्यायं निर्देश इति । आनन्तर्याद् वाश्वमेधावभृथस्यैव स्यात् । तत्र तस्यासंभवः, कादाचित्कत्वात् प्रायश्चित्तस्य च नित्यत्वेनापेक्षितत्वात् । अतः पूर्वपरिसमाप्तावेव विषयव्यवस्थया “लक्षं शस्त्र-

भृताम्” इत्यादीनि द्रष्टव्यानि, न स्वातन्त्र्येण । न च मरणान्तिकं प्रायश्चित्तं युक्तं, कार्यविरोधात् । शुद्धयर्थं हि तदिष्यते, जीवतश्च शुद्ध्या कार्यं यतः । न च जीवप्रायश्चित्तस्येतरेण विकल्पो घटते, वैषम्यात् । स्वेच्छया चैतरसंभवे मरणान्तिकमध्यवस्यत आत्मघातदोषोऽपि प्रसज्येत । अत एवापस्तम्बेन — “गुरुतल्पगः सूर्मी ज्वलन्तीं प्रविश्यात्मानं दहे-दि” त्युपक्रम्य “मिथ्यैतदिति हारीत” इति, “यो ह्यात्मानं परं वामि-हन्यैते अभिशर्त्ते एव स” इति । अतोऽपि मरणान्तिकमयुक्तम् । यत्र च सवनस्थविप्रवधादौ द्विगुणं व्रतमुच्यते, तत्र द्विर्मरणासंभवात् तदनुपपत्तिरेव स्यात् । अत एकप्रायश्चित्तकल्पनैव युक्तेति । न त्विदमतीव न्याय्यम् । यत्तावदुपक्रमोपसंहारबलमालोच्यैकत्वमुक्तं, तच्छ्रौतैराश्वमेधादिभिर्व्यवधानादयुक्तमेव । नहि द्वादशसंवत्सरोद्देशेनाश्वमेधस्वर्जिंदादिवचनान्यवकल्पन्ते । अवश्यं ह्येषां प्रत्यक्षश्रुतिमूलत्वं वाच्यम् । स्मृतौ चैतानि तु । क्रमानुपपत्तेस्तत्र च द्वादशवार्षिकं ब्रह्महत्योद्देशेन प्रकृत्य य एतत् समापयितुं न शक्नुयात्, स एतेनाश्वमेधादिना यजेतेत्येवं क्रतवो विधातव्याः, फलाद्यर्थतया वा क्रतून् प्रकृत्य द्वादशवार्षिकाशकतावपि यजेतेत्येवम् । उभयथापि चायुक्तं, दम्पत्योरधिकारात्, केवलस्य च प्रवृत्तत्वात् । न च भर्तुरशक्त्या पत्न्यपि प्रवर्ततामिति युक्तं, पत्नीशब्दस्थं वामिवचनत्वाद् अङ्गिर्नि द्वादशवार्षिके तस्या अनधिकारात् । तत्र यदिवा सह पतने द्वादशवार्षिकं, यदिवा क्रतूनां तत्राननुप्रवेशः, विधानाद् द्वादशवार्षिकस्य जंयाहोमेनेव कृष्यादीनामाहवनीयादिसंयुक्तैः कर्मभिरसंबन्धात् तादर्थ्यकल्पनानुपपत्तिः । अतोऽवश्यं क्रतूनां स्वातन्त्र्यमेव वक्तव्यम् । तथा चाम्नायः — “सर्वा ब्रह्महत्यामपहन्ति, योऽश्वमेधेन यजते । अग्निष्टुताभिः शस्यमानं याजयेत् । भ्रूणहत्याया वा एषोऽतिमुच्यते, योऽभिजिता यजेत” इति । एतानि च प्रत्यक्षाण्यतिक्रम्य नानुपलब्धवाक्यान्तरकल्पनायां प्रमाणमस्ति । अतोऽश्वमेधादिचोदनास्तावत् पूर्वप्रक्रमानपेक्षा एव । ताभिर्व्यवहिताः सर्वस्वदानादयस्तद्व्यवहितेन द्वादशशब्देन न सम्बन्धं

१. ‘नितिक’ ग. पाठः. २. ‘क्त्वा मि’ ड. पाठः. ३. ‘न्यते सोऽभि’, ४. ‘स्त इ’ ग. ड. पाठः. ५. ‘नि क्र’, ६. ‘त्र यद्वा’ ग. पाठः. ७. ‘च वृ’, ८. ‘नि च द्वा’ च. पाठः. ९. ‘यजाहो’ ग. पाठः.

लभन्ते । स्मृत्यन्तरेषु तु “अग्नौ सक्तिर्ब्रह्मघ्नश्चिरवच्छातस्य, लक्षं वा स्या-
ज्जन्ये शस्त्रभृतां, खट्वाङ्गकपालपाणिर्वा —” इति च प्रक्रमालोचनया
मरणाशक्तावेव द्वादशवार्षिकं लक्ष्यते । वासिष्ठेऽपि— “ब्रह्महाग्निमुपस-
माधाये”ति प्रकृत्य “राजार्थं ब्राह्मणार्थं वाभिमुख आत्मानं घातयेत् त्रिर-
ञ्जितो वा प्रतिराद्धः पूतो भवतीति विज्ञायत” इत्युक्तत्वात् द्वादशवार्षिकं
“द्वादशवर्षाण्यात्मना व्रतमार्दिश्य न ग्रामे नारण्ये वसेत् खट्वाङ्गकपाल-
पाणिर्”ति । अत्रापि च प्रक्रमानुसारात् पूर्वानधिकृतस्यैव द्वादशाब्दिकमि-
त्यवगम्यते । अन्यासु तु द्वादशाब्दिकस्यानुपदेश एव । वासिष्ठे च विज्ञा-
यत इति च्यवर प्रतिराद्ध इत्यस्य प्रत्यक्षश्रुतिविहितत्वेन द्वादशाब्दाननु-
प्रवेशः स्पष्टीकृत एव । अतः स्वातन्त्र्येणैव विषयव्यवस्थया सर्वाणि व्या-
ख्येयानि व्याख्यातानि च । यस्तूपसंहारः, स पूर्वोक्तापेक्षया योज्यो न
तु तदपेक्षया पूर्वोक्तम्, उक्तस्य ह्युपसंहारः, नोपसंहारादुक्तता । तेन
“कृतवापनो वा निवसेदि”त्येवमादेः पूर्वोक्तसमस्तप्रायश्चित्तशेषत्वम् ।
सर्वत्र चायमविरुद्ध एव नियमकलापः । प्रत्युत द्वादशाब्दिक एवारण्ये
कुटिं कृत्वेत्यनेन विरोधादस्याननुप्रवेशः । न च विकल्पः सम्भवति, त-
त्कल्पनायां द्वादशाब्दाननुप्रवेशोऽयुक्तः । यौ त्वनन्तरौ श्लोकौ, ताभ्यां
प्रायश्चित्तान्तरत्वेन गोब्राह्मणार्थं प्राणत्यागादीन्युपदिश्यन्ते नतु प्रक्रा-
न्तद्वादशाब्दिकस्य, प्रमाणाभावाद्, वासिष्ठे च त्रिरञ्जितो वेत्यत्र विज्ञा-
यत इत्यनेन श्रौतत्वस्य दर्शितत्वात् । यैस्तावदुपसंहारः “एवं दृढव्रतो
नित्यमि”ति, अयमपि सर्वशेष एव । एवमुक्तेन प्रकारेणामुना प्रायश्चित्तेन
मयात्मा नियमेन शोधनीय इत्येवंरूपं द्वादशाब्दशस्त्रभृलक्षभावाग्निप्रवेश-
कत्वनुष्ठानादि यद् व्रतं, तत्र द्वादशाब्दादौ समाप्ते व्रते ब्रह्महत्यां व्यपोह-
तीत्येवं योज्यः । तथाच परमोपसंहारः समञ्जसो भवति —

“अतोऽन्यतममास्थाय विधिं विप्रः सुयन्त्रितः ।

ब्रह्महत्याकृतं पापं व्यपोहेतात्मवत्तया ॥”

इति । अन्यथैकत्वादन्यतममास्थायेत्यसम्बद्धमेव स्यात् । न चान्यत-
ममग्निप्रवेशादिकं द्वादशाब्दसमाप्तिविधिमास्थायेति युक्तं, तथा सति

१. ‘शाब्दिक’ च. पाठः. २. ‘श्रृणुहा’ ग च. पाठः. ३. ‘यै गवार्थे वा’
ड. पाठः. ४. ‘मुदिश्य’ च. पाठः. ५. ‘योऽपि चोप’, ६. ‘२’, ७. ‘त्मा शो’
ग, पाठः. ८. ‘ज्यम्’ ड. च. पाठः.

गुणत्वात् प्राधान्येन निर्देशो न स्यात् । न च तत्समाप्त्यर्थता सम्भवती-
त्युक्तमेव । यदप्यनन्तर—

“हत्वा गर्भमविज्ञातमेतदेव व्रतं चरेद्”

इति, अत्रानन्तर्यादेवान्यतममास्थाय विधिं ब्रह्महत्याव्रतं चरेदित्यादि
योज्यं नतु द्वादशवार्षिकं, व्यवधानेन सर्वनामपरामर्शसम्भवात् ।

“तुरीयो ब्रह्महत्यायाः क्षत्रियस्य वधे स्मृतः ।

वैश्येऽष्टमोऽंशो वृत्तस्थे शूद्रे ज्ञेयस्तु षोडशः ॥

अकामतस्तु राजन्यं विनिपात्य द्विजोत्तमः ।

ऋषभैकसहस्रा गा दद्याच्छुद्ध्यर्थमात्मनः ॥”

इत्युक्तत्वात् —

“अ्यब्दं चरेद् वा नियतो जटिलो ब्रह्महव्रतम् ।

वसन् दूरतरे ग्रामाद् वृक्षमूलनिकेतनः ॥”

इति । तच्च तुरीयवचनादेव सिद्धे सत्यसम्बद्धं स्यात् । यदि तुरीयवच-
नात् सर्वस्वचतुर्थभागदानमपि प्राप्नोति, ततो महाधनस्याकामकृते गोस-
हस्रदानोपदेशः, त्रैवार्षिकं वा व्रतमादिश्येत । इतरथा हि पूर्वश्लोकात्
कामकृतेऽपि त्रैवार्षिकस्यापि प्राप्तत्वादकामकृते तद्वचनमसमञ्जसं स्यात् ।
अतो यथोक्तैव व्याख्या युक्ता । यत्तु कार्यविरोधान्मरणान्तिकमयुक्तमिति,
तदपि “भैक्षं चात्मविशुद्ध्यर्थम्” त्यात्मविशुद्ध्यर्थं प्रायश्चित्तं न शरीर-
शुद्ध्यर्थम् । आत्मद्रव्यमेव प्रायश्चित्तेन संस्क्रियते । तच्च मरणान्तिके इतरत्र
चाविशिष्टम् । यत्तु वैषम्याद् विकल्पो मरणान्तिकस्येतरेणायुक्त इति, तत्
पुरुषाणां बुद्धिवैचित्र्यादकारणमेवेत्युक्तम् । यत्तु स्वेच्छया प्रायश्चित्तान्तरे
सम्भवति मरणमध्यवस्यत आत्मघातकत्वप्रसङ्ग इति, तत् पक्षेकादशिन्या-
मप्येकेन पशुना सह विकल्पेनोपदिष्टायामनेकप्राणिवधे दोषोत्पत्तिः प्रसज्येत ।
सुरायाश्चाभिनवणैरुदकगोमूत्रादिभिः सह वैकल्पिकत्वे स्वेच्छयोपादाने दोषः
स्यात् । द्वादशशब्दसमाप्त्यर्थत्वेऽपि चायं तुल्यो दोषः । विषयविभागकल्पना
चोभयत्र तुल्यैव । आपस्तम्बवचनं तु ब्राह्मणस्य मरणान्तिकनिवृत्यर्थं प्रका-
रान्तरेण वा मरणान्तस्योपदेशार्थम् “ओत्तमादुच्छ्वासादि”ति । अन्यथा
मरणान्तस्योपदेशानामप्रामाण्यमेव स्यात् । गुरुतल्पावसरे च निपुणतरं
वक्ष्यामः । यत्तु द्विगुणं व्रतमिति द्विर्मरणानुपपत्तिः, तत्र सामर्थ्याज्जीव-

प्रायश्चित्तानां प्रयोगावृत्तिकल्पना नतु द्वादशाब्दिकमात्रसम्बन्धिता इत्यलं प्रसङ्गेन ॥ २४४ ॥

इदानीमातिदेशिकान्याह—

यागस्थक्षत्रविद्धाते चरेद् ब्रह्महणो व्रतम् ।

गर्भहा च यथावर्णं तथात्रेयीनिषूदकः ॥ २४५ ॥

यागस्थवचनं प्रयोगमध्य एव दोष इत्येवमर्थम् । यागशब्दश्चायं सोमयाग एव द्रष्टव्यः । “सवनगतौ च राजन्यवैश्यावि”ति स्मृत्यन्तरात् । तथाचाम्नायः — “तस्मादाहुर्न सवनगतं हन्याद् एनस्वीहैव सवनकृते”ति ज्योतिष्मप्रकरणे चैतद्दीक्षितोऽयं ब्राह्मण इत्यावेदनशेषत्वेन । अतश्चावेदनोत्तरकालं दोष इति केचित् । ऋत्विग्वरणप्रभृत्येवं तु युक्तं, सवनगत इत्यत्र भूतार्थस्याविवक्षितत्वात्, क्रतुप्रवृत्तिरेव विवक्ष्यते यतः । इतरथा तु निवृत्तयागस्यैव स्यात् । यत्तु “आवेदनेन हि ब्राह्मणो जायते, यो यज्ञाज्जायते” इति, अर्थवादमात्रं तत् । मानवे तु “राजन्यवैश्यौ चेजानावि”ति कर्तृत्वमात्रविवक्षयैव, न कृतयार्गत्वविवक्षयेत्येवं योज्यम् । अथवा सवनकृच्छ्रतेरीजानाविति मनुवचनादिष्टवतोरेव दोषः । इह स्थवचनाच्च प्रयोगमध्येऽपीति व्याख्येयम् । ब्रह्महणो व्रतं च द्वादशाब्दिकादिपर्याप्तधनदानान्तं पूर्ववद् विषयव्यवस्थया योज्यम् । गर्भहन्ता च यद् यस्य वर्णस्य वधे प्रायश्चित्तं, तदेव तदीयगर्भवधे कुर्यात् । तथात्रेया इत्वा तद्वर्णविहितं कुर्यात् । आत्रेयी च रजोदर्शनादारभ्याषोडशान्यहान्युच्यन्ते । तस्याश्च सन्निहिते भर्तरि प्राक् सम्प्रयोगादेतद् द्रष्टव्यं, वासिष्ठे “अत्र ह्येष्यदपलं भवती”ति श्रुत्युपन्यासात् । अन्ये तु तथात्रेयीनिषूदक इत्यत्र चरेद् ब्रह्महणो व्रतमित्येतद् योजयन्ति, न त्वनन्तरं यथावर्णमिति, आत्रेयीं चात्रिगोत्रां वर्णयन्ति, तदपि युक्तमेव । तथाचाम्नायः — “ततोऽत्रिः सम्बभूवे”त्युक्त्वा “तस्मादप्यात्रेय्या योषितैनस्विनमाहुः” । तेनोभे सम्यग्व्याख्याने एव । स्पष्टमन्यत् ॥ २४५ ॥

इदं चाम्यदातिदेशिकमेव—

चरेद् व्रतमहत्वापि घातार्थं चेत् समागतः ।

द्विगुणं सवनस्थे तु ब्राह्मणे व्रतमाचरेत् ॥ २४६ ॥

अवश्यमस्माभिरसौ ब्राह्मणो हन्तव्य इत्येवं घातार्थं बहूनां समागतानां निष्पन्ने च ब्राह्मणवधे येनाप्यसौ न घातितः, सोऽपि पूर्वोक्त-विषयव्यवस्थाकल्पितं व्रतं चरेदेव । प्रहृते च सत्येतद् द्रष्टव्यम् । अप्रहृते तु —

“बहूनां समवेतानां ब्राह्मणादिवधं प्रति ।

यस्य प्रहाराद् व्यापत्तिः स दुष्येन्नेतरस्तथा ॥”

इति हारीतोपदेशात् । तथाशब्दाच्च तद्वत् पतितो भवति, नतु न दुष्यतीति गम्यते । मवनस्थे द्विगुणमित्यत्रापि न प्रायश्चित्ताभ्यासः । किं तर्हि, गुरुतरं तत्र प्रायश्चित्तम् । ततश्च यथापस्तम्बेनोक्तम् “एतेनैव विधिना वा उत्तमादुच्छ्वासाच्चरेदि”त्येवमादि द्रष्टव्यम् । प्रायश्चित्तद्वयं वा “सर्वस्वं दत्त्वा द्वादशाब्दिकं वा कृत्वा तनो मरणान्तिकमि”त्यादिना प्रकारेण । इतरथा तु द्विर्व्रतमादिशेदित्येवावक्ष्यद्, नतु द्विगुणमिति । मवनस्थे च यजमान एवेदं न त्विजीति । तत्रापि तु दोषातिरेकोऽस्त्येव । प्रायश्चित्तं तु तत्र तदनुरूपं कल्प्यम् । अन्ये तु अन्यथेमं श्लोकं वर्णयन्ति —

चरेद् व्रतमहत्वापि घातार्थं चेत् समागतः ।

सम्यग् बुद्धिपूर्वं वधप्रयोजनं वस्तु कृत्वेति यावत् । येन कृतेनातिशयेन ब्राह्मणस्य स्वयमेव वधे प्रवृत्तिर्भवति, तत् क्रोधोत्पादनं द्रव्यहरणादि । यद्यपि ब्राह्मणो अग्रियतामित्यनया बुद्ध्या न कृतं, तथापि तस्मिन् द्रव्यापहरणादौ कामैतः कृते यदि निमित्तान्तरानपेक्षिणी ब्राह्मणस्य प्राणविपत्तिः स्यात्, तदा व्रतं ब्रह्महत्यासंबन्धि यत्, तदहत्वापि चरेदिति । एतदेव मानवेऽप्युक्तं —

“उक्त्वा चैवानृतं साक्ष्ये प्रतिरभ्य गुरुं तथा ।

अपहृत्य च निक्षेपं कृत्वा च स्त्रीसुहृद्वधम् ॥”

इति । यत्रानृते साक्ष्ये ब्राह्मणस्य स्वतोऽन्यतो वा प्राणविपत्तिः, तथापि तथाविधमनृतमुक्त्वा तत्प्रकारेणैवाभिशापादिना गुरुं प्रतिरभ्य प्रकोपयित्वा संयोज्य वा ब्रह्महत्याव्रतं चरेदेव । गुरौ चाब्राह्मणेऽप्येतद् द्रष्टव्यम् ।

निक्षेपं च मरणहेतुभूतं ब्राह्मणस्यापहत्य, स्त्रियं वा ब्राह्मणस्य, मरणहेतु-
भूताम् अब्राह्मणीमपि हत्वा, सुहृदं चाब्राह्मणमप्येवम्भूतं हत्वा, ब्रह्मह-
त्याघ्नं कात्स्न्येन चरेदित्यभिप्रायः । तथाशब्दश्चात्र प्रकारार्थः । अन्य-
दप्येवम्प्रकारं मरणकारणं ब्राह्मणस्योत्पाद्येत्येवमर्थः । तथाच गौतमः “दुर्ब-
लहिंसायां चापि मोचने शक्तश्चेदि”त्येवमर्थमेवाह । एतच्च क्षत्रियादिष्वपि
योज्यम् । सवनस्थे चैतदेव द्विगुणम् इत्येषा दिक् ॥ २४६ ॥

इदानीं सुरा प्रत्याह —

सुराम्बुधृतगोमूत्रपयसामग्निसंनिभम् ।

सुरापोऽन्यतमं पीत्वा मरणाच्छुद्धिमृच्छति ॥२४७॥

सुरां पानीयं गव्यं वा घृतं मूत्रं पयो वा गव्यमग्निसंनिभं दहनक्षमं
पीत्वा तेनैव निर्दग्धः सुरापो मरणाच्छुद्धिं गच्छतीति श्लोकार्थः । अत्र च
पैष्ट्यामेव सुराशब्द इत्येतद् “ब्रह्महा मद्यपः स्तेन” इत्यत्रोक्तमेव ।
त्रयाणां च वर्णानां मतिपूर्वे सुरापान एवैतत् प्रायश्चित्तं, ब्राह्मण्याश्च ।
क्षत्रियवैश्ययोषितां पुनर्नैतत् प्रायश्चित्तं,

“सुरां पीत्वा द्विजो मोहादग्निरवर्णां सुरां पिबेत् ।”

इति द्विजस्यैव प्रायश्चित्तोपदेशात्, स्त्रीणां चाद्विजत्वात् । कथं तर्हि
ब्राह्मण्याः

“पतिलोकं न सा याति ब्राह्मणी या सुरां पिबेत् ।”

इति, आरम्भसामर्थ्यात् । गौतमे च — “सुरापस्य ब्राह्मणस्योष्णामासिञ्चेयुः
सुरामास्ये मृतः शुच्येदि”त्यत्र स्त्र्यर्थमेव ब्राह्मणग्रहणं कृतम् । अन्यथा
तु द्विजस्येत्येवावक्ष्यत् । न च क्षत्रियवैश्यव्यावृत्त्यर्थं तदिति युक्तं, मानवे
द्विजवचनात् । नोपसंहारार्थं, प्रतिषेधश्लोके त्रयाणां पृथगुपादानात्,

“सुरा वै मलमन्त्रानां पाप्मा च मलमुच्यते ।

तस्माद् ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत् ॥”

इति । तेन गौतमीये ब्राह्मणस्येति प्रायश्चित्तस्य ब्राह्मणजातिमात्रसंब-
न्धार्थम् । न च पुलिङ्गनिर्देशात् पुंसो ब्राह्मणस्येति युक्तम्, उपादानानर्थ-

क्यप्रसङ्गादित्युक्तम् । अत एव मानवे पृथक् प्रतिषेधश्लोकारम्भः । अन्यथा तु ब्रह्महत्यायामिव प्रायश्चित्तोपदेशादेव सिद्धेरनर्थकः स्यात् । तेनात्र सुराप इत्यविशेषाभिधानेऽपि स्मृत्यन्तरानुसारादेवं व्याख्येयम् । गौलमाध्योस्तु ब्राह्मणसंबन्धितयैव प्रतिषेधाद् द्विजसंबन्धित्वाच्च प्रायश्चित्तस्य नेदं प्रायश्चित्तं, सुरासंबन्धेन चोपदेशात् “सुरां पीत्वा द्विजो मोहादि”ति । इतर-योश्चासुरात्वात् । अतो गौलीमाध्योः कामतः पाने वासिष्ठं “मद्यपाने त्व-सुरायाः सुरायाश्चाज्ञाने कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ घृतप्राशः पुनः संस्कारश्चे”ति । एवमन्यान्यपि सुरापानवाक्यानि योज्यानि ॥ २४७ ॥

एव कामकृते त्व-यासे मरणान्तिकं प्रायश्चित्तमुक्तम् । अधुना कामकृत एवावभ्यासं प्रायश्चित्तमाह—

बालवासा जटी वापि चरेद् ब्रह्महणव्रतम् ।

पिण्याकं वा कणान् वापि भक्षयेत् समं निशि ॥२४८॥

ब्रह्महत्याव्रतं समां चरेदित्येवं योज्यम् । न च प्रायश्चित्तद्वयोपदेश-भ्रान्तिः कर्तव्या, मानवैकवाक्यत्वात्

“कणान् वा भक्षयेदब्दं पिण्याकं वा सकृन्निशि ।

सुरापानापनुत्यर्थं बालवासा ध्वजी जटी ॥”

इति ।

“सुरां पीत्वा द्विजो मोहादग्निवर्णी सुरां पिबेत् ।”

इत्येतस्मात् प्रकृतेऽपि पुनः सुरापानापनुत्यर्थम् इति सकृत्पात्रायैव भग-वतोक्तम् । अतः कामकृत एव सकृत् सुरापाने एतदिति स्थितम् । शाङ्गे-ऽपि “सुरापोऽग्नितप्तमस्पृश्यमुदकं पिबेत् स तेन निर्दग्धकायः शुद्धिमाप्नो-ती”ति कामकृताभ्यस्तपानविवक्षयाभिधाय तत आह— “अथवा बाल-चीरवासाः सुरापः खट्वाङ्गी गुरुतल्पगश्च ब्रह्महत्याव्रतमेव चरेयातां, तौ तावता कालेन शुद्धिमाप्नुतः” इत्येतदेव सांवत्सरिकमुक्तं, न तु द्वादशा-ब्दिकम् । तत्र तावता कालेनेत्येतदवक्तव्यमेव स्यात् । अतो यत् पूर्वं “पतितो ह्यात्मानमुद्धरेत्, संवत्सरं तसकृच्छ्रमाचरेदि”त्यादि ब्रह्महत्या-विहितं, तदेवाचरेदित्यभिप्रायः । एवं मनुना सैहिकवाक्यता सिध्यति । अन्यथा तु तद्विरोधात् प्रतिज्ञातार्थविरोधः स्यात् । यदुक्तं—

“समीक्ष्य निपुणं धर्ममृषिभ्यो मनुभाषितम् ।

आम्नायात् सम्यगुद्धृत्य शङ्खश्च लिखितस्तथा ॥”

इति । सांवर्तेऽप्येतदेवोक्तं —

“वत्सरं वा कणानभन् सर्वान्नरसवर्जितः ।”

इति । अत्र विशेषो “बालवासा जटी कणपिण्याकयोरन्यतरद् गत्रौ सकृ-
दभन्” इति । आपस्तम्बोक्तं तु — “सुरां पीत्वा स्तेयं कृत्वा गुरुतल्पं
च गत्वा ब्रह्महत्यामकृत्वा चतुर्थकालं मितभोजिनस्त्रिरपोऽभ्यवयन्तस्त्रिभि-
र्वर्षैः शुध्यन्ति” इति । एतच्च समुचितविषयम् । अन्यथा ब्रह्महत्यामकृत्वा
इत्येतदवचनीयं स्यात् । अतस्त्रितयमायुर्बुद्धिपूर्वं कथञ्चित् कृत्वापस्त-
म्बोक्तम् । यद्यप्याङ्गिरसे वज्राख्यं व्रतं प्रकृत्योक्तं —

“महापातकसंयुक्ता वर्षैः शुध्यन्ति ते त्रिभिः ।”

इति, तद् ब्रह्महत्याविषयमेव द्वादशाब्दिकवैकल्पिकं विदुषां ब्राह्मणानामेव
द्रष्टव्यम् । सुरापाने तु —

“कालस्य तु यथोक्तस्य ब्राह्मणा एव कारणम् ।”

इति तत्रैव यदुक्तं तद् द्रष्टव्यम् । ब्राह्मणा एव कारणमिति वदन् स्मृत्य-
न्तराधीनः कालनियम इत्येतदेव ज्ञापयति । एवमन्यान्यपि स्मृत्यन्तरो-
क्तानि सुरापानप्रायश्चित्तानि योज्यानि ॥ २४८ ॥

एवं सतिपूर्वेऽभ्यासे मरणान्तमभ्यासे च मंत्रसंस्कारं ब्रह्महत्याव्रतं कणादिभोजनमुक्त-
मुक्त्वा अथेदानीममतिपूर्वं वक्तुमाह —

अज्ञानात् तु सुरां पीत्वा रेतो विण्मूत्रमेव वा ।

पुनः संस्कारमर्हन्ति त्रयो वर्णा न संशयः ॥ २४९ ॥

अज्ञानादिति । प्रतिषेधाज्ञानं यदि स्यात् । तथा रेतोविण्मूत्रेष्वपि ।
ततश्चयोः वर्णाः संस्कारमुपनयनं कृतोपनयनाः सन्तोऽपि पुनरप्यर्हन्ति । न
चात्र स्वल्पमिदं प्रायश्चित्तम्, अतोऽन्यदपि किञ्चित् कल्प्यमित्येतद् न
संशयः इत्यनेन स्पष्टीकृतम् । यस्तु प्रतिषेधं जानाति, सुरेयमिति ज्ञात्वा
पिबति, तस्याप्यनभ्यासे वासिष्ठम् । एवं मूत्रादिष्वपि योज्यम् । प्रागुपन-
यनात्त्वज्ञातसुरापाने तेनैवोपनयनसंस्कारेण शुद्धिः । यथाह मनुः —

“अज्ञानाद् वारुणीं पीत्वा संस्कारेणैव शुध्यति ।”

इति । अत्र पुनःशब्दाभावाद् आद्य एव संस्कारोऽभिप्रेतः । तथाचान्यत्र पुनःशब्दः कृतः —

“अज्ञानात् प्राश्य विण्मूत्रं सुरासंस्पृष्टमेव च ।

पुनःसंस्कारमर्हन्ति त्रयो वर्णा द्विजातयः ॥”

इति । द्विजातिवचनात् पुनःशब्दाच्च कृतोपनयनानामेवैतज्ज्ञायते । अतश्च “संस्कारेणैव शुध्यती”त्येतदाद्यसंस्कारविषयं द्रष्टव्यम् । गौतमीयास्तु प्रतिषेधाद् “मद्यं नित्यं ब्राह्मण” इति प्रागप्युपनयनाद् दोषोऽस्ति, न तु तत्र प्रायश्चित्तान्तरं. “संस्कारेणैव शुध्यती”ति वचनात् । अतश्चैतदपि श्लोकार्धमनुपनीतस्यैवेति केचित्,

“मतिपूर्वमनिर्देश्यं प्राणान्तिकमिति स्थितिः ।”

इति । अयमस्यार्थः — यद्यनुपनीतः सन्नज्ञानादकामतो वारुणीं पैष्टीं सुरां पिबेत्, ततः संस्कारेणैव शुध्यतीति, मतिपूर्वं त्वनिर्देश्यं पीत्वा प्राणान्तिकं तस्यापि प्रायश्चित्तमिति स्थितिः इति, नात्र प्रायश्चित्तान्तरमालोच्यमित्यभिप्रायः । अनिर्देश्यमित्येतत् पानविशेषणं, तावदनेकशः कामकारेण पिबति ग्रावन्निर्देशं न शक्यते, कतिकृत्वः कियत्परिमाणं वेति यावत् । अन्येऽप्येतदविशेषेणैव वर्णयन्ति—नानुपनीतस्यैवेति, तच्च “सुरां पीत्वा द्विजो मौहादि”त्यनेनैव सिद्धत्वान्नातीवोपयुज्यत इति पूर्वव्याख्यैव युक्ता । सुरासंस्पृष्टप्राशने चोपनीतस्य संस्कारोपदेशाद् दण्डापूपिकया सिद्धेर्नातीव तद्विषयता स्यात् । अतोऽपि यथोक्तैव विषयकल्पना इत्येषा दिक् ॥ २४९ ॥

ब्राह्मण्या अप्येतदेव सुरापाने प्रायश्चित्तं सस्कृतासंस्कृतविषयत्वेन यथाहं कलयमित्येतत् प्रतिपादयितुं निन्दार्थवादीपन्यासेनाह —

पतिलोकं न सा याति ब्राह्मणी या सुरां पिबेत् ।

इहैव सा शुनी गृध्री सूकरी वोपजायते ॥ २५० ॥

पतिव्रतात्वेनार्जितमपि पतिलोकं न सा गच्छति, या ब्राह्मणी सुरां पिबेत् । सुराशब्दश्चायं मद्यमात्रोपलक्षणार्थो न मुख्यसुराप्रतिपत्त्यर्थः, अर्थवाद्गतत्वात् । यदि हि विधायकवाक्यगतः स्यात्, ततो मुख्यार्थ एव गृह्येत । अर्थवादे तु मद्यमात्रं निन्दितुं सुराशब्देनोच्यते । ननु चाबुद्धिपूर्वप्रभवत्वाद् वेदस्यार्थवादत्वेन व्याख्यानं युक्तं, पौरुषेयेषु पुनर्वचनेष्व-

र्थवादत्वमबुद्धिपूर्वकारितामेवावहति । सत्यं, यद्यर्थवादमात्रविवक्षयैव प्रयु-
ज्येत । स्मृतिकारास्तु न प्ररोचनामात्रपर्यवसायित्वेनार्थवादान् प्रयुञ्जते,
किन्तिर्हि, कार्यविशेषप्रतिपत्त्यर्थमेव । अत एव प्रायश्चित्तविधानार्थ एवायं
श्लोक इति व्याख्यातम् । लक्षणव्याख्यानसिद्ध्यर्थमर्थवादप्रकारेणोपन्यासः ।
अतश्च पतिलोकं न सा यातीति वचनाद् भर्तुर्निर्दोषत्वमिति गम्यते । यत्तु
स्मृत्यन्तरं —

“पतत्यर्धं शरीरस्य भार्या यस्य सुरां पिबेत् ।

पतितार्धशरीरस्य निष्कृतिर्न विधीयते ॥”

इति, तद् भार्याशब्दश्रवणादपरित्यजतः पतितसंप्रयोगाद् द्रष्टव्यम् । इह
तु भर्ता परित्यक्ता सती या पिबति, सा पतिलोकं न यातीति व्याख्येयम् ।
सा हि घोरान् नरकाननुभूय पुनरपीहैव लोके शुनी गृध्री ग्रामसूकरी
चेत्येवंविधासु तिर्यग्योनिष्वापलयात् पुनः पुनरुत्पद्यते नोत्कृष्यते इत्यभि-
प्रायः । एवं ब्राह्मण्या मतिपूर्वेऽन्यत्र वा सकृदभ्यासे सुरापाने मद्यपाने च
ब्राह्मणवत् प्रायश्चित्तकल्पना । क्षत्रियावैश्ययोस्तु मुख्यसुरापाने सुमन्तु-
नोक्तं—“सुरापस्य प्रायश्चित्तं षण्मासं वृतसमुद्रौकःस्नानं सांविच्या दश-
सहस्रसंपातः शिरस्यन्ते सान्तपनं सर्वकृच्छ्रेण शुद्धो भवति” । अस्यार्थः—
सुरां यः पीतवान्, प्रकर्षेण मतिपूर्वं च स सुरापः । असाधारण्ये हि समासो
भवति । अतस्तत्सिद्धयर्थं बुद्धिपूर्वेऽभ्यासे चेत्युक्तम् । तस्य सुरापस्य
प्रायश्चित्तं षण्मासम् । वृतसमुद्रौकःस्नानम् ओको निवासः समुद्र ओको
निवासो यासां नदीनां ताः समुद्रौकसः, समुद्रगामिन्य इत्यर्थः । वृताश्च
समुद्रौकसश्च वृतसमुद्रौकसः, तासु स्नानं वृतसमुद्रौकःस्नानम् । वृताश्च
कैटादिभिः परिवेष्टिताः । समुद्रगामिन्यां कैटादिपरिश्रिते गुप्ते स्नानमित्यर्थः ।
षण्मासस्य चान्ते दशभिर्गायत्र्याः सहस्रैः शिरस्युदकमोक्षः सान्तपनं च ।
एकस्मिन्नहनि पञ्चगव्यं पीत्वोपवासः, अन्यस्मिन्नपीत्वेत्येतत् । नात्र महा-
सान्तपनं, षण्मासमपि कृच्छ्रेण प्राजापत्येन तप्तकृच्छ्रेण वावस्थानम् । एतच्च
यद्यप्यविशेषेणोक्तं, तथापि क्षत्रियवैश्ययोषितामेव द्रष्टव्यम् । कुतस्तत्,

“प्रायश्चित्तार्धमर्हन्ति स्त्रियो व्याधित एव च ।”

इति स्मृत्यन्तरात् । कृच्छ्राब्दं च द्विजानां विहितं तदर्थं चैतत् । अतः
पुंसामसम्भवात् स्त्रीणामेवंविधानां च बालवृद्धातुराणां च । एवञ्च परि-

श्रितस्नानस्य स्नानादिसम्बन्धादौचित्यं समर्थितं स्यात् । अत्रापि च ब्राह्मण्याः पुरुषवत् प्रायश्चित्तोपदेशादितरयोरित्येषा दिक् । सकृत्पाने तु मतिपूर्वं कृच्छ्रं चान्द्रायणं च । अमत्या कृच्छ्रमेव । यथाह मनुः—

“एतदेव व्रतं कुर्याद् योषित्सु पतितास्वपि ।

वस्त्रान्नमासां देयं तु वसेयुश्च गृहान्तिके ॥”

इति । अन्यस्यान्नान्तरस्य व्रतस्यानुपदेशात् पतितपरित्यागोद्धारश्लोक-
व्यवहितमपि स्त्रीसंबन्धितयैव विहितं व्रतम् एतदेव व्रतं कुर्यादित्यनेन निर्दिश्यते । तत्र चोक्तं —

“सा चेत् पुनः प्रदुष्येत सद्यश्चेनोपमन्त्रिता ।

कृच्छ्रं चान्द्रायणं चैव तदस्याः पावनं स्मृतम् ॥”

इति । अत्र चशब्दैवशब्दाभ्यां व्यस्तसमस्ततया प्रयोगो विज्ञायत इति विषयव्यवस्थया व्याख्यातमिति । एवमन्यान्यपि सुराषप्रायश्चित्तानि व्याख्येयानि । केचित्तु स्त्रीणां मद्यपाने नैव दोष इति वर्णयन्ति,

“यक्षरक्षःपिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम् ।

तद् ब्राह्मणेन नात्तव्यं देवानामश्नता हविः ॥”

इति प्रतिषेधे पुंयुक्तसंयोगश्रवणात् । तच्च जातिमात्रविवक्षयैव न लिङ्ग-
विवक्षार्थं, ब्राह्मणस्याविवेकत्वाद् ब्राह्मणजात्युपलक्षितस्य पानानुवादेन प्रतिषेधो विधीयते । न च लक्ष्यमाणस्य विशेषणं विवक्ष्यत इति न्याय-
विदः । अन्ये तु ब्राह्मणशब्दमप्युपलक्षणं मन्यमानाः शूद्रस्यापि पानप्रति-
षेधं वर्णयन्ति, हेतुवन्निगदानामविशेषाद्,

“अमेध्ये वा पतेन्मत्तो वैदिकं वाप्युदाहरेत् ।”

इति । शूद्रस्याप्येतत् किल संभवत्येव । अपिच तस्यैव वैदिकोदाहरणे दोषः
स्वस्थावस्थायाम् । अतस्तस्यैव मत्तस्य सतस्तत्प्रसङ्गो मा भूदिति सुतरां
हेतुः समस्रसो भवतीति । अत्राप्युपलक्षणत्वे हेतुर्वक्तव्यः । सुराशब्दस्याप्य-
न्नमात्रोपलक्षणत्वं किमिति न स्यात्, तस्याप्यत्यशनाद् विषूचिकादिना भव-
त्येवायं हेतुस्मेध्ये वा पतेन्मत्त इति । अतो यत्किञ्चिदेव । उत्तरश्लोके च—

“यस्य कायगतं ब्रह्म मध्येनोत्प्लाव्यते सकृत् ।

तस्य व्यपैति ब्राह्मण्यं शूद्रत्वं च निगच्छति ॥”

इति यदुक्तं, तच्छूद्रस्य नोपपद्यत इति कृत्वा विचारणीयम् । देवाना-

मभता हविरित्येतत् क्षत्रियवैश्ययोरापि वैतानिकाग्निसंस्कृतभक्षणप्रतिषे-
धादनुपपन्नम् । किमुत द्रव्यस्य । अथ पाकयज्ञसंबन्धेन क्षत्रियवैश्ययोः
शूद्रस्यापि पाकयज्ञीयं यद् देवानां हविस्तदश्नता इत्युच्येत, तथा सति
व्यावर्त्याभावादनर्थकमेव स्यात् । अतो यत्किञ्चिदेव । तथान्ये मद्यशब्दं
मदयोगनिमित्तं व्याचक्षते । ततश्च सन्धानानन्तरमनुत्पन्नायां मदशक्तौ
पश्चाद्वापगतायां ब्राह्मणस्याप्यदोष एवेति । तथाच किल कचिदेवमाच-
रन्ति । यत्र तु नाचर्यते, तत्र मद्यभाण्डस्थितमिति कृत्वा । तत्तु मदनीयेऽपि
कोद्रवौदनादावप्रयोगाद् विशिष्टसामग्रीजन्यतयैव परिग्राह्यं मदस्योत्पादकं
किण्वादिसामग्र्युपलक्षितम् । सन्धानद्वारेणैव मद्यशब्दस्य प्रयोगो लौकि-
कानाम् । लोकश्च शब्दार्थाधिगमहेतुरिति नातीव क्लेशनीयम् । यथैवार्या-
वर्तनिवासिशिष्टव्यवहारस्थितिः, तथैव स्मृत्यर्थोऽनुसर्तव्यो न तद्विपर्ययेण ।
विशेषतस्तु महापातकाधिकारे इत्यलं प्रसङ्गेन ॥ २५० ॥

इदानीं कमप्राप्तं सुवर्णस्तेयप्रायश्चित्तं वक्तुमाह—

ब्राह्मणस्वर्णहारी तु राज्ञे मुसलमर्पयेत् ।

स्वकर्म ख्यापयंस्तेन हतो मुक्तोऽपि वा शुचिः ॥ २५१ ॥

ब्राह्मणसात्कृतं स्वर्णमपहरति यः स आत्मनो विशुद्धचर्यं राजान्तिकं
स्वयमेव मुसलं गृहीत्वा गच्छेत्, ततश्च स्वकर्म यथावृत्तं निःशेषं नि-
र्व्याजं च ख्यापयित्वा तन्मुसलं राज्ञे समर्पयेद् — अनेन मां भवान् शं-
स्तुमर्हतीति । ततो राज्ञा तेन मुसलेन हतः शुध्येत् । यदिवा कथञ्चि-
न्मरणान्तिकप्रायश्चित्तानर्होऽयमिति कृत्वा कृपया वा न हन्यात्, तथापि
राज्ञा मुक्तो विसर्जितो दण्डेन वा मुक्तः शुचिरेव स्याद्, नैव प्रायश्चि-
त्तान्तरं कुर्यादित्यभिप्रायः । तुशब्दाच्च सुवर्णहरणमात्रमेव कृत्वैतत् । येन
त्वपहृत्योपयुक्तं, न च प्रतिनिर्यातयितुं क्षमः, तस्यैतन्नैव शुद्धिसाधनमि-
त्यभिप्रायः । श्रौतं तु तस्यापि भवत्येव । यथाह वसिष्ठः — “ब्राह्मण-
सुवर्णहरणे प्रकीर्य केशान् राजानमभिधावेत्—स्तेनोऽस्मिं भोः शास्तु मां
भवानिति । तस्मै राजौदुम्बरं शस्त्रं दद्यात्, तेनात्मानं घातयेद् मरणात्
पूतो भवतीति विज्ञायते । निष्कालको वा घृताक्तः कंरीषाग्निना पादात्

१. 'माह' च पाठः. २. 'मा' ग. पाठः. ३. 'स्मिं शा' च. पाठः. ४. 'मां',
५. 'का' ड. पाठः. ६. 'प' ग. च. पाठः.

प्रभृत्यात्मानं दाहयेद् मरणात् पूतो भवतीति विज्ञायते” इति । अत्र विज्ञायत इति श्रुत्युपन्यासादेतद्व्यतिरेकेण स्मृतेर्विषयकल्पना न्याय्या । तत्र तु शब्दाभावादुपयोगपर्यन्त एव हरण इति गम्यते । ब्राह्मणसुवर्णहारी त्विति तु शब्दसामर्थ्यात् प्रतिनिर्यातनशक्तस्यैव हरणे सत्येतदित्यवगम्यते, राजाभिगमनेच्छातः सर्ववर्णानाम् । राज्ञा त्वब्राह्मणानामेव वधः कार्यः, ब्राह्मणस्तु दण्डेन मोक्तव्य इति केचित् । तत्त्वयुक्तं, ब्राह्मणोद्देशेनैवास्योक्तत्वात् । तथाचाह मनुः —

“सुवर्णस्तेयकृद् विप्रो राजानमभिगम्य तु ।

स्वकर्म ख्यापयन् ब्रूयान्मा भवाननुशास्त्विति ॥

ततो मुसलमादाय स्वयं हन्यात् तु तं नृपः ।

वधेन शुध्यति स्तेनो ब्राह्मणस्तपसैव वा ॥”

इति । न चात्र विप्रग्रहणस्यान्यार्थत्वं शक्यते वक्तुम्, आनर्थक्यप्रसङ्गाद्, अन्तरेणापि विप्रग्रहणं स्तेनमात्रस्य लब्धत्वात् । न च राजाभिगमनमात्रं विप्रस्योक्तं वधस्त्वन्यविषय इति युक्तं,

“ततो मुसलमादाय स्वयं हन्यात् तु तं नृपः ।”

इत्यत्र शास्त्विति वचनात् तमेव प्रकृतं विप्रमिति गम्यते । यत्तु ब्राह्मणस्तपसैव वेत्येवकारसामर्थ्याद् ब्राह्मणस्य तप एव, अन्यस्य तु वधस्तपो वेति वर्णयन्ति । तदप्यन्यस्यात्राप्रकृतत्वान्निर्युक्तिकमेव स्यात् । एवकारस्तु तपसो वधेन सहातुल्यार्थत्वात् कल्पान्तरप्रसङ्गनिवृत्त्यर्थः, तपसैव वा केवलेन शुध्यति, वधेन वा राजान्तिकगमनद्वारेणेति । ततश्चेच्छन् ब्राह्मणो राजानमुपगच्छेत्, तेन हतो मुक्तो वा शुध्येद्, यद्वा राजान्तिकमगत्वैव तपः कुर्यात् । तच्च तपः संवर्तोक्तं —

“स्वतन्त्रस्तु स सन्ताप्य सुवर्णस्तेयजं मलम् ।

चीरवासा द्विजोऽरण्ये चरेद् ब्रह्महृणव्रतम् ॥”

इति । अरण्यवासाच्च लिङ्गाद् द्वादशवार्षिकमेव स्याद् । यद्वा सर्वब्रह्महत्याव्रतातिदेश एवायम् । तथाचोपसंहारे “एतैर्व्रतैरिति” बहुवचनमुपपन्नं भवति । अन्यथा तु द्विवचनमेव स्यात् । द्विजग्रहणाच्चोपनीतस्यैवैतत् । अनुपनीतस्य त्वदोष एवेत्यभिप्रायः । यत्तु क्षत्रियादीनां प्रायश्चित्तान्त-

प्रायश्चित्ताध्याये प्रायश्चित्तप्रकरणं पञ्चमम् ।

१२१

रानुपदेशाद् विप्रग्रहणमुपलक्षणमिति व्याचक्षते । ते “ब्राह्मणो न हन्तव्यः”
“सुरा न पेया” इत्येवमादिष्वपि ब्राह्मणादिशब्दान् हन्यमानमात्रोपलक्ष-
णार्थान् यन्न वर्णयन्ति, तत् किमप्याश्चर्यम् । राजानमभिगम्येत्यत्र वा
राजशब्दमनुशासकमात्रलक्षणयाचार्याद्यर्थं किमिति न व्याचक्षते । ये तु
ब्राह्मणवधो राज्ञो न युक्त इति क्षत्रियादीनामेवंजातीयकमिति ब्रुवते,
तेनूनं चोदनाव्यापारनिरपेक्षा एव स्वयं धर्माधर्मौ जानन्तीत्यप्रतिसमाधेया
एवेत्यलं प्रसङ्गेन ॥ २५१ ॥

इदानीमत्रैव प्रायश्चित्तान्तरमाह —

अनाख्याय नृपे शुद्धयै सुरापव्रतमाचरेत् ।

आत्मतुल्यं सुवर्णं वा दद्याद् वा विप्रतुष्टिकृत् ॥२५२॥

अनिवेद्यैव राज्ञे सुरापव्रतेन शुध्येद् इति । अत्र

“बालवासा जटी वापि चरेद् ब्रह्महणो व्रतम् ।

पिण्याकं वा कणान् वापि भक्षयित समां निशि ॥”

इत्येतत् सुरापव्रतं विज्ञेयम् । ततश्च तद्वदेव मतिपूर्वे स्वल्पसुवर्णहरण
एव स्यात् । स्वल्पं चार्वाक् सुवर्णात्, सुवर्णशब्दस्य द्रव्ये तत्परिमाणे
चाविशेषात् । न चानेकार्थग्रहणेऽपि दोषः, सुवर्णगत एव परिमाणे दर्श-
नात् । अतश्च परिमाणवचन एवात्र ग्राह्यः, अर्थतो द्रव्यावगतिः । त-
थाच व्यासः—

“सुवर्णस्यापहरणे माषकेनापि पातकम् ।

निष्कं पादं तु हस्तो न विद्मः किं भविष्यति ॥”

तथा

“सुवर्णमेकं गामेकां भूमेरप्येकमङ्गुलम् ।

अपहृत्य द्विजाभ्येभ्यो (नास्थिरा? नचिराद्) वध्यते ध्रुवम् ॥”

इति प्राक्सुवर्णादल्पदोषतां दर्शयति । तथा —

“देयस्य परिमाणेन पात्रस्य च यथोत्तरम् ।

दानेऽपहरणे च स्यात् फलं मध्याधमोत्तमम् ॥”

इति । अतोऽपि द्वियमाणद्रव्यविशेषापेक्षया परिग्रहविशेषापेक्षया च प्राय-
श्चित्तकल्पना युज्यत एव । ततश्च सुवर्णादूर्ध्वं द्रव्यपरिमाणापेक्षया ब्रह्म-
हत्याप्रायश्चित्तानां त्रिषयकल्पना । सुवर्णशतमपहरतो ब्राह्मणस्य राजान्ति-
कगमनम् । तत्र च राज्ञा मुसलेन हतः

१. ‘नैव शु’ ड. पाठः. २. ‘बा’ च. पाठः. ३. ‘ण’ ग. पाठः.

“यदि जीवति स स्तेनस्ततः पापात् प्रमुच्यते”

इति संवर्तवचनाच्छुध्येत् । यदि तु राजान्तिकं न गच्छेत्, तदा आत्म-
तुल्यम् आत्मना समतुलितं सुवर्णं ब्राह्मणाय दद्यात् । अथवा तावतः
सुवर्णस्यान्यत् प्रतिवस्तु ग्रामादिकं विप्रस्य तुष्टिकरं दद्यात् । क्षत्रियादीनां
तु सुवर्णशतातिरेकेण हरणे वासिष्ठमेव प्रायश्चित्तद्वयं विकल्पेन स्यात् ।
आपस्तम्बोक्तमपि —

“स्तेयं कृत्वा सुरां पीत्वा गुरुतल्पं च गत्वा ब्रह्महत्यामकृत्वा ।

चतुर्थकालं मितभोजिनः स्युरपोऽभ्यवेयुः सवनानुकल्पम् ॥

स्थानासनाभ्यां विहरन्त एते त्रिभिर्वर्षैस्तदपहन्ति पापम् ॥”

इति । तत् प्राक्सुवर्णादमतिपूर्वेऽपहरणे गुरुतल्पे चामतिपूर्वे सकृद्गते सुरा-
याश्चामतिपूर्वं एवाभ्यवहारसंयोगमात्रे युगपत् कथञ्चिदमिनिर्वृते इत्ये-
तद् व्याख्यातमेव । आङ्गिरसोक्तमपि ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तैः सह विषयव्य-
वस्थया योज्यं

“महापातकसंयुक्ता वर्षैः शुध्यन्ति ते त्रिभिः ।”

इति । गुणवतस्तु हर्तुः सुवर्णादवाङ् मतिपूर्वं सुमन्तुर्विहितं—“सुवर्ण-
स्तेयी मासं सावित्र्याष्टसहस्रमाज्याहुतीनां जुहुयात् । सर्वकृच्छ्रेण च पूतो
भवती”ति । एवमन्यदपि । यदि स्तेयप्रायश्चित्तं स्मृत्यन्तरे स्यात्, ततो-
ऽनेनैव मार्गेण योज्यम् । सुवर्णस्तेये च गुणवद्ब्राह्मणसम्बन्धिन्येव महा-
पातकं स्यात् । तस्यैव द्वयं प्रत्यनौपचारिकं स्वामित्वम् । इतरस्य तु
संव्यवहारमात्रेणौपचारिकं, प्रभुत्वमात्रापेक्षया स्वशब्दो यतः । अथ कस्मा-
न्निर्गुणानामपि स्वत्वं न भवति, शास्त्रगम्यत्वात् स्वत्वसम्बन्धस्य । यदि
हि परिग्रहणमात्रेण प्रभुत्वमात्रेण वा स्यात्, ततः सर्वस्य स्यात् । तथाच
सति चौर्येणापि तत्सम्भवादपहरणमेव न स्यात् । शास्त्रगम्यत्वे वा निर्गु-
णस्य किमिति नेष्यते, प्रतिग्रहाद्रीनामेवार्जनोपायत्वेन नियमान्निर्गुणस्य
च तदसम्भवात् । यथोक्तं—

“विद्यातपोभ्यां हीनेन न तु ग्राह्यः प्रतिग्रहः”

इति । एवं याजनाध्यापनयोरपि । यथाह कात्यायनः —

१. ‘यद्वा ता’; २. ‘वैः पापमपनुदन्तीति’ ग. च. पाठः. ३. ‘कं प्रभुत्वं,
प्रभुत्वमात्रविषयम्’ ड. पाठः.

“अविद्वान् याजको वा स्यात् प्रवक्ता चानवस्थितः ।

तावुभौ चोरदण्डेन विनीय स्थापयेत् पथि ॥”

इति । एवमन्यान्यन्यनेकशः प्रतिग्रहाद्यनधिकारं प्रतिपादयन्ति । ततश्च तदभावात् स्वत्वाभाव एव । सिलोञ्छादिवृत्तयस्तु यायावराणामेव । कृषि-
वाणिज्यकुसीदादीनि त्वधिकृतस्यैवार्जितवतः प्रतिग्रहादीनामन्वाचयत्वे-
नैव व्याख्यातानि । एवं पितृपितामहाद्यार्जितमपि प्राक् समावर्तनात् पि-
त्राद्यभावे राज्ञा पालनीयम् । परतस्तु गुणवतः प्रतिपन्नकर्माधिकारस्यैव
तत् तस्य भवति । यस्य त्वन्यः कश्चिद् गुणवान् दायादोऽस्ति तद्
गुणवद्ब्राह्मणद्रव्यमेव । अत एव च नारदेनापि त्रैविध्यं धनस्योक्तं —

“शुक्लं च शबलं चैव कृष्णं च त्रिविधं धनम् ।

शुक्लं न्यायार्जितं धर्म्यमितरद् व्यावहारिकम् ॥”

इति । मानवेऽपि —

“धनं यद् यागशीलानां देवस्त्वं तद् विदुर्बुधाः ।

अयज्वनां तु यद् वित्तमसुरस्त्वं तदुच्यते ॥”

इति । न तावद् देवानां तत् स्वं, तथा सति याग एव न स्यात् । न हि
देवस्त्वं यजमानः शक्नुयात् त्यक्तुम् । अतो यथाविधं देवानुद्दिश्य त्य-
ज्यते, तथाविधं देवस्वम् । अतो यागशीलानामेव द्रव्ये स्वत्वं मुख्यं,
गौणमितरेषामित्येतदेवानेन दर्शितम् । ततश्चायज्वनां यद् वित्तं परिग्रह-
मात्रेण सांव्यवहारिकं कामभोगमात्रौपायिकं तदसुरस्त्वं, तत्र तेषां स्वत्वं
नास्तीत्यभिप्रायः । तथाच मन्त्रवर्णः “किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावः”
इत्यपरिहरणीयमेवैतदिति ज्ञापयति । अतो निर्गुणब्राह्मणानामौपचारिक-
त्वात् स्वत्वस्य न तदपहरणे महापातकयोगः । प्रायश्चित्तं तु तत्रापि
परिग्रहीतृसंबन्धोपयोगाद्यपेक्षयापहरणप्रयोजनापेक्षयापहर्तृगुणपेक्षया च
कल्पनीयम् । तच्च भूयसोऽपहरणे द्यूतादिप्रयोजने च शङ्कोक्तं “हिरण्य-
स्तेनः पतितसंव्यवहारी मित्रभ्रक् शरणागतघाती प्रतिरूपकवृत्तिरित्येते
जलशयनं पञ्चतापमभ्रावकाशं चालुतिष्ठेयुर्ग्रीष्मवर्षाहेमन्तेष्वि”त्येतदेव ।
तान्यनियतकालत्वात् संवत्सरं द्वौ त्रीन् वा यथाहं कल्पनीयम् । यदि

१. ‘पिता’ ड. च. पाठः. २. ‘ह्यं, गौणमन्येषामि’ च., ‘ह्यम्, अन्येषा
गौणमि’ ड. पाठः.

तु गुणवानपहर्ता अल्पं चापहृतं प्रमादात्तु गुणवतोऽप्यसदुपयोगः, ततः शङ्कोक्तमेव । पूर्वस्यैवानन्तरोपदिष्टं “भासं वा गोमूत्रयावकं पिबेयुरेवं शुध्येयुरिति” । एवंविधान्यन्यान्यपि निर्गुणब्राह्मणसुवर्णविषयतया यथाहं योज्यानि । दण्डस्तु यो राजपुरुषैर्बलादानीयते । यथोक्तं दण्डप्रकरणे—

“राजा स्तेनेन गन्तव्यो मुक्तकेशेन धीमता” ।

आचक्षणेन तत् पापमेवंकर्मास्मि शास्तु माम् ॥

स्कन्धेनादाय मुसलं लङ्कुं^१ वापि खादिरम् ।

शक्तिं वोभयतस्तीक्ष्णामायसं दण्डमेव वा ॥

शासनाद् वा विमोक्षाद् वा स्तेनः स्तेयाद् विमुच्यते ।

अशासित्वा तु तं राजा स्तेनस्याप्नोति किल्बिषम् ॥”

इति । एतच्च राजपुरुषैरेव नीयमानस्य द्रष्टव्यं न तु स्वयं प्रायश्चित्तार्थ-
मागतस्य, तत्र हि ततो मुसलमादायेति वधस्यैव नियतत्वात् । इह त्वप-
राधापेक्षया शासनं वा विविधैर्वाग्दण्डादिभिर्वधपर्यन्तैर्मोचनं वा कथ-
ञ्चिन्निरपराधस्यैवाविमृश्यानीतस्य । अतएव “शासनाद् वा विमोक्षाद्दे-
त्युक्तम् । प्रायश्चित्तार्थं तु परिषदा विमृश्यानुमतस्य कुतो विमोच-
नाशङ्का । अतश्च याज्ञवल्क्येऽपि “हतो मुक्तोऽपि वा शुचिः” इत्येत-
त्संवर्तकवाक्यतया राज्ञा हतो यदि जीवति, ततो दण्डमगृहीत्वैव राज्ञा
मुक्तो विशुध्यतीत्येवं व्याख्येयम् । तथाच मानवे राज्ञो दण्डप्रकरणे-
ऽपि दोष उक्तः — “शासनाद् वा विमोक्षाद् वा” इति । एतदुक्तं
भवति — विमोक्षादपि स्तेनो दोषान्मुच्यते । किन्त्वशासित्वा यदि रा-
जोत्सृजेत्, ततस्तस्य यत् किल्बिषं, तदाप्नोतीत्यर्थः । केन । शासनार्हः
शास्यः । तत्र च ब्राह्मणस्य न शरीरदण्डः । किन्तु प्रायश्चित्तार्थं चैत-
देव । नात्र वधदण्डोऽपि

“न जातु ब्राह्मणं हन्यात् सर्वपापेष्ववस्थितम्”

इति प्रतिषेधात् । पाप एव योऽवस्थितः प्रायश्चित्तार्थं राजाभिगमनं ने-
च्छति, न बलादानीय तं हन्यादित्यर्थः । न शरीरो ब्राह्मणदण्ड इति
दण्डस्यैव प्रतिषेधो न तु प्रायश्चित्तार्थतयागतस्येत्येषा दिक् ॥ २५२ ॥

१. ‘नीत’ श. च. पाठः.

* भावता इति तु युक्तः पाठः. † ‘लङ्कुं’ इत्येव मूलकोशपाठः.

इदानीं गुरुतल्पप्रायश्चित्तान्याह —

तप्तेऽयःशयने सार्धमायस्या योषिता स्वपेत् ।

गृहीत्वोत्कृत्य वृषणौ नैर्ऋत्यां चोत्सृजेत् तनुम् ॥ २५३ ॥

प्राजापत्यं चरेत्कृच्छ्रं समां वा गुरुतल्पगः ।

चान्द्रायणं वा त्रीन् मासानभ्यसन् वेदसंहिताम् ॥ २५४ ॥

अत्र पूर्वश्लोके गुरुतल्पग्रहणं न कृतं, महापातकोद्देशाधिकार एवोक्तत्वात्, “पितृष्वसां मातुलानी”मित्युपक्रम्य

“छित्त्वा लिङ्गं वधस्तस्य सकामायाश्च योषितः”

इति । न च राज्ञस्तदुपदिश्यते, प्रकरणविरोधात् । अतः छित्त्वा लिङ्गं सवृषणं वध एवात्मनस्तस्य प्रायश्चित्तं नान्यदिति तस्यार्थः । अतश्च यदि सकाम एताः स्त्रियोऽभ्यासेन वा गच्छेत्, तत एतत् प्रायश्चित्तं, सकामायाश्च योषितोऽप्यनिच्छन्तमेवंविधं गच्छन्त्या अभ्यासेन वा निष्कामाया अपि । चशब्दसामर्थ्यादेतदेव प्रायश्चित्तम् । तेनात्र प्रायश्चित्तान्तरोपदेशार्थमुत्तरश्लोक एव गुरुतल्पग्रहणं कृतम् । पूर्वश्लोके पूर्वोक्तलिङ्गच्छेदनसंबन्धादेव ज्ञायत एवेति पुनर्नोक्तम् । अतश्च पूर्वोपदिष्टस्यैव लिङ्गोत्कर्तनस्य वधस्य च प्रकारनिर्देश इह कृतः । एवञ्च सति यद्यकामां पितृष्वस्रादीनां कांचिद् बलात् प्रमथ्य प्रतारयित्वा वाभ्यासेन गच्छेत्, ततः पूर्वं तप्तेऽयःशयने सार्धमायस्या योषिता स्वपेद् इत्येतद् द्रष्टव्यम् । द्वयोस्तुल्यायां प्रवृत्तावुत्तरं सकामायाश्च योषित इति स्मरणात् । अविशेषेण बोध्यमस्तु । सर्वथा कामकृतेऽभ्यासे चैतत् प्रायश्चित्तद्वयं वेदितव्यम् । तप्तेऽग्निवर्णे लोहफलके तन्मध्ये वा अग्निवर्णयाभिगम्यमानया योषित्रातिरूपया सैवेयमिति स्नेहेनानुरक्त इवालिङ्ग्य स्वपेदित्यर्थः । योषिद्ग्रहणं च प्रदर्शनार्थम् । अतश्च योषितापि पुमानेवंविध एवालिङ्गनीयः । यद्वा गृहीतोत्कृतवृषणः सन् नैर्ऋत्यां दिशि तनुं शरीरमुत्सृजेद्, मरणाच्छुध्यतीत्यर्थः । स्वयमुत्कृत्य क्षुरादिना शस्त्रेण हस्ताभ्यां वृषणौ गृहीत्वा प्रत्यग्दक्षिणां दिशं गच्छेद् अकुटिलेन च मार्गेण । यद्यन्तरे कूपादि भवति ततो

न परिहृत्य गन्तव्यम् । यदि तु केनचिद् वृक्षादिनान्तरे प्रतिहन्येत, ततस्तत्रैवा मरणादासीत् । वृषणग्रहणं चोपलक्षणमत्र । अतश्च सवृषणस्यैव लिङ्गस्योद्धारः । तथाच वसिष्ठः — “गुरुतल्पगः सवृषणं शिशुमुत्कृत्या-
ञ्जलावाधाय दक्षिणामुखो गच्छेत् । यत्रैव प्रतिहन्यात् तत्रैव तिष्ठेदा प्रल-
यादि”ति । तथा “निष्कालको वा घृताक्तस्तप्तां सूर्मिं परिष्वजेद् मरणात्
पूतो भवतीति विज्ञायत” इति । निष्कालकः कालानपेक्षः, सद्यो मरण-
मिच्छन्निति यावत् । शरीरगतं वा कालं केशलोमाद्यपनीतं यस्मात् स
निष्कालकः, कालशब्दस्य कृष्णपर्यायत्वात् । पूर्वं तु युक्ततरम् । सूर्मिं
चात्र प्रतिकृतिरायसी, परिष्वजेदिति लिङ्गात् । ऋज्वन्यत् । दक्षिणादि-
ग्वचनं चोपलक्षणार्थं विकल्पार्थं वा । स्पष्टमन्यत् । शङ्खेऽप्येवमेव ।
क्षुरेण तु शिशोर्त्कर्तनमिति विशेषः । यथाह — “गुरुतल्पगस्तप्तमायसं
शयनमुपसंविशेत्, क्षुरेण वा शिशं सवृषणमुत्कृत्याञ्जलावाधाय नैऋतीं
दिशमनवेक्षमाणो ब्रजेदा शरीरपातात् पूतो भवती”ति । एवं “मातुलानी-
पितृष्वसास्तुषाभगिनीदुहितृगमनेष्वाचार्यदुहितरि चै”ति । अत्र चशब्दा-
दाचार्यभार्यायां चेति गम्यते । गमनेष्विति बहुवचनादभ्यासे कामत-
श्चेत्येतल्लभ्यते । भेदेन च मातुलानीदुहित्राद्यभिधानाद् मुख्यगुरुतल्पतोऽन्यत्र
जनन्याः कामकृते सकृद्गमने जनन्यां त्वकामत एवैतदिति ज्ञायते । सु-
ख्यत्वं च पितृसवर्णास्वेव पितृभार्यासु, पितुरेवानौपचारिकं गुरुत्वं यतः ।
तथाचाचार्यभार्यायामातिदेशिकं दर्शितम् । वासिष्ठे च “आचार्यपुत्रशिष्य-
भार्यासु चैवमि”ति स्पष्ट एवातिदेशः । अतश्च सूक्तां विषयकल्पना ।
जनन्यां पुनरज्ञानादपि सकृद्गमन एवैतत् स्यात् । यथाह संवर्तः—

“मातरं योऽभिगच्छेत् तु सुतां वा पुरुषाधमः ।

भगिनीं वा निजां मूढो निष्कृतिर्नास्य विद्यते ॥”

इति । जीविप्रायश्चित्ताभिप्रायेण चोक्तं, गुरुतल्पप्रायश्चित्तस्यान्यथा निर्वि-
षयत्वप्रसङ्गात् । यथा तेनैवोक्तं —

“गुरुतल्पगस्तु शयने तप्ते स्वप्यादयोमये ।

अन्वगूहेत वा दीप्तां स्त्रियं कृष्णायसीकृताम् ॥”

इति । तथाच हारीतः—

“पितृभार्या तु विज्ञाय योऽभिगच्छति मानवः ।

जननीं वाप्यभिज्ञाय नामृतः शुद्धिमाप्नुयात् ॥”

इति । एवं स्मृत्यन्तराण्यपि व्याख्येयानि । समानार्थत्वात् तु नोदाह्रियन्ते । यदि त्वज्ञानतो जननीव्यतिरेकेण सवर्णासु पितृभार्यासु सकृद्गमनं स्यात्, तदा

“प्राजापत्यं चरेत् कृच्छ्रं समां वा गुरुतल्पगः”

इत्येतत् । समां संवत्सरमित्यर्थः । चरेदिति खट्वाङ्गादिप्राप्त्यर्थम् । यथाह मनुः—

“खट्वाङ्गी चीरवासा वा श्मश्रुलो निर्जने वने ।

प्राजापत्यं चरेत् कृच्छ्रमब्दमेकं समाहितः ॥”

इति । असवर्णासु तु सकृद्विज्ञातगमने

“चान्द्रायणं वा त्रीन् मासानभ्यसेद् वेदसंहिताम् ।”

इति । एतच्च वेदाध्ययन एव स्यात्, सामर्थ्यात् । यस्तु वेदाभ्यासासमर्थः, स चत्वारि चान्द्रायणानि कुर्यात् “त्रीणि चत्वारि वा पुनरिति” । पुनःशब्दाच्चातिपूर्वे पुनर्गमने सत्येतदेव पुनः पुनः कुर्यादित्यभिप्रायः । तैत्तिरीयकामैत उपगमनसंख्ययास्यैव व्रतस्याभ्यासः । कामतर्ध्वं सकृद्गमने सांवत्सरिकम् । अभ्यासे च मरणान्तिकमेव ।

“यथाकथञ्चित् पिण्डानां चत्वारिंशच्छतद्वयम्”

इत्येतच्चान्द्रायणं, न यवमध्यादि, मासानिति मासग्रहणसामर्थ्याद्, वाशब्दद्वयाच्च । स्मृत्यन्तरोपसंहारादियं विषयकल्पना । यावच्च गुरोः परिग्रहार्हः, तावत् गुरुतल्पप्रायश्चित्तानामवसरः । यदा तु व्यभिचारिण्यः, तदा पारदार्यप्रायश्चित्तमेव स्यात् । तच्च चान्द्रायणं गोघ्नप्रायश्चित्तं वेत्सुत्तरत्र वक्ष्यत्येव । व्यभिचारित्वेऽपि यदि गुरुणा न परित्यक्ता, तर्थाप्यस्त्येव गुरुतल्पेति केचित् । तत्पुनर्यदि गुरुणा वा व्यभिचारित्वं न

१. ‘वि’, २. ‘वि’, ३. ‘स विष्णुयति ॥’ ग. च. पाठः. ४. ‘ति च ख’, ५. ‘दज्ञा’ च. पाठः. ६. ‘स तु च’ ग. च. पाठः. ७. ‘नः कु’, ८. ‘अ’ ग. पाठः. ९. ‘श्चायं का’ ड. पाठः. १०. ‘मकृत’ ग. ड. पाठः. ११. ‘स्तु’ ग. च. पाठः. १२. ‘प्रतिग्र’ ड. पाठः. १३. ‘थास्त्ये’, १४. ‘ल्पप्रायश्चित्तमिति’, १५. ‘तु पुन’ ग. पाठः.

ज्ञातं, तन्निमित्तं वा प्रायश्चित्तं कारयितुमारब्धं, तदैतदेवं स्यात् । यदा तु गुरुरप्यनर्हमेवाङ्गीकुर्यात्, तदान्यदेव सामान्यविहितं गुरोरपरित्याग-कारणानुरूप्येण कल्प्यम् । केचित्तु परित्यक्तासु पारदार्यप्रायश्चित्तं नैवेच्छन्ति, संबन्धिनिमित्तत्वाद् दारशब्दस्य । तथाच सति विधवास्वपि पारदार्यं न स्यात् । न च व्यभिचारादिभिस्तस्यापगमो युक्तः, संस्कार-निमित्तत्वाद् दारशब्दस्य, तस्य च पतनेऽप्यनपगमात् । अत एव पतिता योषितः कृतप्रायश्चित्ताः पुनर्न संस्क्रियन्ते । अन्यथा तु पतनेन संस्कार-स्यापगमात् कृतप्रायश्चित्ता अप्यदाराः स्युः । अतो व्यभिचारिणीष्वप्य-स्त्येव पारदार्यम् । प्रायश्चित्तान्तरं तु स्वैरिणीत्वनिमित्तं विशेषविहितत्वात् तासु भवत्येव । यथाह शङ्खः — “स्वैरिण्यां वृषल्यामवकीर्णः सचेलः स्नात्वोदकुम्भं दद्याद् ब्राह्मणाय । वैश्यायां चतुर्थकालाहारो ब्राह्मणान् भोजयेत् । क्षत्रियायां त्रिरात्रोपोषितो यवाढकं दद्यात् । ब्राह्मण्यां षडह-मुपोष्य घृतपात्रं दद्यात् । प्रकीर्णास्वेवम् । अस्वतन्त्रास्वन्यथे”ति । एतच्चायोनि-संबन्धाचार्यादिसमस्तगुर्वसंबन्धासु गुर्वीसख्यादिव्यतिरिक्तास्व-वर्णोत्तमासु चाकामतो गमने वेदितव्यम् । कामतस्तूपपातकप्रायश्चित्तमेव । तच्च गौतमीयं “द्वे परदारौ त्रीणि श्रोत्रियस्ये”त्येतत् प्रत्येतव्यम् । अपरि-त्यक्तासु तु व्यभिचारिणीष्वकामतो वासिष्ठं “ब्राह्मणश्चेदप्रेक्षापूर्वकं ब्राह्म-णदारानभिगच्छेद्, निवृत्तधर्मकर्मणः कृच्छ्रोऽनिवृत्तधर्मकर्मणोऽतिकृच्छ्रः” इत्येतत् स्यात् । कामतस्तु चान्द्रायणं गोघ्नप्रायश्चित्तं वा । तत्र यदि व्य-भिचारित्वमपरिज्ञायापरित्यागः, तदा चान्द्रायणम् । यदि तु प्रायश्चित्तं कारयितुमारब्धा तदा गोघ्नप्रायश्चित्तं, “एनसि गुरुणि गुरूणि लघुनि लघू-नी”ति वचनात् । अव्यभिचारिणीषु त्वकामतोऽतिशयेन गुणवतां ब्राह्मणा-दीनां सवर्णासु गुणवतीषु च गमने शङ्खोक्तम् “अप्रकीर्णासु त्वन्यथावैश्या-यामवकीर्णः संवत्सरं त्रिषवणमनुतिष्ठेत् । क्षत्रियायां द्वे ब्राह्मण्यां त्रीणि त्रीणि वैश्यावच्च शूद्रायामि”ति । शूद्रायां च ब्राह्मणजातायाम् उत्कृष्ट-भार्यायां चैतत् स्यात् । कामतस्त्वभ्यासेन च गमने गुरुतल्पप्रायश्चित्तम् ।

१. ‘न्ध’ च. पाठः. २. ‘द’, ३. ‘मकृते’ ड. पाठः. ४. ‘धु च गु’,

५. ‘नेन गु’ ग. पाठः.

यथा नारदेन दण्डप्रकरणेऽभिहितं —

“माता मातृष्वसा श्वभ्रूर्मातुलानी पितृष्वसा ।
पितृव्यसखिशिष्यस्त्री भगिनी तत्सखी स्तुषा ॥
दुहिताचार्यभार्या च सगोत्रा शरणागता ।
राज्ञी प्रव्रजिता धात्री साध्वी वर्णोत्तमा च या ।
आसामन्यतमां गत्वा गुरुतल्पग उच्यते ॥”

इति । तेन साध्व्यां गुरुतल्पगवचनान् तदीयप्रायश्चित्तप्रसङ्गः । मातृपितृ-
संबन्धायां यथासंनिकर्षं प्रायश्चित्तगुरुत्वम् । तच्च पितृसंबन्धि गुरुत्वमष्ट-
मात् पुरुषादारभ्य मातृसंबन्धि च षष्ठाद् विवाहवशात्तैश्चकल्पवच्च वि-
वेक्तव्यम् । तथा तत्सखीष्वपि सन्निकृष्टविप्रकृष्टत्वेन प्रायश्चित्तविशेषक-
ल्पना । जननीव्यतिरिक्तपितृभार्याणां तु भ्रातरो मातुलाः तद्भगिन्यश्च
मातृष्वसारः । तथा भगिनीसपत्न्यैश्च भगिन्यः, तदपत्यं च भागिनेयः ।
अतश्च तत्रापि निजमातुलान्याद्यपेक्षया किञ्चिन्न्यूनं प्रापञ्चितं स्यात् ।
तथाच सुमन्तुः “पितृपत्न्यः सर्वा मातरस्तद्भ्रातरो मातुलास्तद्भगिन्यश्च
मातृष्वसारः, तथा भगिनीसपत्न्यश्च भगिन्यस्तदपत्यं च भागिनेयः । अतो-
ऽन्यथा संकरकारकाणि कृत्वा याप्याः पतिताश्च भवन्ती” न्यातिदेशिकमेव
व्यपदेशं दर्शयति । अतश्च प्रायश्चित्तालपत्वसिद्धिः । एवमन्येषामप्येत-
द्विषयाणां प्रायश्चित्तानां विवेकः कार्यः । विशेषविहितानां तु कामकारा-
दिव्यवस्थयैव विषयकल्पना । यथा तावन्मानध —

“पैतृष्वसेर्यी भगिनीं स्वस्त्रीयां मातुरेव च ।
मातुश्च भ्रातुराप्तस्य गत्वा चान्द्रायणं चोत् ॥”

इति । तथौ संवर्ते —

“गुरोर्दुहितरं गत्वा स्वंसारं मातुरेव च ।
तस्या दुहितरं चैव चरेच्चान्द्रायणं व्रतम् ॥
मातुलानीं तथा श्वश्रू सुतां वै मातुलस्य च ।

१. ‘न्धित्वं च’ ग. पाठः. २. ‘लाः, भगि’, ३. ‘तन्यो म’ ख. पाठः.
४. ‘स्यं भा’ ग. च. पाठः. ५. ‘याश्च सं’ ड. पाठः.

एता गत्वा स्त्रियो मोहात् पराकेण विशुध्यति ॥

पितृव्यदारगमने भ्रातृभार्यागमे तथा ।

गुरुतल्पव्रतं कुर्यान्निकृतिर्नान्यथा भवेत् ॥

कुमारीगमने चैव व्रतमेतद् विनिर्दिशेत् ।

सखिभार्या समारुह्य स्नुषां मातृष्वसुः सुताम् ॥

अद्वोरात्रोषितो भूत्वा तप्तकृच्छ्रद्वयं चरेत् ॥”

इति । तथा सुमन्तुना सामान्येनैवोक्तं — “अगम्यागमनस्त्रीवधचण्डाल-
संपर्केषु कृच्छ्रत्रयं चरेद्” इति । विशेषेण चोक्तं — “मातृपितृष्वसु-
षाभगिनीभागिनेयीगोचण्डालीगमनेषु तप्तकृच्छ्रं यं सान्तपनं च तिर्यग्यो-
निगमने प्राणायामः” इति । तथा गौतमे “सखिसयोनिसगोत्राशिष्य-
भार्यासु स्नुषायां गवि च तल्पसमोऽवकर इत्येक” इत्युक्तम् । अवकरो-
ऽवकीर्णप्रायश्चित्तम् । एवं स्मृत्यन्तरेष्वपि प्रायश्चित्तानि विशेषतः सामा-
न्यतश्चैवंप्रकाराण्येव पठ्यन्ते, समानार्थत्वात् तु न विद्यन्ते । तदेतत्
सर्वं कामकृतादिव्यवस्थायां यथायथं योज्यम् । सर्वत्र चानाम्नातप्राय-
श्चित्ते गौतमीयं “कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ चान्द्रायणमिति सर्वप्रायश्चित्तमि”त्येतद्
व्यस्तसमस्ततया योज्यं, सर्वप्रायश्चित्तवचनात् । इतिशब्दस्य च प्रकारा-
र्थत्वात् पापविशेषापेक्षया तस्यैवावृत्तिः कल्पनीया इत्येषा दिक् । स्त्रीणा-
मप्येवमेव प्रायश्चित्तकल्पना । यच्छूद्रस्य ब्राह्मणीनां गमने, तदेव ब्रा-
ह्मण्याः शूद्रगमने स्यात् । एवं क्षत्रियादिष्वपि । योनिसंबन्धगमनेऽप्ये-
वमेव । तथाचाह मनुः —

“विप्रदुष्टां स्त्रियं भर्ता निरुन्ध्यैदेकवेश्मनि ।

यत् पुंसः परदारेषु तच्चैनां चारयेद् व्रतम् ॥”

इति । कृतप्रायश्चित्ता यदि भूयः प्रवर्तेत, ततो यत् पुरुषस्य पारदार्य-
प्रायश्चित्तं, तत् कारयित्वा पुनरनुबन्धाद्यपेक्षया कृच्छ्रं, तच्च केवलं चा-
न्द्रायणोत्तरं वा । यथाह मनुः—

“सा चेत् पुनः प्रदुष्येत सदृशेनोपमन्त्रिता ।

कृच्छ्रं चान्द्रायणं चैव तदस्याः पावनं स्मृतम् ॥”

१. ‘र्ण’ च. पाठः. २. ‘च म’ इ. पाठः. ३. ‘ध्या’ ग. च. पाठः.

४. ‘का’, ५. ‘न्या’ ग. पाठः.

इति । एतच्च यस्यासौ रक्षणीया स यदि सङ्गहीनुमिच्छति ततः प्रायश्चित्तमेकगृह एव निरुद्धां कारयेत्, यदि तु न सगृहीयात् ततो विप्रदुष्टां परित्यजतो न दोषः इत्येतद् भर्तृग्रहणाल्लभ्यते । अन्यथा तु “निरुद्धादेकवेश्मनि” इत्येतावतैव सिद्धत्वाद् भर्तृग्रहणमनर्थकमेव स्याद्, अन्यस्यैवंविधप्रयत्नासंभवात् । न चायं राज्ञ उपदेशः, अन्यत्र दण्डप्रकरणेऽभिहितत्वात् । ततो भर्तृग्रहणाद् यदि भर्तुनेच्छति, तत एतत् कारयेदिति गम्यते । वासिष्ठानि तु प्रायश्चित्ताधिकारोक्तान्यपि सामर्थ्याद् राज्ञ एवोपदिश्यन्ते — “शूद्रश्चेद् ब्राह्मणीमभिगच्छेद्, वीरणैर्घेष्टयित्वा शूद्रमग्नौ प्रास्येद्, ब्राह्मण्याः शिरसि वपनं कारयित्वा” इत्यादीनि । यदि तु स्वयमेव स्त्रियः प्रायश्चित्तं कुर्युः, ततो मनसौ भर्तुरतिचारे त्रिरात्रं यावत् क्षीरौदनं वा भुञ्जानाथः शयीत । “ऊर्ध्वं त्रिरात्रादप्सु निमग्नायाः सावित्र्याष्टशतेन शिरोभिर्जुहुयात् पूता भवतीति विज्ञायते । वाक्संबन्ध एतदेव मासं चरित्वोर्ध्वं मासादप्सु निमग्नार्याश्चतुर्भिः सावित्र्याष्टशतैः शिरोभिर्जुहुयात् पूता भवतीति विज्ञायते । व्यव्राये तु संवत्सरं घृतपटं धारयेत् गोमयगर्ते कुशप्रस्तरे वा भुञ्जानाथः शयीत । ऊर्ध्वं संवत्सरादप्सु निमग्नायाः सावित्र्याष्टसहस्रेण शिरोभिर्जुहुयात् पूता भवतीति विज्ञायते” इति । एतच्च त्रैवर्णिकयोषितां त्रैवर्णिकविषयं सर्वत्राविशेषेणैव स्याद्, विशेषानुपदेशादेव, शूद्रगमने चोत्तरत्र प्रायश्चित्तवचनात् ।

“ब्राह्मणक्षत्रियविशां स्त्रियः शूद्रेण सङ्गताः ।

अप्रजाता विशुध्यन्ति प्रायश्चित्तेन नेतराः ॥”

इत्युक्त्वा प्रायश्चित्तं यदप्रजातानां शूद्रगमने, तद् दर्शितं —

“प्रतिलोमं चरेयुस्ताः कृच्छ्रं चान्द्रायणोत्तरम्”

इति । अत्र च त्रैवर्णिकस्त्रीणामविशेषोपदेशात् पूर्वत्राप्यविशेष एवेति ज्ञायते । कतञ्चनानिश्चये चान्येनाप्रतारितायाः स्वयमेव दृढे मनस्यवस्थिते

१. ‘ष्टा स्त्रियं प’, २ ‘प्रायश्चित्तासं’ ग. पाठः. ३. ‘स्त्रियमादी’ च पाठः.
४. ‘नि स्व’, ५. ‘सि’, ६. ‘भि’, ७. ‘रोदकं वा’, ८ ‘याः सावित्र्याश्चतुर्भिः
शि’ ग. पाठः. ९. ‘रात् सा’ ग. च. पाठः. १०. ‘ता त’ ग. पाठः. ११. ‘एतच्च
त्रै’ ग. च. पाठः.

मानसं, वाचिकमप्येते, व्यवस्ये चैवंविध एवैतत् स्यात् । शूद्रप्रसङ्गे च “एतत् कृत्वा प्रतिलोप चरंशुरि”त्येतत् स्यात्, अभिगमनसंख्यया च प्राग् गर्भोत्पत्तेः । गर्भे तु गुरुतल्पप्रायश्चित्तमेवेत्येषा दिक् । अकाम-
तस्तु प्रतारिताया हृदयेन संव्यलीकेन यदि कथञ्चिद् व्यभिचारः स्यात्,
ततः संवर्तोक्तानि प्रायश्चित्तानि प्रत्येतव्यानि । यथाह —

“ब्राह्मणी ब्राह्मणं गत्वा कृच्छ्रमेव समाचरेत् ।

एव शुद्धिः समाख्याता संवर्तवचनं यथा ॥

यदि तु ब्राह्मणी गच्छेत् क्षत्रियं वैश्यमेव वा ।

गोमूत्रयावकाहारा दशरात्रेण शुध्यति ॥

ब्राह्मण्याः शूद्रसंपर्के कथञ्चित् समुपागते ।

चान्द्रायणेन शुद्धिः स्यात् तदस्याः पावनं परम् ॥”

इति । अत्र परं कृच्छ्रात् चान्द्रायणं पावनमित्येवं व्याख्येयम् । स्पष्ट-
मन्यत् ॥ २५४ ॥

रजकव्याधिशैलूषवेषुचर्मोपजीविनः ।

ब्राह्मण्येतान् यदा गच्छेत् कृच्छ्रं चान्द्रायणं चरेत् ॥

व्याधो लुब्धकः । शैलूषो नटः । अत्रापि कृच्छ्रं चान्द्रायणं,
कृच्छ्रं चान्द्रायणे, कृच्छ्रं चान्द्रायणानि । स्पष्टमन्यत् ॥ २५५ ॥

श्वपाकं पुल्कसं म्लेच्छं चण्डालं पतितं तथा ।

एतांस्तु ब्राह्मणी गत्वा चरेच्चान्द्रायणत्रयम् ॥ २५६ ॥

श्वपाको मरुकुन्तिकः । पुल्कसो मेयः । म्लेच्छाः पुलिन्दाः तार्जि-
कादयः । अत्रापि तथाशब्दः पूर्वश्लोकोक्तप्रकारप्राप्त्यर्थः । ततश्च कृच्छ्र-
पूर्वाण्येतानि प्रत्येतव्यानि, एकैकगमने च सर्वत्र बहुवचनस्याविवक्षित-
त्वात् । यदि तु कथञ्चिद् बलात् प्रमथ्यातिशयदुःखार्ता भुज्यते, ततो
हारीतोक्तं द्रष्टव्यं—

“बलात् प्रमथ्य भुक्ता या गृहभाणेन चेतसा ।

प्राजापत्येन शुध्येत चण्डालपतिरेवपि ॥”

यदि-तु भर्तायं मदीय एवेत्येवं मन्यमाना सकामैरोपभुक्ता स्यात्, ततो यदा विज्ञानं, तदा —

“स्त्रियः पवित्रमतुलं नैना दुप्यन्ति कर्हिचित् ।

मासि मासि रजो ह्यासां दुःकृतान्यपकर्षति ॥”

इत्येवमादीनामर्थवत्ता । यदि तु पश्चात् कथञ्चित् सामान्यतः परपुरुषे-
णाहं भुक्तेत्येतावदेवावगच्छेत्, ततो वासिष्ठं —

“बलात्कारोपभुक्ता वा चोरहस्तगतापे वा ।

स्वयं विप्रतिपन्ना वा यदि वा विप्रवादिता ॥

न त्याज्यादूषितानारी नास्यास्त्यागो विधीयते ॥”

इत्युक्तवोक्तं —

“पुष्पकालमुपासीत ऋतुकालेन शुध्यति”

इति । अयमस्यार्थः—यदि तु स्वयमेव नायं मम भर्ता, भ्रान्त्यैवायं मया तद्बुद्ध्या गृहीत इत्येवं पूर्वस्मात् तथात्वावगमाद् विप्रतिपन्ना, अथवा-
न्येन केनचिन्नायं त्वदीयो भर्तेत्येवं तद्बुद्धेर्विप्रवादिता, बलात्कारेण वा केनचित् सवर्णेनोपभुक्ता, परराष्ट्रोपप्लवादौ वा कथञ्चिच्चोरहस्तगता ही-
नवर्णोपभुक्ताप्यत्याज्या स्यात् । कस्माद्, यतस्तेन प्रकारेण सादूषि-
तैव । नारीत्वं हि या प्रतिपद्यो, सा दूष्यते । या त्वनारीत्वेन तिर्यग्विधिना
भुज्यते, न तस्यास्त्यागोऽभ्यासेन वाप्युपभुक्तायाः विधीयते, संग्राह्यै-
वासावित्यभिप्रायः । विधीयत इति वचनादर्थलक्षणस्त्यागो भतुरिच्छया
न प्रतिषिध्यते, स्वेच्छया परिग्रहोऽप्यदुष्टः इत्यभिप्रायः । इदं तु तस्याः
प्रायश्चित्तं—“पुष्पकालमुपासीत” इत्यादि । पुष्पशब्देन ऋतुकाल उच्यते ।
पूर्वोक्तेन यावकक्षीरौदनादि गोमयगर्ते भुञ्जाना अधःशायिनी घृतपटं धा-
रयन्त्यासीत यावत् पुष्पकालम् । ततस्तदुक्तयैव व्रतचर्चया त्रिरात्रान्ते
स्नाताप्यासीत यावत् षोडश रात्रयः । एवमनुकालेन शुध्यतीति । एतदेव
च पुरस्तात् प्रदर्शितम् । “तस्या उक्तं प्रायश्चित्तं रहस्येष्वि”ति हारी-
तोक्तेन कृच्छ्रेण सहास्य-विकल्पः । प्रतिलोमव्यभिचारैऽप्येवविधस्यैव-

भ्यासकल्पना इत्यलं प्रसङ्गेन । पुरुषस्यापि स्वभार्याबुद्धयैवाभिगमने
एषैव प्रक्रिया योज्या । अत एव च गौतमेनोक्तं — “न स्त्रीष्वगुरुतल्पं
पततीत्येके” इति । गुरुतल्पे तु स्वभार्याबुद्ध्यापि पतनमेवेत्यभिप्रायः ।
यच्च मनुनोक्तं —

“यत् पुंसः परदारेषु तच्चैनां चारयेद् व्रतम्”

इति, तत्र चशब्दाद् यच्च स्त्रीणां परपुरुषेऽभिहितं तत्पुंस इत्येवं व्या-
ख्येयम् । ततश्च हारीतोक्तं कृच्छ्रं तेनैव प्रकारेण पुंसोऽपि भवत्येवेत्येषा
दिक् ॥ २५६ ॥

एवं तावच्चतुर्णां गुरुतल्पपर्यन्तानां महापातकानां प्रायश्चित्तान्यभिधायेदानीं तत्सं-
र्गिणः प्रायश्चित्तावसरेऽर्थन्तरोपदेशद्वारेण प्रायश्चित्तमाह—

एभिस्तु संपिबेद् यो वै वत्सरात् सोऽपि तत्समः ।

कन्यां समुद्रहेदेषां सोपवासामकिञ्चनाम् ॥ २५७ ॥

महापातकोद्देशे “यश्चैतैः संपिबेत् समामि”ति महापातकित्व-
मुक्तम् । इदं तु प्रायश्चित्तोक्तं तत्समत्ववचनम् । य एते ब्रह्महृत्प्रभृतय
उक्ताः पातकिनः एभिः संवत्सरं संपिबेत् सहभोजनाद्यः परितः, सोऽपि
संवत्सरात् तत्समः, तद्विशिष्टप्रायश्चित्ताहं इत्यभिप्रायः । समशब्दश्चात्र
तदेवास्य प्रायश्चित्तं सममन्यूनानरिक्तं पूर्वोक्तयैव विषयव्यवस्थया यथा
स्यादित्येवमर्थः । अतश्च समशब्दादीष्वन्यूनत्वं नाशङ्कनीयम् । तथाच
मानवे —

“यो येन पतितेनैषां संसर्गं याति मानवः ।

स तस्यैव व्रतं कुर्यात् तत्संसर्गविशुद्धये ॥”

इति प्रायश्चित्तसाम्यमेवोक्तम् । वत्सरादिति पञ्चम्यन्तं परत इत्यध्या-
हृत्य योज्यं, संवत्सरात् परतस्तदीयप्रायश्चित्ताहं इत्यर्थः । प्राक् त्वन्यदेव
प्रायश्चित्तं दर्शयिष्यामः । अस्यापवादः — “कन्यामक्षनयोनिकां सम्पद्
निर्विचिकित्समुद्रहेत्” । अयं तु विशेषः — “सोपवासामकिञ्चनाम्” ।
उपवासशब्दोऽत्र प्रायश्चित्तोपलक्षणार्थ इति केचित् । उपवासमात्रमेव

१. ‘त्येषा दिक्’ पु’ ग. पाठः. २. ‘हृत्प्रभृति’, ३. ‘व गौ’ ग. च. पाठः.
४. ‘साम्यमुक्तं च’, ५. ‘त्वमत्र ना’ च. पाठः.

प्रायश्चित्तमिति युक्ततरम्, उपलक्षणत्वे हेत्वभावात् । अकिञ्चनत्वं च पुष्पमालामात्रमपि तर्तीयं न ग्राह्यमित्यभिप्रायम् । तथाच हारीतः — “पतितस्य तु कुमारीं विवस्त्रामाग्राह्याहोरात्रोपोषितां प्रातः शुक्लेनाहतेन वाससाच्छाद्य ‘नाहमेतेषां न समैत’ इति त्रिरुच्चैराभिधाय तीर्थे स्वगृहे वोढु-हेद्” इति । यत्तु मनुनोक्तं —

“संवत्सरेण पतति पतितेन समाचरन् ।

याजनाध्यापनाद् यौनान्नतु यानाशनासनात् ॥”

इति । याजनाध्यापनादिना निमित्तेन यानि यानाशनासनादीनि, न तैः संवत्सरेण पतति । किन्तुर्हि, अर्वागैव संवत्सरात् । यानि तु लोकसंव्यवहारेण यानादीनि, तैः संवत्सरेणेत्यभिप्रायः । याजनाध्यापनयोश्चैकवद्भावो यौनोपेक्षया न्यूनत्वार्थः । याजनाध्यापनाद्धेतोः पतितेन समाचरन्नित्येवं पदानां योजना । ततश्च याजनाध्यापनयोरपि पतनमेवेति गम्यते । यत्र च याजनादि कारयिष्यामीत्येवं तन्निमित्ते यानासनादावपि प्रागेव संवत्सरात् पतनम्, तत्र तदाचरणे सद्य एवेत्येतत् सामर्थ्यसिद्धमेवेत्यभिप्रायः । ततश्च यदि प्रकारान्तरेण यानिसंबन्धो भवति, ततः पतनम् । यथोक्तेन तु प्रकारेण सोपवासामकिञ्चनां चोद्धृतो निर्दोषत्वमित्यनवद्यम् । यदपि गौतमेन पतितात्यागिनः पतितत्वमुक्तं, तदपि यौनादिद्वारैकमेव, अन्यत्र “तैश्चाब्दं समाचरन्नि”त्यारम्भात् । अतो याजनादिना ये पतितेन सह व्यवहरन्ति, ते पतितात्यागिनः । ये त्वौचित्यात् प्रसक्तमपि याजनाद्यपतितस्यैव पतितोऽयमिति कृत्वा न कुर्वन्ति, ते त्वपतितत्यागिनः । ये तु ग्राह्यवचनत्वेन संभाविताः क्रोधादिना सन्देहमात्रेऽपि परिषदि नियुक्ताः सन्तो निम्सन्दिग्धं पतितत्वं समर्थवादि-तया समर्थयन्ति, ते पातकसंयोजकाः । तैश्च मुख्यपतितैरिव संवत्सरं य आचरेत्, सोऽपि संसर्गपतितः, “तैश्चाब्दं समाचरन्नि”ति वचनात् । ये तु संवत्सरं व्यवहरन्तः पतिता भवन्ति, तत्संपर्केऽन्येषां पतनं नास्ति । तदुक्तं — “पञ्चमश्चाचरंस्तैरि”ति, पञ्चमग्रहणभ्याधिकनिवृत्त्यर्थत्वादित्येषा द्विक । अत्र च वसिष्ठेनोक्तं — “पतितसंप्रयोगे तु ब्राह्मेण यौने वा यास्तेभ्यः सकाशान्मात्रा उपलब्धास्तासां त्यागस्तैश्च न संवसेद् उदीचीं

दिशमुपनिष्क्रान्तानश्च न सहिताभयनमधीयानः पूतो भवतीति विज्ञायत” इति । तेभ्यः सकाशादिति वचनाद् यास्त्वपतितेभ्यस्तदीयभ्यो ज्ञातिसखि प्रभृतिभ्यस्तेनैव हेतुनोपलब्धास्तासामत्याग एव । मात्राग्रहणं च ताम्बूलदेरपि तदीयभ्य त्यागो यथा स्यादित्येवमर्थम् । उपलब्धा इति चासञ्चेतितास्वदोषार्थं, सञ्चेतितानां च स्वरूपनाशेऽपि तत्तुल्यसामान्यस्य त्यागार्थम् । तैश्च न संवत्सेदिति प्रायश्चित्तारम्भादेव सिद्धत्वादेकग्रामवासनिवृत्त्यर्थम् अन्तिकवासनिवृत्त्यर्थं वा । स्पष्टमन्यत् । शङ्खेनाप्युक्तं — “पतितसंव्यवहारिणो जलशयनं पञ्चतापमभ्रावकाशं चानुतिष्ठेयुर्ग्रीष्मवर्षाहेमन्तेषु मासं वा गोमूत्रयावकं पिबेयुरेवं शुभ्यन्ती”ति । तथा महापातकमध्ये “तैश्च सह सप्रयोगश्च स पञ्चमः पातक” इत्युक्तं, न च तत्र प्रायश्चित्तमुक्तम् । अतो यत् सामान्येनोक्तं “पतितो ह्यात्मानमुद्धरेत् संवत्सरं तप्तकृच्छ्रमाचरेत्” इत्यादि ब्रह्महत्याप्रकरणे व्याख्यातं, तदेव संप्रयोगिणोऽभिप्रेतमिति गम्यते । तथा संवत्सेऽपि चतुर्णां महापातकानां प्रायश्चित्तान्युक्तोक्तम्—

“एभिः संपर्कमायाति यः कश्चित् पापमोहितः ।

षण्मासमब्दमेकं वा पूर्वोक्तानां व्रतं चरेत् ॥”

इति । अत्र चैभिः षण्मासमब्दमेकं वा यः संपर्कमायाति, स पूर्वाक्तानां व्रतं चरेदिति केचिद्योजयन्ति । तथा सत्यब्दग्रहणात् सिद्धे सत्येकं वेत्यवक्तव्यं स्यात् । अतः प्रायश्चित्तकालोपदेशोऽयं न संपर्ककालभ्यः । तेनायं श्लोकार्थः — य एभिर्ब्रह्महृत्प्रभृतिभिः स्मृत्यन्तरानुसारेण ‘संवत्सरेण पतती त्यादिना संपर्कमाभिमुख्येन याति, स एषां पूर्वोक्तानां यद् व्रतं द्वादशाब्दाद्युक्तं तदेव षण्मासमेकं वाब्दं चरेदिति । वाशब्दाच्च द्वौ वा त्रीन्वा इत्येतदपि गम्यत एव । तथा षण्मासं त्रीन्वा मासानिति । एवं सुमन्तुनापि सुवर्णस्तेयस्येत्तया “सुवर्णस्तेयी मासं सावित्र्याष्टसाहस्रमाज्याहुतीर्जुहुयात् सर्वकृच्छ्रेण च पूतो भवती”ति, तत उक्तं “यश्चैतैः सह यौनमुख्यब्राह्मणां संबन्धानामन्यतमेन संपर्कं कुर्यात्, तस्यान्येतदेव प्रायश्चित्तं विद्ध्यति”ति । आनन्तर्याच्चैतदेव स्तेयसब्रह्ममिति गम्यते, न

१. ‘स्थला’ च. पाठः. २. ‘व्दिकायु’, ३. ‘त्रिर्वा इ’ ग. च. पाठः.

४. ‘ष पू’ ड. पाठः ५. ‘न व सं’ ड. च. पाठः.

तु येन संपर्कस्तदीयमेवेत्येवं योजनोपपद्यते । शातातपे तु — “पतिन-
संव्यवहारी तसकृच्छ्रेण शुध्यति” इत्येवम् । स्मृत्यन्तरेषु तु पतितसंपर्क-
प्रायश्चित्तानि मानवेनैकार्थान्येव —

“यो येन पतितेनैषां संपर्कं याति मानवः ।

स तस्यैव व्रतं कुर्यात् तत्संसर्गविशुद्धये ॥”

इति । सर्वथात्रायं सिद्धान्तः—पतितसंप्रयोगे कामकृते याजनाध्यापनादौ
यो येन पतितेनेत्येतदुक्तैर्यैव विषयव्यवस्थया स्यात् । तत्रापि च संपर्के
मरणान्तिकं नैव भवति, तत्संसर्गविशुद्धय इत्यारम्भात् । अन्यथा त्वय-
मन्त्यः श्लोकपाशोऽनर्थक एव स्यात् । अतः पतितसंपर्कं विशोधयितुमप-
तितैः सह संसर्गसिद्ध्यर्थं तस्यैव यज्जीवप्रायश्चित्तं तत् कुर्यादिति । मरणा-
न्तिकार्हेणापि संपर्कं गुरुतरं कल्प्यं न मरणान्तिकं द्वादशाब्दं वा, “षण्मा-
समब्दमेकं वे”ति संवर्तवचनात् । नाप्यस्य द्वादशाब्दं युक्तं, मरणान्ति-
केन तुल्यकल्पत्वात् । न च द्वादशाब्दार्हेणापि संपर्कं स्वयं तदनर्हस्य
तद्युक्तम् । न च यथाविधोऽनुबन्धो हन्तुः, तथाविधः संसर्गो संभवति ।
हन्ता हि विद्यावृत्ततपःसंपन्नं सवनगतं च ब्राह्मणं तस्यैव महासतीं
योषितमपहर्तुं कामतो हन्यात् । न च तेन सह संसर्गो तथाविधोऽनुबन्धः
संभवति । अतः संसर्गहेत्वपेक्षयैव तस्य प्रायश्चित्तं कल्प्यं, न च तत्क-
ल्पनायां कल्पान्तरस्यानुप्रवेशः, येन पूर्वोक्ता कल्पना स्यात् । ततो या-
न्येतानि स्मृत्यन्तरेषु संसर्गोद्देशेन विशेषविहितानि, तैरेव सह सामान्यो-
पदिष्टानां विषयकल्पना युक्तम् । न च तैः सह द्वादशाब्दिकं मरणान्तिकं
वा शक्यं कल्पयितुम् । अतोऽपि यान्येव सरस्वतीगमनसंहिताजपसंवत्स-
रकणपिण्याकभक्षणतुल्यानि, तान्येव कामकृते संसर्गे घोरतरानुबन्धे च
सरस्वत्याद्यर्हसंपर्के च विशेषविहितानि पूर्वमुदाहृतानि प्रत्येतव्यानि । पर-
स्परं तु विषयकल्पना ज्ञातैवेत्यलं प्रसङ्गेन । चण्डालसंपर्कप्रायश्चित्तान्यप्य-

१. ‘तु सं’ ड. च. पाठः. २. ‘क्त, तयै’ ग. पाठः. ३. ‘त. सं’ ड.
पाठः. ४. ‘तुं प’ ग. पाठः. ५. ‘णं द्वा’, ६. ‘ब्दिकं वा’ ग. च. पाठः.
७. ‘पके व’ ग. पाठः. ८. ‘ब्दिकं यु’ ग. च. पाठः. ९. ‘तथा हि’ ग. पाठः.
१०. ‘स्पनान्त’, ११. ‘ने’ ग. पाठः. १२. ‘न तैः’ च. पाठः. १३. ‘तो
वा’ ग. च. पाठः.

नेवैव मार्गेण व्याख्येयानि । तत्रापि —

“चण्डालान्त्यस्त्रियो गत्वा भुत्त्वा च प्रतिगृह्य च ।

पतत्यज्ञानतो विप्रो ज्ञानात् साम्यं तु गच्छति ॥”

इति मानवे पतितत्ववचनात् पतितप्रायश्चित्तानि सर्वाणि प्रसज्यन्ते । ज्ञानात् साम्यं तु गच्छतीति च प्रायश्चित्ताभाव एवैवविधस्य कामतो व्यवहरेत इत्येवमर्थम् । अतश्च पतितसम्पर्काद् गुरुतरस्तत्संपर्क इति ज्ञायते, न त्वभावै एव प्रायश्चित्तग्येत्यभिप्रायः । तेनात्र द्वादशाब्दिकं मरणान्तिकं च प्राप्नोत्येव । संपर्ककालस्य चानभिधानात् पूर्वप्रकृत एव कालोऽत्रापि द्रष्टव्यः —

“संवत्सरेण पतति पतितेन समाचरन्”

इति, स्पर्शाधिकारे च —

“दिवाकीर्त्यमुदक्यां च पतितं सूतिकां तथा”

इत्येकप्रकरणपाठात् । अतः संवत्सरात् परतः कामसंसर्गेऽङ्गणान्तिकम्, अर्वाक् प्रायश्चित्तान्तराणि महापातकप्रकरणोक्तानि विप्रोऽप्यवस्थया योज्यानि । तथा स्मृत्यन्तरेष्वपि चण्डालसंकरे, यथा वासिष्ठे — “गुर्वीस-ख्यादिगमने कृच्छ्राब्दपादं चरेत्” इत्युक्तवाक्यम् — “एतदेव चण्डाल-पतितान्नभोजनेष्वि”ति । अत्र च कृच्छ्रगणनया सप्त सार्धानि कृच्छ्राणि । तेनैतत् सप्तरात्रं भुत्त्वा कुर्यात् । कुत एतत्,

“भुत्त्वातोऽन्यतमस्यान्नममाया क्षपणं व्यहम् ।

मत्या भुत्त्वा चरेत् कृच्छ्रं रेतो विष्मूत्रमेव वा ॥”

इति मनुवचनात्, तन्मध्ये च पतितस्योक्तत्वात् —

“अभिषस्तस्य षण्डस्य पुंश्चर्या डांभिकस्य च”

इति । यदि तु अभिषस्तोऽन्तरेणापि पतनं महापातकाभिषस्तो गृह्यते, तथापि दण्डापूर्षिकया महापातकिनां भेदेनानभिधानेनैवाभोज्यत्वसिद्धेः

१. 'तव' ग. पाठः. २. 'हाएइ' ड, 'हा' च. पाठः. ३. 'वः प्रा' ग. च. पाठः. ४. 'स्यान्', ५. 'वैकृ', ६. 'याच स्मृ', ७. 'वैतत्' ड. पाठः. ८. 'पवद् म' ग, 'पिकवद् म' च. पाठः. ९. 'वेड्यभो' च, 'ने सस्य-नेनै' ग. पाठः.

सकृद्भोजने मत्या कृच्छ्रम् । ततश्चावृत्तिविषयत्वाद् वासिष्ठं 'कृच्छ्राब्द-
पादं चरेदि'त्येतत् सप्ताहविषयमिति स्थितम् । चण्डालभोजनं तु यद्यपि
पतितभोजनाविशेषेण पठ्यते, तथापि लोकोपचारान्मानवाच्च ज्ञापकाद्
गुरुतरमेव । अतश्चाकामतश्चण्डालान्नभोजने कृच्छ्रं, कामतस्तु सकृद्भोज-
नेऽपि पतनमेव, "ज्ञानात् साय्यं तु गच्छती"ति मनुवचनात् । अज्ञान-
तस्तु संवत्सरेण पतनम् । प्राक् तु संवत्सरात् पतितसंपर्कवद् विषयक-
स्याना । यत्र त्वर्ज्ञातश्चण्डालादिः कस्यचिद् गृहेऽवतिष्ठते, तेन च स-
हान्ये व्यवहरन्ति न तु साक्षात् तेन चण्डालादिना, तेषां प्राक् संवत्सरा-
दूर्ध्वं च षण्मासात् संवर्तोक्तं —

“चण्डालसङ्गरे विप्रः श्वपाके पुल्कसेऽपि वा ।

गोमूत्रयावकाहारो मासेनैकेन शुध्यति ॥”

इति । अत्र सङ्करमात्रं उक्तं, न तु साक्षात्संबन्धः । तथाच काश्यपः—
“चण्डालश्वपाकपुल्कसादिसङ्गरे संव्यवधाने षण्मासान् गोमूत्रयावकाः
पञ्चाहं कालं पातव्याः । एवं प्रतिमासवृद्ध्या वृद्धिरा परिवृत्तेः सूर्यस्ये”ति ।
सूर्यपरिवृत्तिश्च षण्मासेन भवति । अतः प्राक् षण्मासादित्ययमस्यार्थः ।
विप्रग्रहणार्तं तु ब्राह्मणस्यैवैतत् । इतरेषां तु कृच्छ्रत्रयम् । तच्च प्राजापत्यं
स्यात् । यथाह सुमन्तुः—“अगम्यागमने स्त्रीवधचण्डालसंकरे च कृच्छ्र-
त्रयं चरेदि”ति । साक्षात्तु यस्य गृहे स्थितः, तस्य पराशरोक्तम् —

“अविज्ञातस्तु चण्डालो निवसेद् यस्य वेश्मनि ।

विज्ञानेनोपसन्नस्य विप्राः कुर्वन्त्यनुग्रहम् ॥

ऋषिवक्त्रच्युतान् धर्मान् पठन्तो धर्मपाठकाः ।

पतन्तमुद्धरेयुस्तं धर्मशास्त्रविशारदाः ॥

दधिक्षीरघृतैर्युक्तं कृच्छ्रं गोमूत्रयावकम् ।

भुञ्जीत सहितो भृत्यैस्त्रिसन्ध्यमवगाहयन् ॥

१. 'नादवि' ग. च. पाठः. २. 'पि दण्डालं' च. पाठः. ३. 'श्च चण्डा',
४. 'तु च', ५. 'स्य' ड. पाठः. ६. 'ज्ञानत' ग. पाठः. ७. 'त्रमुक्त', ८. 'तु षण्मा-
सात्सं' ग. च. पाठः. ९. 'न्धः' ग. पाठः. १०. 'स' ड. न. पाठः. ११. 'कृप' ग.
पाठः. १२. 'न' ग. ड. पाठः. १३. 'ण ब्रा' ग., 'णाद् ब्रा' च. पाठः. १४. 'कृच्छ्रम्' ।
त' ड. पाठः. १५. 'न' ग. पाठः. १६. 'दा वराः ॥' ग. च. पाठः.

दध्नादौ त्रियहं पूर्वं सर्पिषा च ततः परम् ।
 क्षीरेण त्रियहं भोज्यमेकैकेन पुनस्तथा ॥
 तिष्ठेद् दिनानि यावन्ति तावन्त्येवं समाचरेत् ।
 भावदुष्टं न भुञ्जीत प्रकृत्या गोरसप्लुतम् ॥
 त्रिपलं तु दधि क्षीरं पलमात्रं तु सर्पिषः ।
 अशक्तावुपवासेन फलमूलाशनेन वा ॥
 आकरेषु भवेच्छुद्धिस्तैजसानामशेषतः ।
 जलशौचेन वस्त्राणां मृन्मयानि परित्यजेत् ॥
 कुसुंभं गुलकार्पासं लवणं तैलसर्पिषी ।
 द्वारे कुर्वीत धान्यानि दद्याद् वेश्मनि पावकम् ॥
 स पूतः सहितो भृत्यैः कुर्याद् ब्राह्मणभोजनम् ।
 विंशद्भावो वृषं चैकं ब्राह्मणेभ्यो निवेदयेत् ॥
 एवं स शुद्धिर्भाप्नोति पराशरमतं यथा ।”

इति । कृच्छ्रमिति गोमूत्रयावकविशेषणम् । ततश्च यथा कृच्छ्रो दुरभ्य-
 वहार्यो भवति, तथा केवले गोमूत्रे कर्तव्यः । स यथोक्तपारिणार्थैर्दध्यादि-
 भिरुपसिक्तो भोक्तव्यः । सर्पाङ्गुरूप्येण च भृत्यानां गृहपतेश्च कालनि-
 यमः । द्वादशरात्रार्चं प्राग्निज्ञाने सत्येतत् प्रायश्चित्तम् । परतस्त्वेतदेवाहः-
 संख्ययाभ्यसितव्यम् । दक्षिणा त्वेतावत्येव । संवत्सरात्तु परतो ब्रह्महत्या-
 यामिव स्यात् । वर्षत्रयात्तु परतो मरणान्तिकमेव । अन्येषां तु तत्सं-
 गिणां संवत्सरादूर्ध्वं पतितसंपर्कवद् विषयकल्पनेत्यलमतिप्रसङ्गेन । चण्डा-
 लपरिगृहीतोदकपाने तु क्षुल्लकं सान्तपनं ,

“गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम् ।

एकरात्रोपवासश्च श्वपाकमपि शोधयेत् ॥”

इति वचनात् ।

“चण्डालावर्जिते चास्त्रे स्पृष्ट्वा चैनं विशेषतः ।

भुत्त्वा कृच्छ्रमविज्ञाते ज्ञात्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥”

इत्यत्रिवचनं स्पष्टार्थमेव । तथा —

“चण्डालपरिगृहीता अपः किञ्चित् पिबेद्यदि ।
अहोरात्रोषितः स्नात्वा पञ्चगव्येन शुध्यति ॥
चण्डालेन च संस्पृष्टं पिबेत् किञ्चिदकामतः ।
अत्र सान्तपनं कृच्छ्रं चरेच्छुद्ध्यर्थमात्मनः ॥
अन्तावसायिनामन्नमश्नीयाद् यस्तु कामतः ।
स तु चान्द्रायणं कुर्यात् तप्तकृच्छ्रमथापि वा ॥”

इत्याङ्गिरसाः श्लोकाः । तत्र चण्डालेन च साक्षात् यत् स्पृष्टं यत् तदीयं चाज्ञानात् कथञ्चित् पिबति यस्तस्य महासान्तपनम् । यस्त्वकामत एव तत्परिगृहीतकूपादौ, तस्य क्षुल्लकसान्तपनम् । यस्तु ज्ञात्वा तदीयमेवान्नं स्वयं संस्कृत्य भुङ्क्ते, तस्य चान्द्रायणम् । यस्त्वाचमनार्हाणां प्रतिलोमानां कामतः पक्वान्नं भुङ्क्ते, तस्य तप्तकृच्छ्रम् । यस्त्वकामतस्तस्य प्राजापत्यं,

“भुक्त्वा तु प्रतिलोमानां सूतादीनामकामतः ।

प्राजापत्यं चरेत् कृच्छ्रं त्रिरात्रं त्वाहृताशनः ॥”

इत्यत्रिवचनात् । मानवेऽपि च —

“भुक्त्वातोऽन्यतमस्यान्नमत्या क्षपणं व्यहम्”

इति तदीयं पक्वान्नमाहृतमेव भुक्त्वा प्रत्येतव्यम् । तदीयगृहभोजने तु याज्ञवल्क्योक्तं चतुरहमित्येषा दिक् ।

अन्ये तु “भुक्त्वातोऽन्यतमस्यान्नमि”त्येवमादीन्यर्थवादत्वेन व्याचक्षते — प्रायश्चित्तप्रकरण एव यत् पठ्यते तदेव प्रायश्चित्तार्थं भवति, अप्रकरणे त्वर्थवादतैव युक्तेति वदन्तः । तथा सति शतपथे मध्यमकाण्डे प्रायश्चित्तप्रकरणे पौरोडाशिके काण्डेऽभिहितं — “स्कन्नमभिसृशति भूतये स्वाहे”त्यादि, तस्याप्यर्थवादत्वं स्यात् । न च स्मृतावर्थवादानां तन्मात्रपर्यवसानं युक्तमित्युक्तमेव । न चात्र किञ्चिदर्थवादसारूप्यमस्य स्यात् । अतोऽर्थवादो नाम वाक्यप्रकाशोऽस्ति, तमप्यहं जानामीत्येतावानेवाभिप्रायः । इत्युपेक्षणीयम् ॥ २५७ ॥

एवं पञ्चानामपि महापातकानां प्रार्थयितुं युक्तम् । इदानीं जातित उक्तकृष्टानां जाति-
तोऽपकृष्टानां वधे प्रायश्चित्तमाह —

चान्द्रायणं चरेत् सर्वानपकृष्टान् निहत्य तु ।

शूद्रोऽधिकारहीनोऽपि कालेनानेन शुध्यति ॥ २५८ ॥

ब्राह्मणः क्षत्रियादीन्, क्षात्रियो ज्ञेय्यादीन्, वैश्यो स्थकारादीन्, शूद्रश्च प्रतिलोभादीनात्मनो निकृष्टाङ्गिह्य चान्द्रायणं कुर्यात् । ननु च शूद्रस्य जपग्रासानुभक्षणानधिकार एव । सत्यमेवम् । किन्तु अधिकारही-
नोऽपि शूद्रः कालेनानेन शुध्यति । मासं मयूराण्डरूपप्रमाणानेकोपचयादिना
ग्रासानश्नन् मन्त्ररहितो विशुध्यतीत्यभिप्रायः । अन्ये तु क्षत्रियादिवधे
प्रायश्चित्तान्तरस्य वक्ष्यमाणत्वात् प्रतिलोमवध एवैतत् प्रायश्चित्तमिति
व्याचक्षते । तथा सति सर्वानपकृष्टानित्यत्र सर्वशब्दोऽन्वयः स्यात् ।
तथाहि शङ्खः “सर्वेषामन्योन्यापकृष्टवधे चान्द्रायणम्” । तत्रैवेति वाह ।
अविशेषाभिधानेऽपि च क्षत्रियवध एव ब्राह्मणस्य चान्द्रायणम् । वैश्यवधे
तु न्यूनमन्यत् कल्प्यम् । अन्योन्यापकृष्टवध इति वचनाच्चान्द्रायणप्रकारा-
पेक्षया व्यवस्था कल्प्या । यत् क्षत्रियादीनां वैशेषिकं, तन्निकृष्टस्यैव हन्तु-
रुक्तवधे विज्ञेयम् । तत्रैव च विशेषं वक्ष्यामः ॥ २५८ ॥

यदि त्वपकृष्टेऽपि क्षत्रियादीं दशान्तरगत व्यापादिते स्वयं क्षत्रियोऽयमन्वयं जान-
न्नपि द्वेषाद् ब्राह्मणोऽब्रह्मणेन व्याशादेत इत्येव मिथ्यैव कश्चिदभिधेयं, तस्यापि किं दोषः
प्रायश्चित्तं वा भवेदुत नेति, तथा यथावस्थितमप्यविज्ञातं लोके ब्राह्मणादिवधमन्यद् वा
पापं योऽभिधेयस्य व्यापयति, तस्यापि किमित्यत आह —

मिथ्याभिशंसिनो दोषो द्विः समो भूतवादिनः ।

मिथ्याभिशस्तपां च समादत्ते मृषा वदन् ॥ २५९ ॥

यस्तावन्मिथ्यैवाभिशंसेत् तस्य द्विदोषः, द्विगुणमित्यर्थः । यस्तु
भूतमेवार्थमप्रख्यातमभिशस्य प्रख्यापयति, तस्याभिशस्यमानेन तुल्य-
दोषत्वम् । कस्मात् पुनर्मिथ्याभिशंसिनो द्विगुणदोषत्वं, यस्मादभिशंस-

१. 'ना म', २. 'नीसुक्त' ड. पाठः. ३. 'माना' ग. च. पाठः.
४. 'तस्य' च. पाठः. ५. 'या वा व्य' ड. च. पाठः.

नात् पातकसंयोजकतया यत्तित्वोपदेशात् तुल्यत्वं तावदस्त्येव । अन्यच्च—यत्तस्य मिथ्याभिज्ञानं पापं, तज्ज्ञासौ सम्यगादत्ते मृषा निर्दोषमयैव दोषवत्तां वदन् । तस्मादत्ते न तावत्तस्य दोषोऽस्ति, अतो यश्चाभ्यारोपितः, यश्चाभ्यारोपकत्वेन प्राप्तः, सौ द्वावपि तस्यैव दोषावित्युपपन्नम् । द्विगुणदोषत्वं तावत् पूर्वोक्तैरेव प्रकारेण सिद्धम् । किञ्च अन्यदपि यत्किञ्चित् तेन पापं कृतं, तदप्यसावेव मिथ्याभिज्ञानादादत्ते । ततश्चाभिज्ञस्तः पूर्वकृतादपि पापान्मुच्यते इत्यभिप्रायः । युक्तं चैतत्, दुःखोपभोगस्य पापक्षयहेतुत्वान् । यच्चभिज्ञस्तस्य प्रायश्चित्तावधानं, तदुत्तरत्र वक्ष्यामः ॥ २५९ ॥

एवं महापातकप्रायश्चित्तानि सप्रपञ्चमभिप्रायेदानं मुद्गेन क्रमापेक्षयेवोपपातकप्रायश्चित्तानामवसरः । तत्र प्राथम्याद् गोवधस्याह—

पञ्चगव्यं पिबन् गोष्ठो जास्मासीत संयतः ।

गोष्ठेशयो गोनुगामी गोप्रदानेन शुध्यति ॥ २६० ॥

पञ्चगव्यं चात्र भोजनार्थम् । ततश्च गोमूत्रादीनि पञ्चापि तुल्यप्रमाणान्येकत्रालोच्य प्रत्यहं सकृद्भोक्तव्यानि । संयमश्चात्र चान्द्रायणेति कर्तव्यतयावस्थानं, स्मृत्यन्तरेकित्वा गोचर्मधारणगोमूत्रस्नानादि । संयमवचनादिह तु वक्तव्यमेवम् । गोष्ठो मासं पञ्चगव्यमश्नन् गोष्ठ एव गोरूपसन्निधौ शयनं रात्रौ कुर्वन् दिवा च गोनुगामी यर्था च गावः स्नेच्छया सुखेन गच्छन्ति तथा गच्छन्तीनां परिचारकत्वेनानुगामी स्यादित्यर्थः । ततोऽन्ते गोप्रदानं कृत्वा शुद्धः स्यात् । लिङ्गस्य चानभिव्यक्तत्वाद्वधभेदनुदानं च यथालिङ्गं योज्यम् ॥ २६० ॥

तथेदमन्यद् गोवध एव —

कृच्छ्रं चैवातिकृच्छ्रं च चरेद् वापि समाहितः ।

दद्यात् त्रिरात्रं वोषोष्य ऋषभैकादशास्तु गाः ॥ २६१ ॥

१. 'तत्त्वं',— २. 'मागेण', ३. 'कमेतच्च, दुः' ग. पाठः. ४. 'व्याख्याम्यामः ॥' ग. च. पाठः. ५. 'मेणोय' च. पाठः. ६. 'वेद ने', ७. 'क' ग. च. पाठः. ८. 'वा गा' ग. पाठः.

अत्र कृच्छ्रं चैवेत्येवकारादपिशब्दाच्चैकैकमपि प्रायश्चित्तमिति ग-
म्यते । अतश्चैतानि प्रायश्चित्तानि त्रीणि कृच्छ्रमतिकृच्छ्रमुभयं च । समाहि-
तशब्दश्च पूर्ववत् स्मृत्यन्तरोक्तधर्मप्राप्त्यर्थः । तथेदमन्यत्—त्रिरात्रो-
पोषितो दश गा एकादशं च ऋषभं दद्यात् । एवमेतानि पञ्च गोघ्नप्रायश्चि-
त्तानि श्लोकद्वयोस्तानि विषयव्यवस्थया योज्यानि । केचित् त्रीण्येवैतानीति
व्याचक्षते, कृच्छ्रातिकृच्छ्रयोः समुच्चितयोरेव प्रायश्चित्तत्वात् । तथा
सति त्रीण्यपि समानत्वादिच्छैव विकल्प्यन्ते । अन्ये तु पञ्चगव्यं पिबे-
न्मासं कृच्छ्रं चैवातिकृच्छ्रं च चरेदित्येकमेवेच्छन्ति । अपिशब्दाच्च अपि-
वा पूर्वानपेक्ष कृच्छ्रं चैवातिकृच्छ्रं चेत्येवं योजयन्ति, स्मृत्यन्तरानुसा-
रात् । तथैव हारीतो मानवं त्रेमासिकमभिधायाह —

“पञ्चगव्येन वा मासं स्थित्वा कृच्छ्रद्वयं चरेत्”

इति । अविशेषाभिधानेऽपि चैतदनुसारादेव द्वितीयमतिकृच्छ्रं प्रत्ये-
तव्यम् ॥ २६१ ॥

एतदेवोपपातकान्तरेष्वपि प्रायश्चित्तान्तरे सह वैकल्पिकत्वेनाभिधानि—

उपपातकशुद्धिः स्यादेवं चान्द्रायणेन वा ।

पयसा वापि मासेन पराकेणापि वा पुनः ॥ २६२ ॥

सर्वस्यैवोपपातकमध्यपठितस्यायाज्ययाजनपारदार्यादेरुपपातक-
स्यैवं पूर्वश्लोकद्वयोक्तैर्गोघ्नप्रायश्चित्तैः शुद्धिः स्यात् । यद्वा चान्द्रायणेन ।
यद्वा मासं पयोव्रतत्वेन । यद्वा पराकेण । पराको द्वादशरात्रोपवासः ।
पुनःशब्दाच्च व्यस्तसमस्ततया प्रयोगोऽभ्यासेन च । स्मृत्यन्तरानुसाराच्च
व्यवस्था कल्पनीया । अत्र च स्मृत्यन्तरेष्वनेकप्रकाराणि गोघ्नप्रायश्चि-
त्तानि पठ्यन्ते । तथोपपातकान्तरेष्वपि । वैशेषिकाणि च बहुषु बहूनि
पठ्यन्ते । तेषामपि तु प्रसङ्गनिरूपणा शुकतैव कर्तुम् । यथा तावन्मानवे—

“एतैर्व्रतैरपोह्युर्महापातकिनो मलान् ।

उपपातकिनस्त्वेवमेभिर्नानाविधैर्व्रतैः ॥”

१. 'वे' ग. पाठः. २. 'च्छ्रं च' ग. क. पाठः. ३. 'क्षः' क. च. पाठः.
४. 'था ह्य' क. पाठः. ५. 'वर्गप' ग. च. पाठः. ६. 'पि प्र' क. पाठः.

इत्युक्तवोक्तम् —

“उपपातकसंयुक्तो गोघ्नो मासं यवां पिबेत् ।
 कृतवापनो वसेद् गोष्ठे चर्मणा तेन संवृतः ॥
 चतुर्थकालमश्रायादक्षारलवणं मितम् ।
 गोमूत्रेणाचरन् स्नानं द्वौ मासौ नियतेन्द्रियः ॥
 दिवानुगच्छेत् ता गास्तु तिष्ठन्धूर्ध्वं रजः पिबेत् ।
 शुश्रूषित्वा नमस्कृत्वा रात्रौ वीरासनी वसेत् ॥
 तिष्ठन्तीषु च तिष्ठेत व्रजन्तीष्वप्यनुव्रजेत् ।
 आसनीनासु तथासीत नियतो वीतमत्सरः ॥
 आतुरामभिषक्तां च चोरव्याघ्रादिभिर्भयैः ।
 पतितां पङ्कलग्नां च सर्वप्राणैर्विमोक्षयेत् ॥
 उष्णे वर्षति शीते वा मारुते वाति वा भृशम् ।
 न कुर्वीतात्मनस्स्नानं गोरकृत्वा तु शक्तिततः ॥
 आत्मनो यदि वान्येषां क्षेत्रे गेहेऽथवा खले ।
 भक्षयन्तीं न कथयेत् पिबन्तं चैव वत्सकम् ॥
 अनेन विधिना यस्तु गोघ्नो गा अनुगच्छति ।
 स गोहत्याकृतं पापं त्रिभिर्मार्गैर्व्यपोहति ॥

केचित् तु “त्रिभिर्वर्षैरिति पठन्ति ।

ऋषभैकादशा गास्तु दद्यात् सुचरितव्रतः ।
 अविद्यमाने सर्वस्वं वेदविद्भ्यो निवेदयेत् ॥
 एतदेव व्रतं कुर्युरुपपातकिनो द्विजाः ।
 अवकीर्णिवर्जं शुद्ध्यर्थं चान्द्रायणमथापि वा ॥”

इति । आङ्गिरसेनाप्येवमेवोक्तम् —

“उपपातकसंयुक्तो गोघ्नो भुञ्जीत यावकम् ।
 अक्षारलवणं रूक्षं षष्ठे कालेऽस्य भोजनम् ॥
 कृतवापनो वसेद् गोष्ठे चर्मणा तेन संवृतः ।
 द्वौ मासौ स्नानमप्यस्य गोमूत्रेण विधीयते ॥

पानशौचक्रियाकार्यमद्भिः कुर्वीत केवलम् ।
 व्रतवद् धारयेद् दण्डममन्त्रां चैव मेखलाम् ॥
 गाश्चैवानुव्रजेन्नित्यं रजस्तासां पिबेत् सदा ।
 गोमतीं च जपेद् विद्यामोङ्कारं वेदमेव च ॥”
 अन्यत् तु सर्वं मानवेनाविशिष्टम् । अयं तु विशेषः —
 “अनेन विधिना यस्तु गोघ्नो गा अनुगच्छति ।
 स गोहत्याकृतं द्वाभ्यां मासाभ्यां वै व्यपोहति ॥”
 इति । तथा “दक्षिणायामविद्यमानायां तद्वर्णं तल्लिङ्गं वोपपादयेत्” इति ।
 संवर्तस्तु —

“गोघ्नः कुर्वीत संस्थानं गोष्ठे गोरुपसंनिधौ ।
 तत्रैव शयनं चास्य मासार्धं क्षितिशायिनः ॥
 सक्तुयावकभैक्षाणि पयो दधि च संयतः ।
 एतानि क्रमशोऽश्नीयान्नरस्तत्पापमोक्षकैः ॥
 शुध्यते सोऽर्धमासेन नखरोमविवर्जितः ।
 स्नानं त्रिषवणं कुर्यात् संयतो दीतमत्सरः ॥
 गायत्रीं च जपेन्नित्यं पवित्राणि च सर्वशैः ।
 पूर्णं चैवार्धमासे तु स विप्रान् भोजयेत् ततः ॥
 भुक्तवत्सु तु विप्रेषु गा दद्याच्छब्दिततो द्विजः ॥”

इति । तथा कश्यपेन गोवधमेवाधिकृत्योक्तं — “प्रायश्चित्तमकामावाप्तौ,
 कामकृतेऽप्येके ।” दोग्ध्रचादोनां प्रायश्चित्तं दोग्ध्रीधमनदानेन । तदा-
 मयाशङ्कायां च घण्टाभरणभूषणयोजने वा पानतैलौषधभेषजक्रियाभिर्वि-
 नियोगैर्व्यापन्नानां प्रायश्चित्तं — “ब्रह्मणेभ्यो निवेदयित्वा सशिखं वपनं
 कृत्वा प्राजापत्यं कृच्छ्रमाचरेत् । चोर्गन्ते धेनुं तिलधेनुं दद्यादि”ति
 काश्यपः । अथान्यो वर्णः — “तेन चर्मणा प्रावृतो मासं गोष्ठे वसेत् ।
 त्रिषवणस्नायी नित्यं पञ्चगव्याहारः षष्ठान्नकालं पयोभक्षी वा गच्छन्ती-
 ष्वनुगच्छेत् तासु स्तब्धासु नोपविशेत् । नातिप्लवं गच्छेत् । न विष-
 मेणावतारयेत्, नाल्पोदके नाल्पयवसे वा । अन्ते ब्राह्मणतर्पणं कुर्यात् ।

१. ‘मप्यवे’ च. पाठः. २, ३. ‘त’, ४. ‘५ गो’ ग. पाठ. ५. ‘ण्डका’
 डः, ‘दाम’ ग. पाठः. ६. ‘ल’ डः, ‘ल.’ च. पाठः

धेनुं तिलधेनुं वा दद्यादि”ति काश्यपः । तथा श्राद्धेऽपि “गोघ्नः पञ्चग-
व्याहारः पञ्चविंशतिरात्रं तिष्ठेत् । सशिखं वपनं कृत्वा गोचर्मणा प्रावृतो
गा अनुगच्छेत् । गोष्ठे वसेत् । गोप्रदानं च कुर्याद्” इति । वासिष्ठे तु —
“गां चेद्धन्यात्, तस्याश्चर्मणोर्द्वेण प्रावृतः षण्मासं कृच्छ्रं तप्तकृच्छ्रं वानु-
तिष्ठेत् । तयोर्विधिरिति तत्स्वरूपमुक्त्वा “ऋषभवेहतौ च दद्याता-
मि”त्युक्तम् । पैठीनसिनापि — “गोघ्नो यवागूं प्रसूतितण्डुलशृतां मासं
भुञ्जानो गोभ्यः प्रियं कुर्वाणः शुध्येदि”ति । सुमन्तुस्तु — “गोघ्नस्य
गोष्ठे शयनं द्वादशरात्रं पञ्चगव्यभोजनं गवामनुगमनं चे”ति । तथा
यमोऽपि —

“पादपाशनिबन्धाद्वा अतियोक्तातिवाहनात् ।

नदीकान्तारसन्तारश्चभ्रभृग्वर्द्धिपातनात् ॥

एवं गौर्भ्रियते यत्र तत्र शुद्धिर्विधीयते ।

सशिखं वपनं कृत्वा मौनी कौपीनवस्त्रघृक् ॥

गोमूत्रयावकं मासमश्नन् गोभिः समं व्रजेत् ।”

इति । तथात्रैवापरम् —

“उपपातकसंयुक्तो गोघ्नो भुञ्जोत यावकम् ।”

इत्याङ्गिरसेनैवाविशिष्टं ग्रन्थतोऽर्थतश्च । अयं तु विशेषः —

“गायत्र्या दशसाहस्रं जप्यं कुर्वीत चाह्निकम् ।

गोमतीं च जपेद् विद्याम्”

इत्यादि च । तथा —

“गोसहस्रं शतं वापि दद्यात् सुचरितव्रतः ।

अविद्यमाने सर्वस्वं वेदविद्भ्यो निवेदयेत् ॥”

इति । गौतमे च “गां च वैश्यवद्” इत्यतिदेशः कृतः, वैश्यवधे च
“प्राकृतं त्रैवार्षिकं ब्रह्मचर्यमृषभैकादशाश्च गा दद्यादि”त्येवम् । बृहस्पतिना
तु —

“द्वादशाहेन गोघाती तस्मात् पापात् प्रमुच्यते ।

क्षीराहारो भवेत् तत्र क्षीरदध्यशनोऽपि वा ॥”

१. ‘श’, २. ‘णा प्र’ ग. पाठः. ३. ‘च्छे वानि’ ग. च पाठः. ४. ‘तां
भु’ ग. पाठः. ५. ‘याम्येऽपि’ ड. पाठः. ६. ‘गवादिपा’ म च. पाठः. ७. ‘च।
मो’, ८. ‘त ॥ गौ’ ग. पाठ.

तथेदमन्यत् —

“गायत्र्या दशसाहस्रं जपेद् वा यावकाशनः ।

निर्मुण्डं वपनं कृत्वा मौनी कौपीनवस्त्रधृक् ॥

गवां मध्ये वसेद् गोष्ठे दिवा ताभिः समं व्रजेत् ।

चीर्णान्ते तु द्विजातिभ्यो दद्याद् गां हेममेव च ॥”

तथेदं तत्रैवान्यत् — “द्वादशरात्रं पञ्चगव्याहारः षड्रात्रं वा यावकाहारो गोष्ठे वसेत् । देशकालशरीरशक्त्यनुरूपं वा भवेत् । स्मश्रुनखाद्यपनयनं कृत्वा ब्राह्मणान् प्रणिपत्य नुज्ञातोऽन्ते गां वृषं वा तद्वधे दद्यात् । ब्राह्मणान् भोजयित्वा शुध्येदित्याह बृहस्पतिरिति । शातातपे तु “त्रीन् कृच्छ्रान् प्राजापत्यादीनाचरेद् गोमतीं च जपेदि”ति । पाराशरे तु —

“गवां बन्धनयोक्त्रेषु भवेन्मृत्युरकामतः ।

अकामतः कृतं पापं ब्राह्मणेभ्यो निवेदयेत् ॥”

इत्युपक्रम्य,

“सशिखं वपनं कृत्वा त्रिसन्ध्यमवगाहनम् ।

गवां मध्ये वसेद् रात्रौ दिवा गोभिः समं व्रजेत् ॥”

इत्यादिगोनुगमनप्रकारमुक्त्वा प्राजापत्यं कृच्छ्रमुक्तम् । “ततश्चीर्णान्ते ब्राह्मणभोजनम् अनङ्गत्सहितैधेनुदानं चे”ति । एवं स्मृत्यन्तरेष्वप्येवंविधान्येव गोवधप्रायश्चित्तानि । अत्र च स्वयंभुवा —

“उपपातिकिनस्त्वेवमेभिर्नानाविधैर्ब्रतैः ।”

इत्युक्तोक्तम् — “उपपातकसंयुक्तो गोघ्न” इत्यादि । तेन ज्ञायते अस्त्युपपातकव्यतिरेकेणापि गोघ्नत्वम् । अन्यथा तु विशेषणार्थक्यमेव स्यात् । तच्च द्विविधं — किञ्चिदुपपातकसंयोगादातेरित्तं पातकान्तःपाते, किञ्चिच्चोपपातकाद् न्यूनम् । तत्र यद् “उपपातकसंयुक्तो गोघ्न” इत्येवमुपक्रम्य पठ्यते यथाङ्गिरसे, तस्य मानवेन वैकल्पिकत्वम् । यत्तु मानवाद् गुरुतरमसंयुक्तं च यथा गौतमीयं, यथा याम्ये —

१. ‘व्याः शतसा’ ड. च. पाठः. २. ‘लवचदशक्य’ ग. पाठः.
३. ‘लाभ्य’ च. पाठः. ४. ‘षमं वा’, ५. ‘यम्’ ग. च. पाठः, ६. ‘ता’
ड. पाठः, ७. ‘त’, ८. ‘क्यप्रसङ्गान्’, ९. ‘नैवोप’, १०. ‘त्युप’ ग. पाठः.

“गोसहस्रं शतं बापे दद्यात् सुचरितव्रतः”

इति, तत्र च ‘उपपातकसंयुक्तो गोघ्न’ इत्येवंरूपत्वादुपक्रमस्य एतद् मान-
वेनाविशिष्टत्वाद् वैकल्पिकत्वेन व्याख्येयम् । अन्यत्तु सहस्रदक्षिणात्मकं
पातकोचितत्वाद् गौतमीयवैकल्पिकत्वेन । शतदानमपि तस्मिन्नेव विषये-
ऽनुबन्धाद्यपेक्षया योज्यम् । यानि तु न्यूनानि शङ्खयाज्ञवल्क्यप्रवेत-प्रभृ-
तिषु, तान्युपपातकसंयुक्तत्वेनानुपदेशादस्त्वत्वाच्च प्रागुपपातकाद् द्रष्टव्यानि ।
तत्र च क्रत्वर्थानां गवां वधे मानवादभ्याधिकानां विषयः । इतरत्र तु
वधायैव प्रवृत्तस्य यो वधः, स उपपातकसंयोगः । यस्त्वन्यार्थं प्रवृत्तस्य
भवति, स यद्युपपातकमध्ये पठ्यते, तथापि न्यून एव, “उपपातकसंयुक्तो
गोघ्न” इति विशेषणसामर्थ्यात् । न चात्र परिग्रहालोचनया विषयव्यवस्था
युक्ता, तस्य वधं प्रत्यनुपयोगात् । यत्तु ब्राह्मणसंस्थगोहरणे दण्डभूय-
स्त्वमुक्तं —

“गोषु ब्राह्मणसंस्थासु स्थूरिकायाश्च भेदने ।

पशूनां हरणे चैव दण्डः कार्योऽर्धपादेकः ॥”

इति, तर्तुं तस्मिन्नेव स्तेयप्रकरणे युक्तम् । तत्र हि यदीयं यच्च द्रव्यं ह्रे-
यते, तत्स्वरूपापेक्षयैव दण्डविशेषनिरूपणात् । इह तु यद्यप्यात्मीया
हन्यते, तथापि तावदेवाभ्याधिकं वा प्रायश्चित्तं स्यात् । अतोऽत्र कस्येयं
गौरित्येतन्नोपयुज्यते । ततश्च हीनसंस्कृताया उत्तमसंस्कृतायाश्च वधे
हन्तृगतानुबन्धापेक्षयैव विषयकल्पना । वचनात् तु क्रत्वर्थहिंसायां दोषा-
तिरेकावगतिः, यथाह शङ्खः—

“भारुताः पशवो याज्ञाः दैवीश्च मरुतो विशः ।

वैश्यहत्याव्रतं कुर्यादतस्तेषां प्रमापणे ॥”

इति । यद्यपि चात्र पशुमात्र उक्तं, तथापि गौतमीयाद् “गां च वैश्यव-
दि”ति वचनाद् गोविषयमेवैतदिति द्रष्टव्यम् । अन्यत्रापि च महतां प्राय-
श्चित्तानामेषैव प्रक्रिया योज्या । यथा स्वायम्भुवे —

“मार्जारनकुलौ हत्वा चाषं मण्डूकमेव च ।

१. ‘प्रचेतसप्र’, २. ‘स्य’ च. पाठः. ३. ‘संस्कृतगो’ इ. च. पाठः.
४. ‘तु’ इ. पाठः. ५. ‘कं प्र’ ग. पाठः. ६. ‘संस्कृत्यामुत्त’ ग. इ. पाठः.
७. ‘संस्कृतां च व’ ग. पाठः.

श्वर्गोऽलूककाकांश्च शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥”

इति । क्रत्वर्थानामेवैषां वध एतच्छूद्रहत्याप्रायश्चित्तं स्यात् । एवं स्मृत्यन्तरे-
प्वापे । यथा गौतमे — “मण्डूकनकुलकाकाबेम्बदहरमूषिकाश्च हिंसासु
चे”ति । अत्रापि शूद्रहत्याव्रतमेव चशब्देनोपादेष्टम् । बिम्बः कृकलासः ।
दहरमूषिका चुच्छुन्दरिका । मानवात्तु गुरुतरमेतत् । मानवेऽप्युक्तम् —

“एतदेव व्रतं कृत्स्नं षण्मासांश्छूद्रहं चरेत् ।

ऋषभैकादशा वापि दद्याद् विप्राय गाः । सेताः ॥”

इति । गौतमे तु — “शूद्रवधे संवत्सरं प्राकृतं ब्रह्मचर्यमृषभैकादशा गाश्च
दद्यादिति”ति । अत्रापि मानवं ब्राह्मणस्य क्रत्वर्थशूद्रवधे च । गौतमीयं
त्वब्राह्मणविषयम् । एवमन्यत्रापि क्रत्वर्थपुरुषार्थपेक्षया हन्तृगतानुबन्धा-
पेक्षया च हिंसाप्रायश्चित्तानां विषयकल्पना कार्या । केचित्तु समुचितानां
मण्डूकादीनां वध एतदिति वर्णयन्ति । तच्च हिंसासु चेति बहुवचनान्धा-
यावेरोधाच्चायुक्तम् । अतः क्रत्वर्थविषयतयैव व्याख्येयम् । तत्र च क्रत्व-
र्थमभिहोत्रादिसाधनभूतां गां हत्वाकामतो वात्सेष्टं, कामतस्तु गौतमी-
यम् । सोमयागाङ्गभूतायां संप्रक्रयण्यादावकामतो गौतमीयं, काम-
तस्तु याम्यं गोसहस्रदानमिति । एवमन्यान्यप्येवंप्रकाराणि व्याख्येयानि ।
पुरुषार्थायास्तु कामतो वधे मानवम्, अकामतस्त्वाततायित्वेन वा
याज्ञवल्कीयम् । अकामेन चान्धकारादौ गौरित्येवमजानतो मृगव्याघ्राधि-
कृतस्यास्त्येव वधप्रसङ्गः । नन्वाततायिवधे नैव दोषो युक्तः । सत्पुं, पशूनां
त्वबुद्धिपूर्वत्वात् प्रवृत्तेर्न मानुषैस्तुल्यकल्पत्वं युक्तम् । तथाच सुमन्तुः —
“नाततायिवधे प्रायश्चित्तमन्यत्र गोब्राह्मणेभ्यः” इति । अतस्तद्वधेऽपि प्राय-
श्चित्तमस्त्येव, आत्मत्राणपरत्वात् त्वकामत एव तत्र वध इति प्रायश्चित्ता-
ल्पत्वं युक्तम् । यानि तु विशेषेणैव पठ्यन्ते, यथा—

“गवां बन्धनयोक्त्रेषु भवेन्मृत्युरकामतः”

इति पाराशरे, तानि श्रुतित एव व्यवस्थितानि । न चास्मिन् विषय उप-
पातकत्वम् । अतो यत् सामान्येनोच्यते —

१. ‘काकोलूकगृध्रांश्च’, २. ‘सं शूद्र’ ग पाठः. ३. ‘व’ च., ‘वन्विधः प्र’
ग, पाठः. ४. ‘वैप्रभवत्वा’ च. पाठः. ५. ‘कम् । अ’ ड. पाठः.

“प्रायश्चित्तीयतां प्राप्य देवात् पूर्वकृतेन वा ।

न संसर्गं व्रजेत् साद्धिः प्रायश्चित्तेऽकृते द्विजः ॥”

इति, तत् पातकोपपातकविषयत्वादेवंविधे गोवधे न स्यात्, यत्रैवोपपात-
कत्वं तत्रैव भवति, न तु बन्धनयोजनादौ, व्यवहारोच्छेदप्रसङ्गात् । अतो
यदि संगोपनार्थं बन्धने कृष्याद्यर्थं वा योजने तत्कृतो वधः स्यात्, ततः
पाराशर्यं विज्ञेयम् । यत् —

“सायं संगोपनार्थाय न दुष्येद् रोधबन्धयोः ।”

इति, तद्रोधबन्धावेव निर्दोषौ न तु तन्निमित्तो वधोऽपि । तथाचान्य-
त्रोक्तम् —

“औषधं स्नेहमाहारं दद्याद् गोब्राह्मणस्य तु ।

तन्निमित्तं विज्ञेऽपि पुण्यमेव न पातकम् ॥”

इति, अन्यत्रास्त्येव दोष इति गम्यते । अन्ये तु संवर्त एवेमं श्लोकं
पठन्ति —

“निरुद्धानां गृहे वधो वा श्वापदादिभिः ।

विद्युत्सर्पाभिर्वापि मरणे नास्ति पातकम् ॥”

इति, तत्पुनर्वैचार्यम् । यत्तु संवर्त एव —

“एकश्चेद् बहुभिः कश्चिद् देवाद् व्यापादितो भवेत् ।

पादं पादं हि हत्यायाश्चरेयुस्ते पृथक् पृथक् ॥”

इति, तद् गोवधप्रकरणेऽपि श्रुतं ब्राह्मणादिर्हिंसास्वापे द्रष्टव्यं, कश्चिदित्य-
विशेषोपदेशात् । अयं चास्य विषयः — दुर्बलहिंसायां बहवो यदि मोच-
नसमर्थाः प्रत्येकं संभूय वा रयुः, तत्र यद्यन्योन्यापेक्षया विमोचनं न कृतं
कथञ्चिद्देवयोगात्, तत्रैकस्य यत् प्रायश्चित्तं प्राप्नोति, तस्य पादेनैकैकः
शुध्यतीत्यभिप्रायः । पाराशर्योक्तं च सर्ववर्णानामविशेषेणैव स्याद्, अविशे-
षोपदेशादेव । संवर्तोक्तं तु यदि कथञ्चिद् गां मरणायागतां वधादन्येन
न शक्नोति परिहर्तुं, ततश्चैवर्णिकस्य द्रष्टव्यं — “गोमत्स्यापि प्रवक्ष्यामि
निष्कृतिमि”ति । अपिशब्दोऽत्र रहितत्वं वधस्य ज्ञापयति । अतो जगो-

पदेशादेवंभूते साक्षाद्वधे द्रष्टव्यम् । आङ्गिरसं तु मानवेन वैकल्पिकम् । तदपि जपोपदेशात् त्रैवर्णिकानामेव कामकृते वधे द्रष्टव्यम् । काश्यपीयं तु दोग्ध्रचादिसंयोगेनैव चोदितत्वात् सुज्ञानमेव । दोग्ध्रो आदिर्येषां ते दोग्ध्रचादयः । तत्र दोग्धुं यन्त्रितायां व्यापत्तौ तदर्थ एव च धमने । या गौर्मृतवत्सादिका, तस्या धमनं क्रियते । तद् गोजीविनां प्रसिद्धम् । एवं घण्टाभरणादि विक्रयाङ्गतया यत् क्रियते, स्नेहौषधदानाद्यपि विक्रयाद्यर्थतयैव शीघ्रपोषणविवक्षया यत् क्रियते, तत् प्रत्येतव्यम् । एतदपि सार्व-
वार्णिकमेव । द्वितीयं तु काश्यपोक्तं शूद्रस्यैव सांवर्तेनैकविषयं द्रष्टव्यम् । पञ्चगव्याहारत्वे च प्रत्यहं भोजनम् । पयोभक्षित्वे तु षष्ठाब्जकालता । समा-
नमन्यत् । शङ्खोक्तमभ्यस्मिन्नेव विषये शक्यपेक्षया योज्यम् । पैठीनसीयं त्वस्मिन्नेव विषयेऽनुगमनासमर्थस्य स्त्र्यादेर्द्रष्टव्यम् । सुमन्तुविहितं तु यदि गृहक्षेत्रखलादावुपद्रवं कुर्वती गौरभिहन्यन्ना श्वभ्रादौ कथञ्चित् पतति, तद्विषयं स्त्र्यादीनामेव । समर्थानां चास्मिन्नेव विषये याम्यं —

“पादपाशनिबन्धाद्वा अतियोक्त्रातिवाहनात्”

इत्युपक्रम्य यद् विहितं —

“गोमूत्रं यावकं मासमश्रन् गोभिः समं ब्रजेत्”

इत्येतद् विज्ञेयम् । यत्तु तत्रैव—

“उपपातकसंयुक्तो गोघ्नो भुञ्जीत यावकम्”

इत्यादि, तदाङ्गिरसेन तुल्यकल्पम् । यत्तु तत्रैव—

“गोसहस्रं शतं वापि दद्यात् सुचरितव्रतः”

इति, तद् गौतमीयवैकल्पिकत्वेन क्रत्वर्थगोवधविषयं व्याख्यातमेव । बार्ह-
स्पत्यं तु “द्वादशाहेन गोघाती”त्येतत् पाराशर्येण वैकल्पिकं त्रैवर्णिकाना-
मेव । लक्षजपस्तु ब्राह्मणानामेव,

“जप्येनैव तु संसिध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः ।”

इति वचनात् । यत्तु तत्रैव “द्वादशरात्रं पञ्चगव्याहार” इति, तत् सौम-
न्तवेन वैकल्पिकम् । यत्तु तत्रैव “षड्रात्रं यावकाहार” इति, तत् तस्मि-
न्नेव विषये बालवृद्धाद्यपेक्षया योज्यम् । शातातपोक्तं तु संवर्तोक्तवैकल्पि-

कत्वेनानुबन्धविशेषापेक्षया योज्यम् । एवं योगीश्वरोक्तानामपि परस्वस्तो विषयकल्पना । सर्वत्रैव च प्रायश्चित्तप्रकरणे —

“जातिशक्तिगुणापेक्षं सकृद् बुद्धिकृतं तथा ।

अनुबन्धं परिज्ञाय प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत् ॥”

इत्येतदेव संक्षेपसूत्रम् । तथा —

“अनुक्तनिष्कृतीनां तु पापानामपनुत्तये ।

शक्तिं चावेक्ष्य पापं च प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत् ॥”

इति । तथा —

“ते यां वेदविदो ब्रूयुस्त्रयोऽप्येनस्सु निष्कृतिम् ।

सा तेषां पार्वनाय स्यात् पवित्रं विदुषां हि वाक् ॥”

इति । एवं सर्वत्रापि योज्यम् । अयाज्ययाजनादाबुपपातकवर्गे गोघ्न-
प्रायश्चित्तातिदेशाद् विशेषविहितैः सह विषयकल्पना कार्य्या । विशेषविहितं
चैकं तावत् स्वायंभुवे —

“एतदेव व्रतं कुर्युरुपपातकिनो द्विजाः ।

अवकीर्णिवर्जं शुद्ध्यर्थं चान्द्रायणमथापि वा ॥”

इति । अथशब्दापिशब्दाभ्यां च स्मृत्यन्तरोक्तानामुपक्षेपः । तत्र चान्द्रायणं
गोघ्नप्रायश्चित्तेन वैकल्पिकं, द्विजग्रहणात् तद्विषयमेव । यदपि योगी-
न्द्रोक्तम् —

“उपपातकशुद्धिः स्यादेवं चान्द्रायणेन वा”

इति । एवमिति गोघ्नप्रायश्चित्तानां पूर्वश्लोकविहितानामतिदेशः । चान्द्रा-
यणं च

“यथाकथञ्चित् पिण्डानां चत्वारिंशच्छतद्वयम्”

इत्येतत् प्रत्येतव्यम् । तेनैतत् सार्ववर्णिकं सर्वोपपातकेषु द्रष्टव्यम् । श-
क्त्यपेक्षयैव च “पयसा वापि मासेन”त्येतदपि विकल्पेनैव । “पराकेणापि
वा पुनरि”त्यत्र चापिशब्दात् पुनःशब्दाच्च “जातिशक्तिगुणापेक्षमि”त्ये-
तच्छ्लोकानुसारेण पुनरपीत्येवं योज्यम् । तथा चान्द्रायणेन पयसा वापि-
त्येवं व्यस्तसमस्ततयानुबन्धानुसारेण कल्पनेत्येषा दिक् । यत्र चोपपातके
विशेषविहितमास्ति, तत्र तदपि विषयव्यवस्थया स्यान्न तु विशेषविहित-

त्वात् सामान्यस्यानङ्गीकरणम्, उपपातकमध्यपाठस्यानर्थव्यप्रसङ्गात्, यथा ब्राह्मणायामुपनयनकालातिक्रमे प्राक् षोडशाद् वर्षात् पारस्कराक्त, “कालातिक्रमे नियतवदि”ति । नियतवदिदिति चाविज्ञाने प्रतिमहाध्याह्वाति तिसृभिर्होमः, सर्वाभिश्चतुर्थं सर्वप्रायश्चित्तं चेत्येतद् व्याचक्षते । तच्चैतदौ-
द्यौपनायनिककालातिक्रमे प्रायश्चित्तम् । उपनीयमानस्य तु

“त्रिष्टुभं ब्राह्मणोऽतीत्य प्राजापत्यं समाचरेत् ।

अशक्तौ पादशः कुर्यात् ततः संस्कारमईति ॥”

इति हारीतवचनात् कृतप्रायश्चित्तस्यैवोपनयनमिति गम्यते । परतस्तु षो-
डशाद् वर्षान्मानवं —

“येषां द्विजानां सावित्री नानूच्येत यथाविवि ।

तांश्चारयित्वा त्रीन् कृच्छ्रान् यथाविध्युपनाययेत् ॥”

इति । एतद् आद्वाविंशतेर्वर्षादनुपनीतस्य ब्राह्मणस्य, “पूर्वः पूर्वं उत्तरोत्तर-
कालातिक्रमेण पतती”ति शङ्खवचनात् । गौतमानुसारेण सर्वेषामयमेव
कालः “द्व्यधिकाया वैश्यस्ये”त्युक्तत्वाद्, “अतः ऊर्ध्वं पातितसावित्रीका
भवन्ती”ति वचनात् । ततः परं च वासिष्ठम् — “उद्दालकव्रतं चरेद्
द्वौ मासौ यावकेन वर्तयेद् मासं पयसा अर्धमासमामिक्षया अष्टरात्रं घृतेन
षड्रात्रमयाचितेन त्रिरात्रमम्बक्षोऽहोरात्रमुपवसेदश्वमेधावभूथं वा गच्छे-
दि”ति । यदि त्वाद्यादुपनयनकालादारभ्याष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि नोपनीत-
स्ततोऽरय ब्राह्मणस्तोमः, “यो व्रतकालमसंस्कृतोऽतिक्रामेत्, स आद्येन
यजेते”ति ब्राह्मणस्तोमोपदेशात् । ये तूपनीताः सन्तोऽनधीत्य वेदमन्यत्
किमपि कृतवन्तः, न च सन्ध्योपासनादि त्यक्तम्, अधीत्य वा यैः सन्ध्यो-
पासनाद्यौचरणे शैथिल्यं कृतं, तेऽपि त्रीणि कृच्छ्राणि प्रयत्नेन कृत्वा वेदं
पठेयुः, आचारेभुं च प्रयत्निनो भवेयुः । यथाह मनुः —

“प्रायश्चित्तं चिकीर्षन्ति विकर्मस्थास्तु ये द्विजाः ।

ब्रह्मण च परित्यक्तास्तेषामप्येतदादिशेत् ॥”

इति । गोमप्रायश्चित्तस्य चोद्दालकव्रतवैकल्पिकत्वं, चान्द्रायणस्य तु कृच्छ्र-

१. ‘मिति’ ड. च. पाठः. २. ‘तिलः । स’ ग. पाठः. ३. ‘दौप’, ४. ‘स्य
त्रि’, ५. ‘मे प’, ६. ‘मातिदे’, ७. ‘दावाचाराणे’, ८. ‘णि क’, ९. ‘षु
प्र’, १०. ‘’, ११. ‘स्य क’ ग. पाठः.

त्रयेणेति । एवमन्यान्यपि स्मृत्यन्तराण्ये व्याख्येयानि । स्तेयादिष्वप्यय-
मेव मार्गः । ग्रन्थव्याख्यायां च निपुणतो वक्ष्यामः । प्रकृतमिदानीमु-
च्यते ॥ २६२ ॥

श्रीशुद्धविद्वत्क्षत्रवधस्योपपातकमध्यपाठात् सामान्येन प्रायश्चित्तमुक्तमेव — “उपपा-
तकशुद्धि स्यादेवं चान्द्रायणेन वा” इत्यादिना । इदानीं तु तेषामेव वैशेषिकं वक्तुमाह—

ऋषभैकसहस्रा गा दद्यात् क्षत्रवधे पुमान् ।

ब्रह्महत्याव्रतं वापि वत्सरत्रितयं चरेत् ॥ २६३ ॥

वैश्यहाब्दं चरेदेतद् दद्याद्वैकशतं गवाम् ।

षण्मासाञ्छूद्रहा वापि दद्याद्वा धेनवो दश ॥ २६४ ॥

ऋषभं एकोऽधिको यासां सहस्रस्य ता ऋषभैकसहस्राः । स्पष्टम-
न्यत् । पुमानिति च शुद्रस्यैवैतत् क्षत्रियादिवधे प्रायश्चित्तमित्येवमर्थम्
अकामतश्च । यथाह मनुः—

“अकामतस्तु राजन्यं विनिपात्य द्विजोत्तमः ।

ऋषभैकसहस्रा गा दद्याच्छुद्ध्यर्थमात्मनः ॥”

इति । वृत्तस्थवधे चैतत्, “प्रमाप्य वैश्यं वृत्तस्थामे”ति ज्ञापकात् ।
नन्वेतद् ब्राह्मणस्यैव, द्विजोत्तम इति वचनात् । नायं द्विजोत्तम इति समा-
नाधिकरणः, किं तर्हि, द्विज उत्तमो यस्मैत्येवं बहुब्रूहिः प्रयेतव्यः । कुत
एतत्, अपकृष्टवधे चान्द्रायणोपदेशात् । तथाच द्वयोरेव श्लोकयोर्द्विजो-
त्तमग्रहणं कृतम्—

“एतदेव चरेदब्दं प्रायश्चित्तं द्विजोत्तमः ।

प्रमाप्य वैश्यं वृत्तस्थं दद्याद्वैकशतं गवाम् ॥”

इति । तृतीये तु

“एतदेवं व्रतं कृत्स्नं षण्मासाञ्छूद्रहा चरेत्”

इत्यत्र नैवेतदास्ते, अनुपयोगात् । पूर्वत्र तु द्विज उत्तमो यस्य शुद्रस्य,
क्षत्रियवैश्यौ वा । स यदि निःकृष्टः सन्नुत्कृष्टं हन्यात्, तदैव तत् कुर्याद्
इत्येवमर्थं तद्वचनम् । इह तु सजातीयस्य हन्तुस्तद्वचनमेवेत्यभिप्रेत्या-

वचनं युक्तं स्याद् । इतरथा त्वादावेवोक्तमधिकारादुत्तरत्रापि लभ्यत ए-
वेति पुनर्न वाच्यं, सर्वत्र वा वाच्यम् । अतो योगश्चिरोयात् पुनर्वच-
नादिह चोक्तन्यायानुसाराच्छूद्राभिप्रायेणैवैतदिति युक्तम् । अतश्चोपपा-
तकमध्यपाठोऽप्युत्कृष्टापेक्षयार्थवान् रयात् । इतरथा तु तुत्पवदुपपातक-
मध्ये, सङ्कीर्तनमबुद्धिपूर्वमिव स्यात् । एवञ्च यच्छङ्खेनोक्तं — “सर्वेषाम-
न्योन्यापकृष्टवधे चान्द्रायणमि”ति, तदपि समञ्जसं स्यात् । यदि त्ववश्यं
द्विजोत्तमवचनाद् ब्राह्मणरथैवैतदित्येवं समर्थनीयं, ततो वृत्तस्थवचनात्
कर्मप्रयोगमध्यगतयोरित्येवं व्याख्येयं, सोमयागव्यतिरिक्तेष्टिपश्चादिविष-
यत्वेन च सवनसंबन्धेन ब्रह्महत्यातिदेशात् । कर्मगतव्यतिरेकेण तुपपात-
कप्रायश्चित्तमेव । तत्राप्यकामतश्चान्द्रायणं, कामतस्तु गोघ्नप्रायश्चित्तम् ।
अनुबन्धाद्यपेक्षया च जपादिभिः प्रतिपूरणम् । अपकृष्टानां त्वकामत
एतत् । कामतस्तु—

“तुरीयो ब्रह्महत्यायाः क्षत्रियस्य वधे स्मृतः ।

वैश्येऽष्टमोऽंशो वृत्तस्थे शूद्रे ज्ञेयस्तु षोडशः ॥”

इति । अवृत्तस्थे तु संवर्तोक्तं—

“प्रमाप्य क्षत्रियं मोहात् त्रिभिः कृच्छ्रैर्विशुध्यति ।

प्राजापत्यातिकृच्छ्राभ्यां तप्तकृच्छ्रेण च क्रमात् ॥

कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ कुर्वीत स नरो वैश्यधातकः ।

शूद्रं हत्वा तु कुर्वीत कृच्छ्रं सान्तपनं तथा ॥”

इति । सोमव्यतिरिक्तक्रतुगतं त्वकामतो निकृष्टस्य सजातीयस्य वा हन्तु-
र्गौतमीयं—“राजस्यवधे षड्वर्षिकं प्राकृतं ब्रह्मचर्यम् ऋषभैकसहस्राश्च गा
दद्यात् । वैश्यवधे त्रैवार्षिकम् ऋषभैकशताश्च गा दद्यात् । शूद्रवधे तु संव-
त्सरम् ऋषभैकादशाश्च गा दद्यात्”ति । शूद्रोऽपि श्राद्धादौ प्रयोगमध्यस्थो-
यदि रयात् । कामतस्तु वासेष्टम्—“एवं राजस्यं हत्वाष्टौ वर्षाणि चरेत्
षड् वैश्यं त्रीणि शूद्रमि”ति । सवनस्थवधे तु शूद्रस्यापस्तम्बोक्तं ब्रह्मह-
त्याप्रायश्चित्तम् । सर्वत्र च जात्युत्कर्षापकर्षावालोच्य विद्वेषः कल्पनीयः ।

१. ‘नृ’ इ’ ग. पाठः. २. ‘या तुल्य’ ड. पाठः. ३. ‘व्य’ ग. ड. पाठः.
४. ‘ति’ वृ’ ड. पाठः. ५. ‘तेऽपि त्व’ ग., ‘तत्त्वेऽका’ ड. पाठः. ६. ‘क ज’
ग. पाठः. ७. ‘इये त्रै’, ८. ‘इस’ ड. पाठः.

उक्तं च—“जातिशक्तिगुणापेक्षामि”ति । शङ्खोक्तमपि गौतमीयेनैका-
र्थमनुबन्धानुसारेण योज्यं --- “चतुर्षु वर्णेषु प्रनार्यं द्वादश संवत्सरान्
षट् त्रीन् एकं तदन्ते गोसहस्रं ततोऽर्धं तस्यार्धं तदर्धं च दद्यादि”ति ।
केचित् गौतमीयं ब्राह्मणसंबन्धेनैव मन्यन्ते । पूर्वसूत्राच्च “गर्भे चाविज्ञाते
ब्राह्मणस्ये”त्यतोऽवाच्छेद्य ब्राह्मणप्रेत्युत्तरसूत्रेण योजयन्ति । ब्राह्मणस्य
राजन्यवधे षड्वार्षिकमिति । ततश्चैतदनुसारादेव मानवेऽपि द्विजोत्तमव-
चनं विस्पष्टमेव ब्राह्मणविवक्षयोपपन्नं स्यात् । तत्त्विदं नातीव युक्तम् ।
एवं हि प्रत्युतानिष्ठमापद्येत, ब्राह्मणवध एव राजन्यकर्तृके षड्वार्षिकव्रतप्र-
सङ्गात् । न च ब्राह्मणस्येत्येतत् कर्तृविशेषणम्, “उभयप्राप्तौ कर्मणि”
इति नियमात् । तैतश्च ब्राह्मणस्य कर्मत्वापत्तेरानिष्ठप्रसङ्गः । अत एवोस-
हायप्रभृतिभिर्गर्भे चाविज्ञाते ब्राह्मणस्येत्येव व्याख्यातम् । अनो यथोक्तैव
विषयकल्पना । तथाचाम्नायः — “तरशाद्यद्यपि राजा परमर्तौ गच्छति”-
त्युपक्रम्य “वध एनं हिनास्ति स्वां योनिमृच्छति स पापीयान् भवति यथा
श्रेयांसं हिंसित्वे”ति निकृष्टेन श्रेयसो वधं सिद्धवद् दृष्टान्तत्वेन दोषवत्तया
दर्शयति । तथाच वाक्पारुष्ये स्वायंभुवं—

“शतं ब्राह्मणमाकुर्व्य क्षत्रियो दण्डमर्हति ।

वैश्योऽप्यर्धं शते द्वे वा शूद्रस्तु वधमर्हति ॥”

इत्यनेन निकृष्टानां यथोक्तैर्दोषातिरेकमाह । तथा—

“पञ्चाशदं ब्राह्मणो दण्ड्यः क्षत्रियस्याभिशंसने ।

वैश्यस्य चार्धपञ्चाशच्छूद्रे द्वादशको दमः ॥”

इति यथापकर्षमपकर्षः । तथा —

“एकजातेद्विजाते तु वाचा दारुण्या वदन् ।

जिह्वायाः प्राप्नुयाच्छेदं जघन्यप्रभवो हि सः ॥”

इति हेतुवन्निगदेनापकृष्टानामुत्कृष्टहिंसां गुर्वीमाह । एवमन्यान्यपि दण्ड-
पारुष्यादिषु वचनान्यनुसरणीयानि ॥ २६३ ॥

१ ‘प्य सद्वा’, २ ‘स्य चेत्ये’, ३. ‘अ’ ड. पाठः ४. ‘व च
स’, ५. ‘तं’, ६. ‘च्छेदित्यु’ ग. पाठः.

इदानीमुपपातकमध्यपाठान् स्त्रीवधस्य तदुक्तप्रायश्चित्तप्राप्तौ सत्या कचिदपवादः

माह —

दुर्वृत्तब्राह्मणक्षत्रविद्लूद्रस्त्रीप्रमापणे ।

दतिं धनुर्वस्तमविं क्रमाद् दद्याद् विशुद्ध्यते ॥ २६४ ॥

दुर्वृत्तां ब्राह्मणादिसंबन्धिनीं स्त्रियं हत्वा क्रमशो इत्यादीनि दे-
यानि । दतिरुदकोद्धारणार्थः कुरुणः । वस्तो युवा छागः । स्पष्टमन्यत् ।
दुर्वृत्तस्त्रीप्रमापणं च राज्ञ एव विहितम् । यथाह मनुः संग्रहणाधिकारे—

“भर्तारं लङ्घयेद् या तु ज्ञातिस्त्रीगुणदर्पिता ।

तां श्वभेः खादयेद् राजा संस्थाने बहुसंस्थिते ॥”

इति । गौतमे तु प्रायश्चित्ताधिकार एवोक्तं — “श्वभेः खादयेद्राजा नि-
हीनवर्णगमने स्त्रियं प्रकाशं पुमांसं घातयेदे”ति । अतः राज्ञ एवैतत्
प्रायश्चित्तं नेतरस्य । ननु राज्ञो विहितानुष्ठानात् प्रायश्चित्तमथुक्तम् । युक्तं
च, यथैव साक्षिणामनृताभिधाने

“वाग्देवत्यैश्च चरुभर्यजेरंस्ते सरस्वतीम्”

इत्यत्र । एतस्मादेव प्रायश्चित्ताभिधानाज्ज्ञायते स्त्रीवधस्यात्यन्तमकर्त-
व्यता । तथाचाम्नायोऽपि— “नचै वै स्त्रियं धनन्ती”ति । अत एव स्वा-
यंभुवे —

“बालघ्नांश्च कृतघ्नांश्च विशुद्धानपि धर्मतः ।

शरणागतहन्तृंश्च स्त्रीहन्तृंश्च न संपिबेत् ॥”

इति । अतश्च कामकृते स्त्रीवधे प्रायश्चित्ताभाव एव । अकामतस्तु कथ-
ञ्चिद् दैवादापन्ने स्त्रीस्वरूपापेक्षया कत्वर्थाद्यपेक्षया हन्तृगतानुबन्धोपेक्षया
च प्रायश्चित्तानि योज्यानि । केचित्तु भर्तुरव्यवस्थितस्त्रीवधे इत्यादिदानं
मन्यन्ते । अन्ये तु सार्वत्रिकमेव । तत् पुनर्विचार्यम् ॥ २६४ ॥

एवं तावद् व्यभिचारिण्यां इत्यादिदानमुक्त्वा इदानीम् अव्यभिचारिण्यामाह —

अप्रदुष्टां स्त्रियं हत्वा शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ।

अस्थन्वतां सहस्रं च तथानस्थिमतामनः ॥ २६५ ॥

१. ‘गर्विता’ ग. पाठः २. ‘मेन प्रा’ ग च पाठः ३. ‘ज्ञानुष्ठानम्’ ग. पाठः.
४. ‘तौ वदेशाज्ज्ञा’ ग. च. पाठः ५. ‘चित्’ ग. पाठः ६. ‘ह’ ग. क. पाठः ७. ‘या ह’
ग. पाठः.

अप्रदुष्टामव्यभिचारिणीं स्त्रियमकामतः कथञ्चिद्धत्वा शूद्रहत्याव्रतं^१ चरेत् । व्रतचरणोपदेशश्च “दद्याद् वा धेनवो दश” इत्यर्थं व्यावृत्त्यर्थो^२ व्याख्येयः । एतच्चापशदस्त्रीविषयमेव,

“निकृष्टजां तु निर्जातामुत्कृष्टायां च मातरि ।

अदुष्टां योषितं हत्वा षण्मासानेतदाचरेत् ॥”

इति बृहस्पतिवचनात् । एतच्छब्देन च तत्र पूर्वश्लोकाच्छूद्रहत्याव्रतं सांवत्सरिकमुक्तम् । इतरासु तु वासिष्ठम् “अनात्रेयीं राजन्यहिंसायां राजन्यां वैश्यहिंसायां वैश्यां शूद्रहिंसायां शूद्रां हत्वा संवत्सरमि”ति । गौतमीयमपि शूद्रायामनात्रेय्यैमेवात्यन्तगुणवत्यां वधे द्रष्टव्यम्, “अनात्रेय्यां चैवमि”ति वासिष्ठानुसारात् । यत्तु मानवं — “कृत्वा च स्त्रीसुहृद्वधमि”ति, तदाङ्गिरसवचनाद्

“आहिताग्नेर्द्विजाग्न्यरय हत्वा पत्नीमनिन्दिताम् ।

ब्रह्महत्याव्रतं कुर्यादात्रेयीघ्नस्तथैव च ॥”

इत्येतद्विषयमेव । शातातपोक्तं तु याज्ञवल्कीयेन वैकल्पिकम् । “स्त्रीघाती षण्मासान् कृच्छ्रमाचरेदि”ति शङ्खोक्तस्य गौतमीयेन समानविषयत्वम् । “स्त्रीणां वधे शूद्रहत्याव्रतमादिशेदि”ति गुणातिशयापेक्षया योज्यम् । प्रवृत्तासु त्वनिभ्यन्ते व्यभिचारेऽनुबन्धविशेषापेक्षयोपपातकप्रायश्चित्तानि योज्यानि । स्मृत्यन्तराण्यप्यनेनैव मार्गेण व्याख्येयानि, यथा स्त्रीवधे कृच्छ्रत्रयं सुमन्तुनोक्तम् । यथा चाङ्गिरसे —

“अनाहिताग्निपत्नीनां तथा विदक्षत्रयोषिताम् ।

गोघातकव्रतं कुर्याच्छूद्राणां चैव नित्यशः ॥”

इति । संवर्ते तु —

“स्त्रियं प्रमापयेद् यस्तु तप्तकृच्छ्रं समाचरेत्”

इति । एवमन्यान्यपि मानसवाचेकादिव्यभिचारालोचनया योज्यानि ।

एवं श्लोकपूर्वार्धेन

“अप्रदुष्टां स्त्रियं हत्वा शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥”

१. ‘न्य’ ग. पाठः. २. ‘धे’, १ ‘यम्’ ग. ड. च. पाठः. ४. ‘कृच्छ्रम्’, ५. ‘व्यामत्य’ ग. पाठः. ६. ‘ति त’ क. ड. पाठः. ७. ‘च्छ्रं च’, ८. ‘स्त्रिनोक्त’ च. पाठः.

इत्युक्तवोत्तराधेन

“अस्थन्वतां सहस्रं च तथानस्थिमतामनः ।”

इत्येतदेव शूद्रहत्याव्रतमुक्तम् । येषां सास्थिकानां प्राणिनां वैशेषिकं नोक्तं, तेषां सहस्रं हत्वा पाण्मासिकं शूद्रहत्याव्रतं कार्यम् । यानि चानस्थिकानि पिपीलिकादीनि, तेषां च यावन्त्यनसा शवयन्ते वोढुं द्वाभ्यां बलीवदाभ्यां मध्यमाभ्यां, तावत्परिमाणे स्यात् । “अनश्चामनडुद्भार” इति गौतमस्मरणादनोगत एवानडुद्भारो गृह्यते, “पूर्णे चानस्यनश्चामि”ति मनुवचनात् । एतच्च यान्यर्हिसकानि सन्ति व्यापयन्ते अनादिष्टविशेषणानि च, तद्विषयं द्रष्टव्यं,

“योऽर्हिसकानि भूतानि हिनस्यात्मसुखेच्छया ।

म जीवंश्च मृतश्चैव न कश्चित् सुखमेधते ॥”

इति मनुवचनात् । यानि तु हिंसास्वभावानि यूकमशकजलूकादीनि, तेषां यथासामर्थ्यमपनीयमानानां यदि वधोऽपि स्यात् तथाप्यदोष एव । कामतस्तु यूकादिष्वप्यस्त्येव दोषः । तथा यान्यप्यस्थिमन्त्यादिष्टप्रायश्चित्तानि च, नित्योपद्रवकारिणश्च सर्पमूषिकप्रभृतयः, तदपनयनार्थं च मार्जारादिसंग्रहादिप्रकारेण वपो निर्दोष एव । यानि च सम्मार्जनोपलेपनधान्यसंस्कारादिना हन्यन्ते, यानि चेन्धनाद्यनुप्रावेष्टानि मणिकादिषु च, तत्राप्यदोष एव, वधे कर्मसाधनत्वेन शरीरधारणाङ्गत्वेन च प्रवृत्तेः । येषां कामभोगैर्मात्रनिबन्धनैव प्रवृत्तिस्तेषां तत्राप्यस्त्येव दोषः । ब्रूतेतत् “पञ्च सूना गृहस्थस्य” इत्यत्र स्वायंभुवो प्रदर्शितम् । सहस्रग्रहणमनोग्रहणं चात्र भूयस्त्वोपलक्षणार्थं न नियमार्थम्, अर्वागूर्ध्वं च प्रायश्चित्तान्तरानुपदेशाद्, हन्यमानानां च समुच्चयोपादाने हेत्वभावाद् इत्येवादिक् ॥ २६५ ॥

एवं तावत् सामान्येनोक्तमाधुना केषाञ्चिद् वैशेषिकाग्रहाद् —

मार्जारगोधानकुलनण्डूकश्चपतत्रिणः ।

हत्वा त्र्यहं पिबेत् क्षीरं कृच्छ्रं वा पादिकं चरेत् ॥२६६॥

स्वायंभुवे तु काकोलूकचाषाणामेव विशेषोपदेशः । सोऽपि च क्रतुर्व्यविषयतया पक्षिमात्रोपलक्षणार्थो व्याख्येयः, अथापि नियमार्थः । तथो

१. ‘त्वा शू’, २. ‘तान्यर्हिसकस्वभावा’ ग. पाठः. ३. ‘देन’ड. च. पाठः.
४. ‘गलि’ ग. पाठः. ५. ‘पक्षित’ क. ड. पाठः. ६. ‘च भू’ ग. च. पाठः. ७.
‘चापि क’ ड. च. पाठः.

क्रत्वर्थवध एवेति व्याख्यातमेतत् । इह त्वक्रत्वर्थ एव त्रिरात्रं पयोभक्षता
पादकृच्छ्रं वेति व्याख्येयम् । मानवेऽपि च —

“मार्जारनकुलौ हत्वा चाषं मण्डूकमेव च ।

श्वगोधोलूककाकांश्च शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥”

इत्युक्त्वानन्तरमेवोक्तं —

“पयः पिबेत् त्रिरात्रं वा योजनं वाध्वनो व्रजेत् ।

उपस्पृशेत् स्रवन्त्यां वा सूक्तं वाऽद्वैतं जपेत् ॥”

इति । न चैषां शूद्रहत्याव्रतेन वैकल्पिकत्वं युज्यते । अतो यथोक्तैव
विषयकल्पना । अत्रापि च स्नानाध्वगमने क्षत्रियवैश्ययोः, जपस्तु ब्राह्मण-
स्यैव, “जप्येनैव तु संसिध्येद् ब्राह्मण” इति वचनात् । पयःपानपादकृच्छ्रे
तु शूद्रस्य । तथा च व्यासः —

“अनादिष्टव्रतादेशे शूद्रं तपसि योजयेत् ।

राजन्यवैश्यौ संस्कारे ब्राह्मणं जपकर्मणि ॥”

इति । तथा —

“यज्ञार्थप्राणिर्हिंसायां क्षुद्रजन्तुवधेष्वपि ।

पापकृत्यां वदन्त्युग्रां यज्ञाद्धि जगतः स्थितिः ॥”

इति । एवं स्मृत्यन्तराण्यपि व्याख्येयानि । यथाहाङ्गिराः —

“गजे व्याघ्रे च तुरगे खड्गे कृष्णमृगे वृके ।

सिंहे शुनि वराहे च मयूरे पक्षिणामपि ॥

चाषे भासे च शीघ्रे च टिट्ठिभे खञ्जरीटके ।

यथा शूद्रे तथा वध्या भगवानङ्गिराब्रवीत् ॥”

इति । केचित्तु ‘यथा गवि तथे’त्येवं पठन्ति । सृगालोऽपि मयूर उच्यते,

“मयूर्मयूरो गोमायुः सृगालश्चेति शब्दितः”

इति नामरत्नमालावचनात् । तेनोक्तं मयूरे पक्षिणामपीति । अपिशब्दात्
सृगालोऽपीत्यर्थः । शीघ्रः श्येनः । स्पष्टमन्यत् । यानि त्वतोऽत्यल्पतराणि,
तान्यक्रत्वर्थानां प्राणिनामकामवधे व्याख्येयानि । यथा पाराशरे —

“हंसं ससारसं क्रौञ्चं चक्रवाकं सकुक्कुटम् ।

हत्वा मेषमयूरं च शुध्यते नक्तभोजनात् ॥”

तथा —

“चाषं भासं कपोतं वा शारिकां तित्तिरिं तथा ।
अन्तर्जले उभे सन्ध्ये प्राणायामेन शुध्यति ॥”

तथा —

“गृध्रं श्येनं श्वाविडं च कपोतोलूकघातने ।
अपक्वाशी दिनं तिष्ठेद् विलाले मारुताशनः ॥
हत्वा नकुलमण्डूकसर्पाजगरडुण्डुभान् ।
कृसरं भोजयेद् विप्रं लोहदण्डश्च दक्षिणा ॥”

इति । तथा स्मृत्यन्तरेष्वप्युच्चावचान्युदाहृत्यानेनैव मार्गेण योज्यानि ।
यथा वासिष्ठे — “श्वमार्जारनकुलदहरमूषिकान् हत्वा कृच्छ्रं द्वादशरात्रं
चरेत् । किञ्चिच्च दद्यादि”ति । एतत् क्रत्वर्थहिंसायामेव कामतः, इतरत्र
वा गुरुतरानुबन्धे योज्यम् ॥ २६६ ॥

एवं तावद् मार्जारादीनां प्रायश्चित्तमुक्तम् । इदानीमन्येषां क्रत्वर्थानामेव वधे आह—

गजे नीला वृषाः पञ्च शुके वत्सो द्विहायनः ।

खराजमेषेषु वृषो देयः क्रौञ्चे त्रिहायनः ॥ २६७ ॥

मानवेनाभिन्नार्थत्वात् तत्र च प्राधान्येन क्रत्वर्थहिंसाया एवाधि-
कृतत्वात् “निपात्य वैश्यं वृत्तस्थम्” इति वृत्तस्थशब्दस्य यज्ञस्थवचन-
त्वादेतदपि तद्विषयतयैव व्याख्येयम् । स्पष्टमन्यत् ॥ २६७ ॥

हत्वा श्येनकपिक्रव्याज्जलस्थलशिखण्डिनः ।

भासं च हत्वा दद्याद् गामक्रव्यादेषु वत्सिकाम् ॥ २६८ ॥

क्रव्यं भांसमुच्यते, तद् भक्षयन्ति ये, ते क्रव्यादाः । ते च केचिज्जले
बकादयः, केचित् स्थले, गृध्रादयः । शिखण्डी मयूरः । स्पष्टमन्यत् ॥ २६८ ॥

उरगेष्वायसो दण्डः पण्डके त्रपुमाषकः ।

कोले घृतघटो देय उष्ट्रे गुञ्जा हयैऽञ्जुकम् ॥ २६९ ॥

उरगेष्विति बहुवचनं ङुण्डभादीनामपि ग्रहणार्थम् । पण्डकः षण्डः ।
कोलः सूकरः । गुञ्जा कृष्णलः । हयो घोटाः । अंशुकं वस्त्रम् । सर्वत्र

प्रायश्चित्तप्रकरणे वचनाद् विना न परिग्रहकृतः कश्चिद् विशेष इत्येतद् गोवध एव व्याख्यातम् । केचित्तु पण्डकमुरगाधिकाराद् गोनसमाहुः । तत्रापि हि स्मरन्ति पलालभारम् ॥ २६९ ॥

तित्तिरौ तु तिलद्रोणं गजादीनामशक्नुवन् ।

दानं दातुं चरेत् कृच्छ्रमेकैकस्य विशुद्ध्यै ॥ २७० ॥

तित्तिरिप्रकारेषु सर्वेषु कपिञ्जलकृकरलावकादिषु तिलद्रोण एकै-
कस्य वधे देयः ‘गजे नीला वृषाः पञ्च’ इत्येतस्मादारभ्य तित्तिरिपर्य-
न्तानां वधे यथोक्तदानाशक्तौ प्राजापत्यं प्रत्येकं चरेत् । केचित्त्वत एव
ज्ञापकात् सर्वत्र हिंसाप्रकरणे दानस्य प्राथमकल्पिकत्वं मन्यन्ते । तत्
त्वयुक्तं, त्रपुमाषकार्ये वृषपञ्चकार्ये चाविशेषेण कृच्छ्रदर्शनात् । न च तत्
समुचितानाम्, एकैकस्येति वीप्सोपादानवैयर्थ्यात् । अतः शास्त्रस्यामी-
मांस्यत्वाद् गजादिष्वेव दानप्राधान्यम्, अन्यत्र तु तपस एवेति स्थितम् ।
तथाचाह मनुः —

“महापातकिनश्चैव शेषाश्चाकार्यकारिणः ।

तपसैव सुतप्तेन मुच्यन्ते किल्बिषात् ततः ॥”

इति । एवकारश्च प्राथमकल्पिकत्वं सर्वपापेषु तपसः स्पष्टयति । तथा —

“दानेन वधनिर्णेकं सर्पादीनामशक्नुवन् ।

एकैकशश्चरेत् कृच्छ्रं प्राजापत्यं विशुद्ध्यै ॥”

इति । अत्रापि सर्पादीनामेव दानाशक्तौ तपः कार्यम्, अन्यत्र तु तपस एवा-
शक्तौ दानमिति । सर्वत्र च प्रायश्चित्तप्रकरणे यस्य तु दानं चोदितं तद-
नौपचारिकं द्रष्टव्यम् ॥ २७० ॥

सर्वत्रैव त्वनुक्तनिष्कल्यर्थे —

किञ्चित् सास्थिवधे देयं प्राणायामस्त्वनस्थिके ।

वृक्षगुल्मलतावीरुच्छेदने जप्यमुक्छतम् ॥ २७१ ॥

किञ्चिदित्यविशेषाभिधानादत्यन्तनिर्कृष्टं भिक्षामात्रदानं प्रत्येतव्यम् ।
अनुबन्धापेक्षया चातिरेककल्पना । स्पष्टमन्यत् ॥ २७१ ॥

१. ‘व’ स’ ग. च. पाठः. २. ‘दातव्य’ ड. च. पाठः. ३. ‘क्कु’ च. पाठः.
४. ‘कर्तव्य’ ग. च. पाठः.

एवं नावन् कर्तृत्वेन कारयितृत्वेन वा यत्र पापप्रसङ्गः, तत्र प्रायश्चित्तान्युक्तानि । अधुना यत्रान्यकर्तृकेऽपि व्यापारे कर्मादिभावमापन्नस्य पापोत्पत्तिः प्रायश्चित्तं च, तद् वक्तुमाह —

पुंश्चलीवानरखरैर्दष्टश्चैव श्ववायसैः ।

प्राणायामाञ्ज जले कृत्वा घृतं प्राश्य विशुध्यति ॥२७२॥

पुंश्चली गणिका, विप्लुता योषिदित्यन्ये । वानरादयः प्रसिद्धाः । चशब्दान्नखादिविलिखितस्याप्येतदेव प्रायश्चित्तम् । एवकाराच्चैकैकशः समुच्चितेऽपीति गम्यते । प्राणायामानिति बहुवचनं शरीरप्रदेशापेक्षया त्रिप्रभृतिशतपर्यन्तेष्वविशेषेण व्याख्येयम् । तथाच शङ्खः—“नरवायसखरवानरश्चपुंश्चलीभिर्दष्टः समुद्रगां नदीं गत्वा प्राणायामशतं कृत्वा घृतप्राशनेन शुध्यती”ति । अत्र चानादिष्टप्रायश्चित्तानां शरीरप्रदेशापेक्षयैव विषयकल्पना । सर्वत्रैव च यत्र समन्त्रकं प्रायश्चित्तमाप्नातं, तत्र स्त्रीशूद्रयोरपि तदेवामन्त्रकं प्रत्येतव्यम् ॥ २७२ ॥

फलपुष्पान्नरसजसत्त्वघाते घृताशनः ।

स्यादोषधिवृथाच्छेदे क्षीराशी गोनुंगो दिनम् ॥ २७३ ॥

बदरौदुम्बरादिफलेषु कृमिमशकादीनि सत्त्वानि, तथा पुष्पेषु अन्ने चामे पक्के वा काञ्जिकादिषु रसेष्वन्येष्वप्येवंप्रकारेषु । घृताशी घृतेनैवैकरात्रवृत्तिः । एवं व्रीह्याद्योषधीनां वृथाच्छेदने च क्षीरव्रतो गवामेकदिनमनुगमनं कुर्यात् ॥ २७३ ॥

सुप्तस्य जाग्रतो वा यद् रेतः स्कन्देत्, तत्र शौचमकृत्स्नम् —

यन्मेऽद्य रेत इत्याभ्यां स्कन्नं रेतोऽभिमन्त्र्य वा ।

स्तनान्तरं भ्रुवोर्वापि तेनानामिकया स्पृशते ॥ २७४ ॥

वाशब्दः स्पर्शनानुमन्त्रणयोर्विकल्पार्थः । “यन्मेऽद्य रेतः पृथिवीमस्कात्” “पुनर्ममैत्विन्द्रियमि”त्येताभ्यां शतपथाधीताभ्यामृग्भ्यामनुमन्त्र्य तेनानामिकया कनिष्ठामध्यमयोरन्तरेण स्तनौ भ्रुवौ विनिमार्जयेत्, न चान्यच्छौचं कर्तव्यम् । अत्र च श्लोके स्पृशानभिधानं छन्दोनुरोधात् । यत्तु स्मृत्यन्तरे शौचोपदेशः, स मन्त्रानधिकृतस्यानभिज्ञस्य वा प्रत्येतव्यः ॥ २७४ ॥

मयि तेज इतिच्छायां स्वां दृष्ट्वाम्बुगतां जपेत् ।

गायत्रीमशुचौ दृष्टे चापलेऽथानृतेऽपि च ॥ २७५ ॥

“मयि तेज” इत्येतद् यजुः शतपथाम्नातं ब्राह्मणस्वरेणैव जप्यम् ।
स्पष्टमन्यत् ॥ २७५ ॥

उपपातकिमध्येऽवकीर्णिनोऽपि पाठात् प्रायश्चित्तान्तरं वक्तुमाह—

अवकीर्णी भवेद् गत्वा ब्रह्मचारी तु योधितम् ।

गर्दभं पशुमालभ्य नैर्ऋतं स विशुध्यति ॥ २७६ ॥

उपकुर्वाणो नैष्ठिको वा ब्रह्मचारी स्व्यभिगमनादवकीर्णीत्युच्यते ।
स च निर्ऋतिं गर्दभेनैवा स्मृत्यन्तरोक्तं च तच्चर्मणा प्रावृतो व्रतं चरित्वा
विशुध्यति । गर्दभं पशुमालभ्येत्येतत् कृत्स्नप्रयोगनिवृत्त्यभिप्रायेणैव व्या-
ख्येयम् ॥ २७६ ॥

ब्रह्मचार्येव—

भैक्षग्निकार्ये त्यक्त्वा तु सप्तरात्रमनातुरः ।

कामावकीर्ण इत्येवं हुत्वाज्येनाहुतिद्वयम् ॥ २७७ ॥

उपस्थानं ततः कुर्यात् सं मा सिञ्चेत्यनेन तु ।

“कामावकीर्णोऽस्मि”, “कामाभिद्रुग्धोऽस्मि” इत्याभ्यामाज्याहु-
तिद्वयं पाकयज्ञविधानेन हुत्वा “सं मा सिञ्चन्तु मरुतः” इत्येतया तैत्ति-
रीयकाम्नातैर्यर्चा सूर्यमुपस्थाय शुध्यति । अर्वाक् तु सप्तरात्रात्

“संध्यां यदि च नोपास्ते समिधो वापि नाहिताः ।

गायत्रीमापरं कालं जपन्नेनो व्यपोहति ॥”

इत्येवमादि स्मृत्यन्तरोक्तं द्रष्टव्यम् । इदं तु ब्रह्मचारिवनस्थपरिव्राजकाना-
माविशेषेणैव प्रायश्चित्तम् ॥

मधुमांसाशने कार्यः कृच्छ्रः शेषव्रतानि च ॥ २७८ ॥

यथाह मनुः—

“व्रतचारी तु योऽश्नीयान्मधु मांसं कथञ्चन ।

स कृत्वा प्राकृतं कृच्छ्रं व्रतशेषं समापयेत् ॥”

१. ‘याम्ना’ च. पाठः. २. ‘तकय’ ई. पाठः. ३. ‘षं’ ग. पाठः.
४. ‘तथाचाह’ ग. इ. पाठः.

इति । व्रतशेषं तु प्रायश्चित्तकालातिरेकेण समापनीयम् । प्राकृतं कृच्छ्रं प्राजापत्यमेव । स्पष्टमन्यत् ॥ २७८ ॥

गुरुश्च यदि स्वकार्येण ब्रह्मचारिणं क्वचिन् प्रेषयेत्, तस्य च प्रवासोचितं मरणं स्यात् । तत —

कृच्छ्रत्रयं गुरुः कुर्यान्म्रियेत प्रहितो यदि ।

एतच्चान्यस्मिन्नपि वेतनाद्यपेक्षिण्याज्ञाकरे द्रष्टव्यम् ॥

गिष्यस्तु शक्त सन्नाज्ञातिक्रममन्यद् वा उपघातकान्तरारम्भ —

प्रतिकूलं गुरोः कृत्वा तं प्रसाद्य विशुध्यति ॥ २७९ ॥

स्मृत्यन्तराच्च सचेलं स्नात्वेति । गुरुग्रहणं चात्र सर्वमान्योपलक्षणत्वेन व्याख्येयम् ॥ २७९ ॥

एवं तर्हि प्रेषितव्यापत्तिवद् भेषजादिदानेऽपि व्यापत्तां दोष स्यादित्याशङ्कामपाक-
तुमाह —

औषधान्नप्रदानाद्यैर्भिषग्योगाद्युपक्रमैः ।

क्रियमाणोपकारे तु मृते विप्रे न पातकम् ॥ २८० ॥

विपाके गोवृषादीनां भैषज्याग्निक्रियासु च ।

सर्वाङ्गयन्त्रितस्यातुरस्य भिषग्भिर्वैद्यैर्द्ये छेदनदाह्यादियोगा अने-
कधा क्रियन्ते, ते भिषग्योगाः । भावशुद्ध्या क्रियमाणोपकारे ब्राह्मणे मृते
वैद्यपरिचारकचिकित्साकारयितृणां स्नेहादिभिश्च प्रभूतस्निग्धाद्यन्नदातृणां
च निर्दोषत्वम् । तथा गोवृषादीनां भैषज्याग्निदाहादिनिमित्तके विपाके
सञ्जाते तन्निमित्तके वा मृत्यौ निर्दोषत्वम् । विप्रगोग्रहणं चोपलक्षणा-
र्थम् ॥ २८० ॥

भैषज्यान्नप्रदानादिप्रभवेऽपि मृत्यौ यदि दौष्ट्यात् पाण्डित्याभिमानाद् वा दोष-
वत्तामारोप्य ब्रह्महा गोघ्नो वायमित्येवं —

महापापोपपापाभ्यां योऽभिशंसेन्मृषा परम् ।

अब्भक्षो मासमासीत् स जापी नियतेन्द्रियः ॥ २८१ ॥

परग्रहणं यदि कश्चिच्छुभालुतयात्मानं दोषवत्तयाभिशस्य परिषदि
निवेदयेद्, न तस्य दोष इति ज्ञापनार्थम् । अपे चाविशेषितेऽपि शुद्ध-

वस्येव । यथाह वसिष्ठः — “ब्राह्मणमनृतेनाभिषस्य पतनीयेनोपपतनीयेन वा मासमम्भक्षः शुद्धवतीरावर्तयेदि”ति । अत्र चाविशेषाभिधानेऽपि निमित्तवैषम्यान्महापतनीयाभिषंसने यथोक्तम् । उपपतनीये तु नियतेन्द्रियो जपन्नासीतेति व्याख्येयम् । स्पष्टमन्यत् ॥ २८१३ ॥

अभिषंसकमन्योक्तम् । यस्त्वसावभिषस्तः, सः—

अभिषस्तो मृषा कृच्छ्रं चरेदाम्नेयमेव वा ।

निर्वपेत् पुरोडाशं वाग्रव्यं पशुमेव वा ॥ २८२१ ॥

पुरोडाशपश्चोराहिताग्निविषयत्वं निमित्तानुरूप्येण व्याख्येयम् । कृच्छ्रं त्वन्येषाम् । इदं चाभिषस्तस्य गेहदाहादिष्विव नैमित्तिकं, न तु दोषनिर्घातार्थं, दोषे प्रमाणाभावात् । जन्मान्तरीयदोषानुमानकल्पना तु शरीरोपादानादेवाग्निहोत्रादिष्वप्यविशिष्टा । यत्तु वासिष्ठम् — “एतेनाभिषस्तो व्याख्यात” इति, तद् यत्र कश्चित् कञ्चिदुद्दिश्यन्यायेन गृहीतस्वः स्वयं प्राणास्त्यजति, तद्विषयं व्याख्येयं, नहि तत्रानृताभिषस्त इति विशेषणोपादानं यतः । इदं त्वभिषस्तो मृषा कृच्छ्रमिति विशेषितत्वाद् यथोक्तैव व्यवस्थां ॥ २८२३ ॥

अनियुक्तो भ्रातृजायां गच्छंश्चान्द्रायणं चरेत् ।

त्रिरात्रान्ते घृतं प्राश्य गत्वोदक्यां विशुध्यति ॥ २८३३ ॥

नियुक्ताद् योऽन्यः सोऽनियुक्तः । न चान्यः कश्चित् तथाविधोऽस्ति । अतो नियोगकालाद्वतुकाललक्षणादन्यदा स एवानियुक्तः प्रत्येतव्यः । भ्रातृजाया च ब्राह्मणस्यापि क्षत्रिया भवत्येव । अन्यस्यां तु सोदर्यभ्रातृजायायां गुरुतल्पप्रायश्चित्तमेव । उदक्यां तु त्रिरात्रान्ते चतुर्थेऽहनि गत्वा घृतप्राशनम् । अन्ये तूदक्यागमने त्रिरात्रोपोषितस्त्रिरात्रान्ते घृतं प्राश्य विशुध्यतीत्येवं व्याचक्षते । तत् त्वयुक्तं, रजस्वलागमने सान्तपन्नस्य मनुनोक्तत्वादिहापि रजस्वलासुखास्वादोपलक्षितस्याभिगमनस्यैव सुरापानसाम्योपदेशात् । अतो यथोक्तैव व्याख्या ज्यायसी ॥ २८३३ ॥

इदानीं श्रद्धादन्यस्माद् वा पापकारिणः प्रतिग्रहे प्रायश्चित्तमाह—

मोष्ठे वसन् ब्रह्मचारी मासमेकं पयोव्रतः ।

गायत्रीजापनिरतो मुच्यतेऽसत्प्रतिग्रहात् ॥ २८४३ ॥

असतः शूद्रादेरप्रतिग्राह्यस्य वाभिश्स्तादेर्यः प्रतिग्रहः सोऽसत्प्रतिग्रहः । गायत्रीजापनिरतत्वं चान्वहं त्रिसाहस्रो जपः । स्पष्टमन्यत् । तथाच मानवं —

“जप्त्वा तु त्रीणि सावित्र्याः सहस्राणि समाहितः ।

मासं गोष्ठे पयः पीत्वा मुच्यतेऽसत्प्रतिग्रहात् ॥”

इति । प्रत्यहं च त्रिसाहस्रो जपः पयोव्रतत्वं चेति ॥ २८४ ॥

इदानीं ब्राह्मणानकम्प्यं भिन्नं प्रत्यक्षिनमाह —

त्रीन् कृच्छ्रानाचरेद् ब्राह्मणार्जकोऽभिचरन्नपि ।

वेदेष्वपि यथाश्चरत् तथैव च शरणागतम् ॥ २८५ ॥

विशुष्यतीति शेषः । अपिशब्दाद् यश्चाभिचरतो याजकः । यवान्नभोजनं यवाशिता । स्पष्टमन्यत् ॥ २८५ ॥

प्राणायामांश्चरेत् स्नात्वा खरयानोष्ट्रयानगः ।

नमः स्नात्वा च सुप्त्वा च गत्वा चैव दिवा स्त्रियम् ॥ २८६ ॥

खरैर्युक्तं यानं खरयानं, तथैवोष्ट्रैर्युक्तमुष्ट्रयानम् । प्राणायामास्त्रयः । अनुबन्धाभ्यासाद्यपेक्षया तदभ्यासकल्पना । स्पष्टमन्यत् ॥ २८६ ॥

गुरुं त्वङ्कृत्य हुङ्कृत्य विप्रं निर्जित्य वादतः ।

हत्वावबध्य वा क्षिप्रं प्रसाद्योपवसेद् दिनम् ॥ २८७ ॥

गुरुं पित्रादिकं मान्यं त्वमित्येवंप्रकारं मानरहितमाभाष्य, ब्राह्मणं वा निरपराधिनं हुङ्कारादिना निर्भर्त्स्य वा, विवादे वा लौकिके विनिर्जित्य क्रोधातिशयाद्वा परिभवमात्रकरणाय हस्तादिना हत्वा अवबध्य वा वस्त्राद्याकर्षणादिना, क्षिप्रं प्रसाद्य नक्तं भुञ्जीत उपवसेद् वा । अनुबन्धाद्यपेक्षया त्वभोजनाभ्यासः ॥ २८७ ॥

यदि तु वधबुद्धयैत्र क्रोधाद् ब्राह्मणाय दण्डोद्यमनादि कुर्यात्, ततः—

विप्रदण्डोद्यमे कृच्छ्रस्त्वतिकृच्छ्रो निपातने ।

कृच्छ्रातिकृच्छ्रोऽसूत्रपाते कृच्छ्रोऽभ्यन्तरशोणिते ॥ २८८ ॥

“कृच्छ्रातिकृच्छ्रः पयसा दिवसानेकविंशतिम्”

इति वक्ष्यमाणः । यद्वा कृच्छ्रसहितोऽतिकृच्छ्रः कृच्छ्रातिकृच्छ्रः । स्पष्टमन्यत् ॥ २८८ ॥

सर्वत्रैव प्रायश्चित्तप्रकरणेऽधिकार्यपेक्षयैव—

देशं कालं वयः शक्तिं पापं चावेक्ष्य यत्नतः ।

प्रायश्चित्तं प्रकल्प्यं स्याद् यत्र चोक्ता न निष्कृतिः ॥

सर्वथाधिकृतसामर्थ्याद्यपेक्षया गुरूणां लघूनां च प्रायश्चित्तानां विषयकल्पनं, न तु प्रकारान्तरेणेत्यभिप्रायः । यत्र च निन्दार्थवादादिना लोकव्यवहारप्रातिलोभ्येन वा दोषवत्ता ज्ञाता, न च प्रायश्चित्तं विशेषतः किञ्चिदाम्नातं, तत्र स्मृत्यन्तरोपदिष्टानां जपादीनामेवाधिकृतसामर्थ्यानुगुण्येन प्रायश्चित्तकल्पना । स्पष्टमन्यत् ॥ २८९ ॥

एवं तावदुक्तनिष्कृतीनामनुक्तनिष्कृतीनां च प्रायश्चित्तावगमप्रकार उक्तः । यदि तु कश्चिन्नास्तिक्यान् प्रायश्चित्तं कुर्यात्, स च पश्चात्पुन्य भूयोभूयः परित्याज्य एव । तस्य च तथाविधस्य नास्तिक्यातिशयाद् दुरात्मनः पतितस्योदकच्छेदमनेन प्रकारेण कर्तुं—

दासीघटमपां पूर्णं निनयेरन् स्वबान्धवाः ।

पतितस्य बहिष्कुर्युः सर्वकार्येषु चैव तम् ॥ २९० ॥

दासीगृहात् तदीयानामेवापां पूर्णं घटमानीय बहिर्ग्रामाद् दक्षिणां दिशं निष्क्रम्य सर्वज्ञातिगुरुशिष्यत्विक्समक्षं सपिण्डसमानोदकाः पदा विपर्यस्यानवेक्षमाणा गृहानेत्य एकरात्रं क्षपयेयुः । सर्वकार्येषु च दृष्टादृष्ट-निबन्धनेषु तं बहिष्कुर्युः । तथाचाह मनुः—

“पतितस्योदकं छेद्यं सपिण्डैर्बान्धवैर्बहिः ।

निन्दितेऽहनि सायाहे शिष्यत्विगुरुसंनिधौ ॥”

इत्यादि ॥ २९० ॥

यद्वा त्यक्तोऽसौ पश्चात्तापात् प्रायश्चित्तं करोति, ततस्तदा तस्मिन्—

चरितव्रत आयाते निनयेरन् नवं घटम् ।

जुगुप्सेयुर्न चाप्येनं संपिबेयुश्च सर्वशः ॥ २९१ ॥

स्पष्टार्थः श्लोकः । तथाच मनुः—

“चरितव्रत आयाते पूर्णं कुम्भमपां नवम् ।

१. 'व्य', २. 'दं बहिर्ग्राभाजिन' ग. पाठ ३. 'शि' ड. पाठः. ४. 'ज्ञात्यृ-
त्वि' ग. पाठः.

तेनैव सार्धं प्राप्सेयुः स्नात्वा पुण्ये जलाशये ॥”
इत्यादि ॥ २९१ ॥

यश्चैष घटापवर्जनादिको विधिरुक्तः पतितानाम् —

एष एव विधिः स्त्रीणां पतितानां प्रकीर्तितः ।

वासो गृहान्तिके देयः अन्नं वासः सरक्षणम् ॥ २९२ ॥

स्त्रीणां पतितानां प्रायश्चित्तमकुर्वतीनामेष एव घटापवर्जनविधिः प्रकर्षेण मन्वादिभिः कीर्तितो विद्महेतः । अयं तु विशेषः — यदा ताः प्रायश्चित्तानुष्ठाने प्रवर्तन्ते, तदा तासां स्वगृहसमीपे निवास आवश्यकः देयः, अन्नं च भोजनं प्रायश्चित्तानुगुण्येन देयं, वासश्च परिव्रजनं सह रक्षणेन, इति । तथाच स्वायंभुवम् —

“एष एव विधिः कार्यो योषित्सु पतितास्वपि ।

वस्त्रान्नमासां देयं तु वसेयुश्च गृहान्तिके ॥”

इति । विशेषपतनीयेषु परित्याग एवेत्येवमर्थः पूर्वव्राम्नातस्यापि पुनः पाठः ॥ २९२ ॥

नीचाभिगमनं गर्भपातनं भर्तृहिंसनम् ।

विशेषपतनीयानि स्त्रीणामेतान्यपि ध्रुवम् ॥ २९३ ॥

अपिशब्दः स्त्रीणामपीत्येवं योज्यं, न मृदुहृदयता कार्या कथं स्त्रियः परित्यज्यन्त इति । एतानि हि स्त्रीणामपि ध्रुवं निश्चितं विशेषपतनीयानि परित्यागकारणानीत्यभिप्रायः ॥ २९३ ॥

यथैव च नीचाभिगमनादिषु स्त्रीणामालम्बिकः परित्यागः, तथैव च —

शरणागतबालस्त्रीहिंसकान् संपिबेन्न तु ।

चीर्णव्रतानपि सतः कृतघ्नसहितानिमान् ॥ २९४ ॥

न चैतन्निन्दार्थं वचनम्, असंख्यवहार्या एव शरणागतादेहन्तार-स्त्रीर्णप्रायाश्चित्ता अपीत्येवमर्थत्वादुपदेशस्य । प्रायश्चित्तोपदेशास्तु जन्मान्तरे निर्दोषा एवेत्यवसेयम् ॥ २९४ ॥

न केवलं शरणागतहन्त्रादयोऽसंव्यवहार्याः, अन्येऽपि । येषां घटापवर्जनं कृतं, तेऽपि हि कृतप्रायश्चित्ताः पुनर्नवे घटेऽप्यु प्रक्षिप्तेऽपि गोभिरमत्कृता असंव्यवहार्या इत्येतद् दर्शयितुमाह —

घटेऽपवर्जिते ज्ञातिमध्यस्थः प्रथमं गवाम् ।

प्रदद्याद् यवसं गोभिः सत्कृतस्य सहक्रिया ॥ २९५ ॥

कार्येति शेषः । गोभिर्यवसभक्षणं गोसत्कारः । स्पष्टमन्यत् ॥ २९५ ॥

एवं तावत् प्रख्यातपापानां प्रायश्चित्तान्यभिभाषाधुना रहस्यप्रायश्चित्तानि प्रस्तोतुमाह —

विख्यातदोषः कुर्वीत पर्षदानुमतं व्रतम् ।

अनविख्यातदोषस्तु रहस्यं व्रतमाचरेत् ॥ २९६ ॥

तथाचाह मनुः —

“एतैर्द्विजातयः शोभ्या व्रतैराविष्कृतैः ।

अनाविष्कृतपापास्तु मन्त्रैर्होमैश्च शोधनैः ॥”

इति । द्विजातयोऽप्याविष्कृतैः परिषदा प्रायश्चित्तार्थं कृतोपसदनाः शोभ्याः । ये त्वनाविष्कृतैः द्विजातयः श्रुतिस्मृत्यर्थतत्त्वज्ञाश्च, ते परिषदनिवेधैव वक्ष्यमाणैरघमर्षणादिमन्त्रजपैः शाकलादिभिश्च होमैः शोधनार्थमुपदिष्टैः स्वयमेवात्मानं शोधयेयुरित्यभिप्रायः । अविदुषामद्विजातीनां चानाविष्कृतैः सामप्युपरितनः श्लोकारम्भो मानव एव ---

“ख्यापनेनानुतापेन तपसाध्ययनेन च ।

पापकृन्मुच्यते पापात् तथा दानेन चापदि ॥”

इति । रहस्यं व्रतं पार्श्वस्थैरप्यविदितं धर्मव्याजादिना कर्तव्यम् । यत्तु स्मृत्यन्तरं —

“धर्मव्याजेन यो मोहात् प्रायश्चित्तं समाचरेत् ।

न तस्य तेन शुद्धिः स्यादेनस्वी चाधिकं भवेत् ॥”

इति, तदाविष्कृतपापविषयं द्रष्टव्यम् । न चात्रैतच्चोद्यं — किमित्यनाविष्कृतैः सामप्यं प्रायश्चित्तमिति । अमीमांस्यत्वाच्छास्त्रस्य । वेदोक्तयैव च तस्यैव साम्बन्धाभावात् । तथाच “वेदाभ्यासरतं क्षान्तमि”त्यादि वक्ष्य-

त्येव । आत्मशुद्धिप्रधानत्वाच्च प्रवृत्तेर्युक्तमेव प्रायश्चित्ताल्पत्वम् । रहस्यप्रका-
रश्च लोकतः । विद्वानविद्वत्संनिधौ प्रकाशमपि पापं कृत्वा स्वयमेव वेत्ति,
इतरे त्वनेन पापं कृतमित्येवं न जानन्ति, तत् प्रकाशकृतमपि रहस्यमेव ।
एवं देशकालादिनिमित्तेनाप्यपरिज्ञानेन रहस्यता योज्या ॥ २९६ ॥

एवं रहस्यप्रायश्चित्तानां विषयमुक्त्वाधुना तान्युपदिशति —

त्रिरात्रोपोषितो जप्त्वा ब्रह्महा त्वघमर्षणम् ।

अन्तर्जले विशुध्येत दत्त्वा गां च पयस्विनीम् ॥ २९७ ॥

त्रिरात्रमुपोष्यान्तर्जले निमग्नोऽघमर्षणं जप्त्वा गां च पयस्विनीं
ब्राह्मणाय दत्त्वा विशुध्यतीत्येवं योजना । अन्ये तु त्रिरात्रोपोषितोऽन्तर्ज-
लेऽघमर्षणं जप्त्वा विशुध्येत, गां च पयस्विनीं दत्त्वा विशुध्येत, इत्येवं
प्रायश्चित्तद्वयं वर्णयन्ति । तथाच सति पूर्वं चतुर्णामप्याश्रमाणां प्रायश्चि-
त्तम्, उत्तरं तु दानाधिकृतानामेवेति महाविषयतापि शास्त्रस्याभ्युच्चयाय
स्यात् । तथाच स्वयंभुवा दानरहितमेव त्रिरात्रोपोषितस्याघमर्षणं जप्य-
मुक्तं —

“अहं तूपवसेद्युक्तश्चिरहोऽभ्यवयन्नपः ।

मुच्यते पातकैः सर्वैर्जप्त्वा त्रिरघमर्षणम् ॥”

इति । अतो भेदकल्पनापि युक्तैव ॥ २९७ ॥

साग्निकस्य तु ब्राह्मणवधे पूर्ववैकल्पिकत्वेन प्रायश्चित्तान्तरमाह —

लोमभ्यः स्वाहेति हि वा दिवसं मारुताशनः ।

जले सुप्त्वाभिजुहुयाच्चत्वारिंशद्घृताहुतीः ॥ २९८ ॥

दिवसं मारुताशन इत्युदकपानप्रतिषेधार्थम् । अन्यत्राप्येवं व्या-
ख्येयम् । जले सुप्त्वेति रात्रिमुदके तिष्ठेदित्यर्थः । ततः पाकयज्ञविधानेनौ-
पासने लोमभ्यः स्वाहेत्यादिभिः शुक्रियाधीतैश्चत्वारिंशदाज्याहुतीर्जुहु-
यात् ॥ २९८ ॥

सुरापस्वर्णहारिणोस्तु —

त्रिरात्रोपोषितो हुत्वा कूटमाण्डीभिर्घृतं शुचिः ।

सुरापः स्वर्णहारी तु रुद्रजापो जले स्थितः ॥ २९९ ॥

प्रायश्चित्ताध्याये प्रायश्चित्तप्रकरणं पञ्चमम् ।

१७३

कूशमाण्डीभिः “यद्देवा देवहेडनम्” इत्येवमाद्याभिस्तैत्तिरीयाम्ना-
ताभिस्त्रिरात्रोपोषितः सुरापः पूर्ववद् घृतं हुत्वा शुचिः स्यात् । स्वर्णहारी तु
त्रिरात्रोपोषित एव नाभिमात्रे जले तिष्ठन् रुद्रं जपञ् शुचिरिति योज्यम् ।
तथाच भारद्वाजः—

“नाभिदघ्नोदकस्थस्तु रुद्रं ध्यायन् समाहितः ।

त्रिरात्रोपोषितो जप्त्वा स्वर्णहारी विशुध्यति ॥”

इति ॥ २९९ ॥

त्रिरात्रोपोषित एव पूर्ववत् —

सहस्रशीर्षा(दि)जापाच्छुध्येत गुरुतल्पगः ।

गौर्देया कर्मणश्चान्ते पृथगेभिः पयस्विनी ॥ ३०० ॥

“सहस्रशीर्षा पुरुष” इतीमं षोडशर्चं जप्त्वा गुरुतल्पगः शुध्येत् ।
एभिश्च “लोमभ्यः स्वाहे”त्यारभ्य पुरुषसूक्तजपान्तकर्माधिकृतैर्होमकर्मणो
जपकर्मणश्चान्ते ब्राह्मणाय पयस्विनी गौर्देया पृथक् चैकैकपातकोद्देशेन ।
होमाद्यनधिकृतैरपि त्रिरात्रमुपोष्य गौर्देया । सर्वत्र च रहस्यप्रकरणे न का-
मकृतौघपेक्षया विषयव्यवस्था कल्पनीया । स्वरुचिवैकाल्येकत्वेनैव तु व्य-
वस्था सामर्थ्यकृता वा, यथा होमचोदनास्वप्नमताम् । प्रकाशप्रायश्चित्तानां
तु विषयव्यवस्था प्रदर्शितैव । रहस्येषु त्वात्मतुष्टिरेव ज्ञानाग्निदग्धकल्मषस्य
शुद्धिकारणम् । तथाच रहस्यैवैव स्वयंभुवाभिहितं—

“यस्मिन् कर्मण्यस्य कृते मनसः स्यादलाघवम् ।

तस्मिंस्तावत् तपः कुर्याद् यावत् तुष्टिकरं भवेत् ॥”

इति । आत्मतुष्टेरेव गुरुलघुत्वोपादाने व्यवस्थाहेतुत्वमुक्तम् । इतरत्र तु
परिषच्छास्त्रोपदिष्टं गुरुलघुत्वाद्यालोच्योपदिशेद्, नतु तत्रात्मतुष्टेर्व्यवस्था-
हेतुत्वम् ॥ ३०० ॥

एवं चतुर्णां महापातकानामुक्तम् । तत्संसर्गे तु —

प्राणायामशतं कुर्यात् सर्वपापापनुत्तये ।

उपपातकजातानामनिर्दिष्टस्य चैव हि ॥ ३०१ ॥

१ ‘जे का’, २. ‘ताकामकृताय’, ३. ‘या न वि’, ४. ‘ष्टिर्ज्ञाना’ ग. पाठः.
५. ‘था र’ च. पाठः. ६. ‘न’ ग. पाठः. ७. ‘कारणत्व’ ग. च. पाठः.

सर्वपापापनुत्तये इत्यविशेषाभिधानेऽपि प्रक्रमानुसारात् सर्वैर्महापा-
तकिभिर्यत् संसर्गानिमित्तं पापं, तदपनुत्तये इत्येवं व्याख्येयम् । न केवलं
संसर्गजानां सर्वपापानाम्, उपपातकजातानामप्येतदेव प्रायश्चित्तम् । अनि-
दिष्टप्रायश्चित्तान्तराणामप्येतदेवाते योज्यम् ॥ ३०१ ॥

ओङ्काराभिषुतं सोमसलिलं पावनं पिबेत् ।

कृतोपवसनं रेतोविण्मूत्रप्राशने द्विजः ॥ ३०२ ॥

अहोरात्रमुपोऽप्यपरेद्युरेङ्कारेण सोममभिषुत्य पावनेन तीर्थोदकेन
ततस्तदोङ्काराभिज्ञातं सोमसलिलं पावनं पिबेदिति योज्यम् । स्पष्टम् यत् ।
द्विजग्रहणं ब्राह्मणार्थम्, इतरयोः सोमपानप्रतिषेधात् । अद्विजातेर्वा रहस्य-
प्रायश्चित्तानाधेकारज्ञापनार्थम् ॥ ३०२ ॥

यत्तु कर्त्रा स्त्रियमायसञ्चेतितं, तच्छास्त्रीयध्रौतस्मार्तैर्निवृत्तकर्मनुष्ठातॄणां नैव दोषार-
म्भकं भवतीत्येव प्रपञ्चयितुमाह —

निशायां वा दिवा वापि यदज्ञानकृत् त्वघम् ।

त्रिष्कालसन्ध्याकरणात् तत् सर्वं विप्रणश्यति ॥

कृतव्याख्यानः श्लोकः ॥ ३०३ ॥

शुक्रियारण्यकजपो गायत्र्याश्च सहस्रशः ।

सर्वपापहरः प्रोक्तो रुद्रैकादशिनी तथा ॥ ३०४ ॥

आदिष्टप्रायश्चित्तान्तराणामनादिष्टप्रायश्चित्तानां सर्वेषां महापातका-
दीनां रहस्यानां शुक्रियो जप आरण्यको वा सकृत्कृत एव प्रायश्चित्तम् ।
गायत्र्यास्तु सहस्रकृत्वः । रुद्राध्यायस्य चैकादशकृत्वः । आरण्यकं ब्रा-
ह्मणम् । शुक्रिया मन्त्राः ॥ ३०४ ॥

सर्वत्र च रहस्ये प्रायश्चित्ते कृतेऽपि —

यत्र यत्र च संकीर्णमात्मानं मन्यते द्विजः ।

तत्र तत्र तिलैर्होमः सावित्र्या जप एव वा ॥ ३०५ ॥

कार्य इति शेषः । द्विजग्रहणमुक्तार्थम् ॥ ३०५ ॥

रहस्यानि वा प्रकाशानि वा यान्यविज्ञानानि तानि —

वेदाभ्यासरतं क्षान्तं पञ्चयज्ञक्रियारतम् ।

न स्पृशन्तीह पापानि महापातकजान्यपि ॥ ३०६ ॥

स्पष्टार्थः श्लोकः ॥ ३०६ ॥

यश्चैव वेदाभ्यासरतः, स रहस्यं प्रकाशं वा कथञ्चिदकामकृतं -

वायुभक्षो दिवा तिष्ठन् रात्रिं नीत्वाप्सु सूर्यदृक् ।

जप्त्वा सहस्रं गायत्र्याः शुध्येद् ब्रह्मवधादृते ॥ ३०७ ॥

यत्तु विदुषः प्रायश्चित्तभूयस्त्वं, तत् कामकृतप्रकाशावेषयं द्रष्टव्यम् ।
वायुभक्षवचनमुदकपानप्रातेषेवार्थम् । तिष्ठन् रात्रिं नीत्वेति च योज्यम् ।
स्पष्टमन्यत् ॥ ३०७ ॥

रहस्याधिकृतानां सर्वप्रायश्चित्तान्वाचयत्वेन —

ब्रह्मचर्यं दया क्षान्तिर्ध्यानं सत्यमकल्कता ।

अहिंसास्तेयमद्रोहो दमश्चैते यमाः स्मृताः ॥ ३०८ ॥

प्रकाशप्रायश्चित्ताधिकृतानामप्यविरोधादेते यमाः प्रत्येतव्याः ॥

पूर्ववदेव —

स्नानमौनोपवासेज्यास्वाध्यायोपस्थनिग्रहाः ।

नियमा गुरुशुश्रूषा शौचाक्रोधप्रदातृताः ॥ ३०९ ॥

ब्रह्मचर्यं यथाशास्त्रं मैथुनप्रसङ्गः । उपस्थानेग्रहः स्नानभिलाष इति
विवेकः । प्रदातृता तु प्रक्षेपेण दानशालता । स्पष्टमन्यत् ॥ ३०९ ॥

अधुना सर्वपापक्षपणार्थान्यभ्युदयसाधनानि च यानि सान्त्वनदीनि तेषामि तत्र
तत्र च प्रायश्चित्तार्थमुपदिष्टानि, तेषां स्वरूपं वक्तुमाह —

पञ्चगव्यं तु गोक्षीरं दाधि मूत्रं शकृद् घृतम् ।

पीत्वा परेधूपवसेत् कृच्छ्रं सान्तपनं चरन् ॥ ३१० ॥

पञ्चगव्यवचनमत्रातुक्तकुशोदकान्वितं च यथा स्यादित्येवमर्थम् ।
गोक्षीरमिति त्वाचिरदुग्धोपादानार्थम् । भोजनाय चैतत् प्राशनं, नादृष्टाय ।

कृच्छ्रमिति कृच्छ्रधर्मप्राप्त्यर्थम् । तथाच हारीतः — “धारोष्णं तु गव्यं पयो दधिशकृन्मूत्रघृतानि च मन्त्रपूतान्येककालं भुक्त्वा परेद्युरूपवसेत् स सान्तपन इति ॥ ३१० ॥

एतैरेव क्षीरादिभिः —

पृथक् सान्तपनद्रव्यैः षडहः सोपवासकः ।

सप्ताहेन तु कृच्छ्रोऽयं महासान्तपनः स्मृतः ॥ ३११ ॥

पृथक् सान्तपनद्रव्यैः क्षीरादिभिः कुशोदकान्तैः षडहान्येककालं भोजनं कार्यम् । कुशोदकं च कुशकौथितमुदकं सर्वत्र प्रत्येतव्यम् । स्पष्ट-
मन्यत् ॥ ३११ ॥

पर्णोदुम्बरराजीवबिल्वपत्रकुशोदकैः ।

प्रत्येकं प्रत्यहाभ्यस्तैः पर्णकृच्छ्र उदाहृतः ॥

पर्णः पलाशः । राजीवं पद्मिनी । स्पष्टमन्यत् । पलाशादिपत्र-
कथितेनोदकेन पञ्चरात्रं वर्तितव्यमित्यर्थः । यद्यपि च पर्णकृच्छ्रस्य कचिद्
विनियोगो नोक्तः, तथाप्यनादेशे पापशुद्धत्वापेक्षया प्रत्येतव्यः । अभ्युदय-
साधनत्वं तु वक्ष्यत्येव ॥ ३१२ ॥

तप्तक्षीरघृताम्बूनामेकैकं प्रत्यहं पिबेत् ।

एकरात्रोपवासश्च तप्तकृच्छ्र उदाहृतः ॥ ३१३ ॥

स्मृत्यन्तरे तु — “पयो घृतमुदकं वायुं प्रत्यहं तप्तानि, स कृच्छ्र”
इत्युक्तम् । तत्र व्याख्यातारो वायोरप्युष्णस्य पानं वर्णयन्ति । तत् पुन-
र्विचार्यम् । इह तूपवासवचनाद् वायूपादानं तत्रोपवासप्रतिपत्त्यर्थं, न
तप्तानीत्यनेन सम्बन्धयितुमिति व्याख्येयम् ॥ ३१३ ॥

एकभक्तेन नक्तेन तथैवायाचितेन च ।

उपवासेन चैकेन पादकृच्छ्रः प्रकीर्तितः ॥ ३१४ ॥

प्राजापत्यस्य चायं तृतीये भागे पादकृच्छ्रशब्दः प्रयुक्तः । पर्णकृ-
च्छ्रादिष्वप्यप्रयेवानुसर्तव्यः । स्पष्टमन्यत् ॥ ३१४ ॥

१. ‘दूष’ ड. पाठः. २. ‘कृ’ ग. पाठः. ३. ‘त्याज्योप’ ड. च. पाठः. ४. ‘य’
प. पाठः.

यथाकथञ्चित् त्रिगुणः प्राजापत्योऽयमुच्यते ।

अयमेवातिकृच्छ्रः स्यात् पाणिपूरान्नभोजिनः ॥ ३१५ ॥

यथाकथञ्चिदित्येकभक्तादिक्रमस्याविवक्षार्थम् । एतदपि पर्णकृच्छ्रा-
दिष्वप्युक्तं द्रष्टव्यम् । एष्वेव प्राजापत्यार्थेषु भोजनकालेषु पाणिपूरान्न-
भोजिनः कर्तुरयमेवातिकृच्छ्रसंज्ञः प्रत्येतव्यः । पाणिः पूर्यते यावताग्नेन
तत् पाणिपूरान्नं, तद् भुङ्क्ते यः स पाणिपूरान्नभोजी । भोजनाधिकाराच्च
भोजनार्थं यावत् सकृदादीयते, तावत् प्रत्येतव्यम् । तथाचाह मनुः—
“एकैकं ग्रासमश्रीयात्” इति ॥ ३१५ ॥

कृच्छ्रातिकृच्छ्रः पयसा दिवसानेकविंशतिम् ।

द्वादशाहोपवासेन पराकः परिकीर्तितः ॥ ३१६ ॥

एकविंशतिरात्रं पयोव्रतता कृच्छ्रातिकृच्छ्रः । द्वादशरात्रमभोजनं
पराकः । अत्र च पादादिभागभावः ॥ ३१६ ॥

पिण्याकाचामतक्राम्बुसक्तूनां प्रतिवासरम् ।

एकैकमुपवासश्च कृच्छ्रः सौम्योऽयमुच्यते ॥ ३१७ ॥

पिण्याकः खलः । आचाम ओदनास्त्रावणं, मण्ड इति यावत् ।
तक्रं मथितम् । अम्बुसक्तव उदकसक्तवः । एषामेकैकेन प्रत्यहम् ।
पञ्चमेऽह्न्युपवास इत्येष सौम्यो नाम कृच्छ्रः । सोमस्यार्घिमिति सौम्यः ।
एवं प्राजापत्यादिष्वप्यार्षेयनिमित्तैवाख्या प्रत्येतव्या ॥ ३१७ ॥

अ एते पिण्याकादयः—

एषां त्रिरात्रमभ्यासादेकैकस्य यथाक्रमम् ।

तुलापुरुष इत्येष ज्ञेयः पञ्चदशाह्निकः ॥ ३१८ ॥

तुलापुरुषसंज्ञा महापातकादिभिः पापैर्युक्तः पुरुषोऽग्नेन तपसा
तुलितः पापेभ्योऽधिकतया धर्म एवावतिष्ठते इत्येवमर्था । स्पष्टमन्यत् ॥

तिथिवृद्ध्याचरेत् पिण्डाञ् शुक्ले शिख्यण्डसंमितान् ।

एकैकं द्वासेत् पिण्डान् कृष्णे चान्द्रायणं चरन् ॥

तिथिवृद्धेति । शुक्लपक्षादौ प्रतिपत्प्रभृति ग्रासोपचयेन पाणमासा
वावदाचरेद्, अक्षीयादित्यर्थः । ततः प्रतिपद्यपि पञ्चदशैव ग्रासान् भुक्त्वा
द्वितीयाप्रभृत्येकैकं ग्रासं कृष्णपक्षे हासयेत् । एतद्यवमध्यं चान्द्रायणम् ।
स्पष्टमन्यत् ॥ ३१९ ॥

यथाकथञ्चित्पिण्डानां चत्वारिंशच्छतद्वयम् ।

मासेनैवोपभुञ्जीत चान्द्रायणमथापरम् ॥ ३२० ॥

यथाकथञ्चिदिति “पिपीलिकामध्यतया अष्टमासेन शिशुचान्द्रायण-
प्रकारेण वे”ति स्मृत्यन्तरोक्तचान्द्रायणप्रकारोपसंग्रहणार्थम् । चत्वारिंश-
च्छतद्वयमिति यवमध्येषु प्रतिपद्यपि पञ्चदशग्रासप्राप्त्यर्थम्, चान्द्रायणम-
थापरमिति । वाशब्दाध्याहारेण अथवान्य एवायं चान्द्रायणप्रकारोप-
देश इत्यर्थः ॥ ३२० ॥

यान्येतानि सान्तपनादीनि कृच्छ्राण्युक्तानि, एषामेकैकं—

कुर्यात् त्रिषवणस्नानी कृच्छ्रं चान्द्रायणं तथा ।

पवित्राणि जपेत् पिण्डं गायत्र्या चाभिमन्त्रयेत् ॥

निगदोक्तः श्लोकः ॥ ३२१ ॥

अनादिष्टेषु पापेषु शुद्धिश्चान्द्रायणेन तु ।

धर्मार्थं यश्चरेदेतच्चन्द्रस्योति सलोकताम् ॥ ३२२ ॥

यानि परिषदा नादिश्यन्ते, तान्यनादिष्टानि, रहस्यानीत्यर्थः ।
प्रायश्चित्तान्तरं वा येष्वनादिष्टं तान्यनादिष्टानि । यस्तु निर्दोष एव धर्मार्थं
चान्द्रायणं चरेत्, स चन्द्रस्य सलोकतामेति । (यथा?) चन्द्रमण्डले
स्वर्गोपभोगं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ३२२ ॥

यस्त्वनमिसन्धाय फलमात्मसंस्कारार्थं कुर्यात् —

कृच्छ्रकृद् धर्मकामस्तु महतीं श्रियमश्नुते ।

यथागुरु क्रतुफलं प्राप्नोति च न संशयः ॥ ३२३ ॥

कृच्छ्रशब्दोऽत्र चान्द्रायणस्यापि ग्राहकः । कृच्छ्रकृच्चान्द्रायणकृद्वा
धर्मकामश्चोदितानुष्ठानमात्रार्थी न फलमिच्छतीत्यर्थः । महती श्रीर्देवया-

नेन मार्गेणैन्द्र उपभोगः । यथागुर्विति । अलेन सान्तपनादिनात्यस्य
क्रतोः, तथा गुरुणा पराकचान्द्रायणादिना गुरुतरस्य क्रतोर्यत् फलं, तत्
प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ३२३ ॥

य एते “यस्मिन् देशे मृगः कृष्ण” इत्यारभ्य “यथागुरु क्रतुफलं प्राप्नोति च न
संशयः” इत्येवमन्ता याज्ञवल्क्येनोपदिष्टाः —

श्रुत्वैतानृषयो धर्मान् याज्ञवल्क्येन भाषितान् ।

इदमूचुर्महात्मानो योगीन्द्रममितौजसम् ॥ ३२४ ॥

य इदं धारयिष्यन्ति धर्मशास्त्रमतन्द्रिताः ।

इह लोके यशः प्राप्य ते यास्यन्ति त्रिविष्टपम् ॥ ३२५ ॥

किञ्च —

विद्यार्थी चाप्नुयाद् विद्यां धनकामो धनानि च ।

आयुष्कामस्तथैवायुः श्रीकामो महतीं श्रियम् ॥ ३२६ ॥

तथा —

ऋग्वेदत्रयमपि ह्यस्माद् यः श्राद्धे श्रावयिष्यति ।

पितॄणां तत्र तृप्तिः स्यादानन्त्याय न संशयः ॥ ३२७ ॥

किञ्च —

ब्राह्मणः पात्रतां याति क्षत्रियो विजयी भवेत् ।

वैश्यश्च धान्यधनवानस्य शास्त्रस्य धारणात् ॥ ३२८ ॥

ग्रन्थतोऽर्थतश्चेति शेषः ॥ ३२८ ॥

इदं बान्यत् —

य इदं श्रावयेद् विप्रान् द्विजः पर्वसु संयतः ।

अश्वमेधफलं तस्य तद् भवाननुमन्यताम् ॥ ३२९ ॥

स्पष्टार्थः श्लोकेः ॥ ३२९ ॥

यदेतन्मुनिभिः प्रार्थितं —

श्रुत्वैतद् याज्ञवल्क्यस्तु प्रीतात्मा मुनिभाषितम् ।

एवमस्त्विति होवाच नमस्कृत्वा स्वयंभुवे ॥ ३३० ॥

इदमिदं चास्त्विति मुनिभिः प्रार्थितोपन्यासो मुनीनां धर्मोपदेशे कृते परितोषज्ञापनार्थतयास्य धर्मशास्त्रस्याविचिकित्सं प्रामाण्यप्रतिपत्त्यर्थं, याज्ञवल्क्यस्य चैवमेवास्त्विति प्रीतात्मनः प्रतिवचनं सम्यगोर्मिर्मदुक्तं धर्मशास्त्रमवधृतं, भविष्यति अस्माद् धर्मशास्त्राद् वर्णिनामाश्रमिणां नैःश्रेयसमित्युपदेशसाफल्यप्रतिपत्त्यर्थं, ब्राह्मणाश्च परिषद्भरणेनावस्थिता यद् ब्रूयुरिदमेवमस्त्विति, तत् तथैव स्यादिति ब्राह्मणवचनस्य धर्मप्रमाणताप्रतिपत्त्यर्थं, गुरुसन्निधौ च न शिष्यैः स्वातन्त्र्येण धर्मावधारणं गुर्वननुमतेः कौर्यमित्येवं सदाचारपरिपालनार्थम् । नमस्कृत्वा स्वयंभुव इति । मन्वे नमस्कृत्वेत्यर्थः । एतच्चाचारपरिपालनार्थम् । नद्यागमिकेऽर्थे गुरुमन्ये पूज्य स्वातन्त्र्येण किञ्चिद् वक्तव्यमित्यभिप्रायः । मानवैश्चायं सर्वोऽर्थः स्मार्त इत्येतदपि तन्नमस्कारेणैव स्पष्टीकृतम् । ततश्च वेदविरोधवन्मनुविरोधेऽपि स्मृत्यन्तराणामप्रामाण्यम् । स्मृत्यन्तरानुसारेणैव मानवेऽपि सन्दिग्धार्थनिर्णयः, मानवीय एवार्थः स्मृत्यन्तरेऽपि यस्मात् । अतः सूक्तं—“नमस्कृत्वा स्वयंभुवे” इति ॥ ३३० ॥

लब्ध्वा रहस्यानि सुदुर्लभानि यजुंषि शुक्लानि विवस्वतो यः ।

स्वर्गापवर्गावकरोत् प्रकाशौ जयत्यसौ ब्रह्मविदेकहंसः ॥

प्रज्ञापराधादिह यद् दुरुक्तं नोक्तं च तत् सर्वमनाकुलिम्ना ।

कृपालुभिः सम्यगमत्सरेण विवेचनीयं स्वमतिप्रभावात् ॥

इति परमभट्टारकयोगीन्द्रप्रणीते धर्मशास्त्रे

विश्वरूपकृतविवरणबालक्रीडायां

तृतीयोऽध्यायः ॥

समाप्तश्चायं ग्रन्थः ।

शुभं भूयात् ।

१ 'स्य शा', २. 'वैजु', ३ 'स्कारं कृत्वे', ४. 'वीयशा' ड. पाठः.
५. 'तु ॥ प' च. पाठः. ६. 'रयो' ड. पाठः. ७. 'संहितायां वि' च. पाठः.

ग्रन्थान्तरोपात्तवाक्यानि ।

| शृङ्ख | वाक्यं | ग्रन्थनाम | कर्तृनाम |
|-------|-------------------------------------|---------------|-----------|
| १ | 'एतद्वै परमं तपो—' | स्वायम्भुवम् | पारस्करः |
| २ | 'ऊनद्विवार्षिकं प्रेतं—' | | |
| ३ | 'नात्रिवर्षस्य कर्तव्या—' | स्वायम्भुवम् | शङ्खः |
| ४ | 'द्विवर्षे प्रेते मातापित्रो—' | | |
| ५ | 'वृणामकृतचौलानाम्—' | स्मृत्यन्तरम् | पारस्करः |
| ६ | 'निवृत्तचौलकानां तु—' | | |
| ७ | 'दक्षिणामुखा अपोऽवतीर्य—' | स्वायम्भुवम् | पराशरः |
| ८ | 'जन्मनाग्नोरवेदने' | | |
| ९ | 'प्रेतात्र लाहि' | स्वायम्भुवम् | वसिष्ठः |
| १० | 'प्रेतस्पृशो भ्रातं न प्रविशेयुरा—' | | |
| ११ | 'अनाथ ब्राह्मणं प्रेतं—' | स्वायम्भुवम् | वसिष्ठः |
| १२ | 'नाशौचं सूतके पुंसः—' | | |
| १३ | 'जन्ममरणयोस्तुल्योपनिपात—' | स्वायम्भुवम् | स्वयम्भूः |
| १४ | 'गर्भपतने सपिण्डानां—' | | |
| १५ | 'यद्यु भ्रा मारयिष्यति यज्ञं—' | स्वायम्भुवम् | पराशरः |
| १६ | 'सर्वेषां शावमाशौचं—' | | |
| १७ | 'आपो हि द्वा' | स्वायम्भुवम् | गौतमः |
| १८ | 'दशाहं शावमाशौचम्' | | |
| १९ | 'आ वा सञ्चयनादस्त्राम्' | स्वायम्भुवम् | वसिष्ठः |
| २० | 'अथ ह्येकाहमेव वा' | | |
| २१ | 'ब्राह्मणस्य त्रिरात्रं तु—' | स्वायम्भुवम् | पराशरः |
| २२ | 'शावमाशौचं दशरात्रं—' | | |
| २३ | 'ब्राह्मणो दशरात्रेण—' | स्वायम्भुवम् | गौतमः |
| २४ | 'एकाहान्छुष्यते विप्रो—' | | |
| २५ | 'व्याधितस्य कर्दयस्य—' | स्वायम्भुवम् | दक्षः |
| २६ | 'एकाहान्छुष्यते विप्रः' | | |
| २७ | 'नामधारकविप्राणां—' | स्वायम्भुवम् | पराशरः |
| २८ | 'दन्ते जातेऽनुजाते च—' | | |
| २९ | 'पिण्डनिवृत्तिः सप्तमे—' | स्वायम्भुवम् | पराशरः |
| ३० | 'पिण्डकरणे प्रथमः—' | | |
| ३१ | 'निवर्तते चतुर्थे' | स्वायम्भुवम् | पराशरः |
| ३२ | | | |

| पृष्ठं | वाक्यं | ग्रन्थनाम | कर्तृनाम |
|--------|---------------------------------|--------------|----------|
| १३ | 'सम्पर्केषु निवृत्तानां—' | | पराशरः |
| " | 'पिण्डस्तवावर्तते त्रिषु' | | शङ्खः |
| " | 'एकपिण्डा पृथक्शौचाः' | | |
| " | 'मृते सूते तु दासानां—' | | |
| " | 'वर्णानामानुलोम्येन—' | | |
| " | 'राज्ञां च कार्यविरोधात्' | | गौतमः |
| १४ | 'सूतकं मातुरेव स्यात्' | | |
| " | 'निरस्य तु पुमान्छुल्ल—' | | |
| " | 'वैजिकादभिसम्बन्धात्—' | | |
| " | 'अप्रौढायां तु कन्यायां—' | | |
| " | 'यथोक्तेनैव कल्पेन—' | | |
| " | 'विशुध्यति त्रिरात्रेण—' | | |
| १५ | 'सब्रह्मचारिण्येकाह—' | | |
| " | 'मृद्भिरद्विष्व गात्राणि' | स्वायम्भुवम् | नारदः |
| १६ | 'उत्कृष्टं चापकृष्टं च—' | | |
| १८ | 'भोजनाभ्यञ्जनाद्—' | | |
| १९ | 'यमिच्छेत् तमावसेत्' | | |
| २० | 'ऐकाश्रम्य त्वाचार्याः—' | | गौतमः |
| " | 'अथात्मन्यग्नीन् समारोप्य' | | |
| " | 'अनवेक्षमाणोऽरण्यं गच्छेत्' | | |
| २१ | 'ऐकाश्रम्यं त्वाचार्याः' | | गौतमः |
| " | 'पुनर्द्वाराक्रियां कुर्यात्—' | | |
| २५ | 'सर्वे एते पुण्यलोकाः—' | आत्रायः | |
| " | 'अनधीत्य द्विजो वेदा—' | स्वायम्भुवम् | |
| " | 'रागिणामेव गार्हस्थ्यम्' | | |
| " | 'यमिच्छेत् तमावसेत्' | | |
| २६ | 'हिंसानुग्रहयोरनारम्भी' | | गौतमः |
| " | 'वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः' | | |
| " | 'भिक्षार्थी ग्रामाभियाज्यवन्ध—' | | गौतमः |
| २७ | 'अष्टौ भिक्षाः समादाय—' | | संवर्तः |
| " | 'अथान्यः परिव्राजेक—' | श्रुतिः | |
| २९ | 'यस्यैतल्लक्षणं नास्ति—' | | दक्षः |

| पृष्ठं | वाक्य | ग्रन्थनाम | कर्तृनाम |
|--------|------------------------------|---------------|-----------|
| २९ | 'परिव्राजकः सर्वभूताभय—' | | वसिष्ठः |
| ३० | 'यज्ञोपवीत्युदकमण्डलु—' | | ॥ |
| ३१ | 'यज्ञोपवीत्युदकमण्डलु—' | | ॥ |
| ३२ | 'मुण्डोऽममोऽपरिग्रह' | | |
| ३३ | 'ब्राह्मणकुले वा यल्लभेत—' | | |
| ३४ | 'मुण्डोऽममोऽपरिग्रह' | | |
| ३५ | 'एकशाटीपरिहितो—' | | |
| ३६ | 'अथान्यः परिव्राजेक—' | स्मृत्यन्तरम् | |
| ३७ | 'व्युत्थायाथ भिक्षा—' | आम्नाय. | |
| ३८ | 'बाल्य पाण्डित्य च—' | | |
| ३९ | 'ततो व्युत्थाय मौन—' | | |
| ४० | 'स ब्राह्मणः केन स्यात्—' | | |
| ४१ | 'विना यज्ञोपवीतेन—' | | |
| ४२ | 'वेत्थ यथेति व्योमाहुत्या' | श्रुतिः | |
| ४३ | 'तस्मिन्नेतस्मिन्नमौ -' | ॥ | |
| ४४ | 'उच्यन्ति तिलक क्लोम—' | | |
| ४५ | 'पक्वाशयादधो नामे—' | | |
| ४६ | 'अनियतं मूत्रपुरीषम्' | | |
| ४७ | 'आर्षे धर्मप्रवचन—' | | स्वयम्भू. |
| ४८ | 'उत्सेकं जलधेर्दृष्ट्वा—' | | |
| ४९ | 'अथ वस्तूनि षट् पञ्च—' | | |
| ५० | 'आदातुल्लोप्यकस्याथ—' | | |
| ५१ | 'स्वयं वस्तुषण्मात्रा' | | |
| ५२ | 'समिष्टयजुषा स्वाहा वातेधा' | | |
| ५३ | 'यमक्षितमक्षितयः पिबन्ति' | | |
| ५४ | 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' | | |
| ५५ | 'अथ खलु क्रतुमयोऽयं पुरुष.' | आम्नायः | |
| ५६ | 'यथैकस्मिन् घटाकाशे—' | | |
| ५७ | 'धूमपूर्णघटानां च—' | | |
| ५८ | 'तस्मिन् शुक्लमुत नील—' | आम्नायः | |
| ५९ | 'न तत्र रथा' | ॥ | |
| ६० | 'अथ रथान् रथयोगान्—' | ॥ | |

| पृष्ठ | वाक्यं | ग्रन्थनाम | कर्तृनाम |
|-------|-------------------------------|-----------|----------|
| ६४ | 'एतद् यो वेत्ति तै प्राहुः—' | | व्यासः |
| " | 'द्वे वा व ब्रह्मणो रूपे—' | आम्नाय. | |
| ६८ | 'चोदना हि भूतं भवन्तं—' | | |
| " | 'नान्यत् किञ्चनेन्द्रियम्' | | |
| " | 'तदप्येते श्लोका—' | | |
| " | 'तमेतं वेदानुवचनेन—' | आम्नाय. | |
| " | 'अष्टौ प्रासा मुनेर्भक्तम्' | | |
| ७० | 'न च पद्मासनोद्योग' | | दक्ष |
| ७३ | 'सह तत एव प्राक् प्रवव्राज' | आम्नाय. | |
| " | 'इत्थ वा इमेऽमुष्मिन्—' | " | |
| " | 'कामकारकृतं पापं—' | | व्यास. |
| ७४ | 'इह दुश्चरितैः केचित्—' | | |
| ७५ | 'ब्रह्म यस्त्वननुज्ञात—' | | मनु. |
| ७६ | 'तस्मादेवंविच्छेन्नियस्य—' | आम्नायः | |
| " | 'स वा एष निरिन्द्रियो—' | " | |
| " | 'मणिमुक्ताप्रवालानि—' | | मनु. |
| ७७ | 'कुनखी कृच्छ्र द्वादशरात्रं—' | | वसिष्ठः |
| ७८ | 'प्रायश्चितीयते नर.' | | मनुः |
| " | 'अकुर्वन् विहितं कर्म—' | | " |
| ७९ | 'धर्ममर्थं च कामं च—' | | |
| " | 'कामात्मता न प्रशस्ता' | | |
| ८० | 'इयं विशुद्धिरदिता—' | | मनुः |
| " | 'अकामतः कृते पापे—' | | " |
| " | 'कामकारकृतेऽप्याहु—' | | " |
| " | 'अनभिसन्धिकृते प्राय—' | | वसिष्ठः |
| " | 'एतस्विभिरनिर्णिक्तै—' | | |
| " | 'कृतनिर्णेजनाश्चैवान्—' | | |
| " | 'यस्योभयं हविराप्ति—' | | |
| ८१ | 'कामतो ब्राह्मणवधे—' | | |
| " | 'इन्द्रो यतीन् सालावृकेभ्यः—' | श्रुतिः | |
| " | 'अभिशास्यमान याजयेत्' | " | |
| " | 'एतेन हेन्द्रो दैवापः—' | | |

| पृष्ठ | वाक्यं | ग्रन्थनाम | कर्तृनाम |
|-------|--------------------------------|--------------------|------------|
| ८१ | 'सर्वा ह वै पापकृत्वा—' | | |
| " | 'परीक्षिता यजमाना—' | | |
| " | 'अकामतः कृतं पापं—' | | ॥२॥ |
| " | 'कामतस्तु कृत मोहात्—' | | " |
| ८२ | 'भिन्ने जुहोति' | | |
| " | 'हविष्यभुग् वात्सुरेद—' | | |
| ८३ | 'अस्यास्मिन् लोके—' | | जापस्तम्ब. |
| " | 'मतिपूर्वमनिर्देयं—' | | |
| " | 'सुरायाश्चाज्ञाने तप्तकृच्छ्र' | | वसिष्ठ. |
| " | 'अज्ञानाद् वारुणी पीत्वा—' | | |
| ८४ | 'तरति सर्वं पाप्मानं' | | |
| " | 'नो जिह्मायन्तो नरक पताम' | मन्त्रवर्णः | |
| " | 'कामकारकृतं पापं—' | | ८५ |
| ८५ | 'यद्वा तद्वा परद्रव्य—' | | मनु |
| " | 'स्तेनो हिरण्यस्य सुरा—' | आम्राथः | |
| " | 'हिरण्यमिति जातरूप—' | श्रुतिः | |
| " | 'आग्नेयो वै ब्राह्मणः—' | | च. नो. |
| " | 'न सुवर्णं ब्राह्मणेभ्यो—' | | " |
| " | 'ब्राह्मणसुवर्णहरणं च' | | यामिष्ठः |
| ८७ | 'विज्ञेया त्रिविधा सुरा' | | |
| " | 'अथ यन्मल्यसासीन्—' | अग्नीषोमीयब्राह्म- | चरकाः |
| " | 'तस्माद् ब्राह्मणः सुरा—' | " [णम् | " |
| " | 'निषेकादीनि कर्माणि—' | | गुरु |
| " | 'तत्रास्य माता सावित्री—' | | |
| " | 'आचार्यपुत्रशिष्य—' | | नसिष्ठ. |
| " | 'माता मातृध्वसा—' | | नारदः |
| ८८ | 'आतृप्रयिनं हत्वा—' | | |
| " | 'स्वाध्यायिनं कुले जातं—' | | |
| " | 'गुरुं वा बालवृद्धौ वा—' | | |
| " | 'अपि वेदान्तं रणे' | | |
| " | 'जिघासन्तं जिघांसोद्याद्' | | |
| " | 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' | आम्राथ. | |

| पृष्ठं | वाक्यं | ग्रन्थनाम | कर्तृनाम |
|--------|-----------------------------------|---------------|--------------|
| ८८ | 'न हि स्यात् सर्वा भूतानि' | | |
| " | 'रागाद् द्वेषात् प्रमादाद् वा—' | | |
| " | 'सृष्टश्चेद् ब्राह्मणवधे—' | | |
| " | 'अन्यायेन गृहीतस्वश्च' | | लोकयात्रिकाः |
| " | 'तमाहुर्ब्रह्मघातकम्' | | |
| ८९ | 'पञ्चमश्वाचरस्तैः' | | |
| " | 'ब्राह्मणाभिशासने दोषस्तावान्' | | |
| " | 'द्विरनेनसी' | | |
| " | 'ब्राह्मणमनृतेनाभिशास्य—' | | वसिष्ठः |
| " | 'योंऽवमन्येत ते तूमे—' | | मनुः |
| ९० | 'ब्रह्मोज्झो वेदनिन्दा च—' | | " |
| " | 'छत्राकं विड्वराह च—' | | " |
| " | 'दुर्बलहिंसायां च—' | | शौतमः |
| ९१ | 'निक्षेपस्यापहरण—' | | मनुः |
| " | 'रेतःसेकः स्वयोन्यासु' | | " |
| ९२ | 'ब्रह्महसुरापशुस्तल्पग' | स्मृत्यन्तरम् | |
| " | 'मातृपितृयोनि—' | " | |
| " | 'सुषायां गवि च—' | " | |
| ९३ | 'अत ऊर्ध्वमुपपतनीयानि—' | | शङ्खः |
| " | 'क्षीरजतगोस्तैन्यं—' | | सुमन्तुः |
| " | 'अथोपपातकान्यग्न्युत्सादि' | | शातातपः |
| " | 'सूर्यभ्युदितः सूर्याभिनिर्मुक्त' | | वसिष्ठः |
| ९४ | 'ब्रह्महा परिषदानुमतः—' | | शङ्खः |
| " | 'प्रायश्चित्तमुपासीनो—' | | " |
| " | 'ब्राह्मणो ब्राह्मणं हत्वा—' | | शातातपः |
| " | 'स यदा राजानमुन्नेतोन्नयति—' | जाबालिश्रुतिः | |
| ९५ | 'दुत्क्रान्ते यजमाने—' | | कैलायनः |
| " | 'अन्नापरं भ्रूणहत्याया—' | | वसिष्ठः |
| " | 'सद्य एवाश्वमेधावभृथे—' | | शङ्खः |
| " | 'अत ऊर्ध्वं पतनीयानि' | | " |
| " | 'निष्कृतिस्तेषां विहिता—' | | " |
| " | 'ब्राह्मणो ब्राह्मणं—' | | |

| पृष्ठं | वाक्य | ग्रन्थनाम | कर्तृनाम |
|--------|-----------------------------------|---------------|-----------|
| ९६ | 'यजेत वाश्वमेधेन' | | मनु |
| " | 'तस्माद्वाष्ट्रयश्वमेधेन यजेत' | श्रुतिः | |
| " | 'अन्ययज्ञेऽप्यग्निष्टुदन्तव्येत्' | | गौतम |
| " | 'भूणहत्याया वा एषो—' | काठकम् | |
| ९७ | 'पतितो ह्यात्मानमुद्धरेत्—' | | |
| " | 'न विक्रीणीयादविक्रियाणि' | | |
| " | 'तिलमधुगुरुवृत—' | | |
| " | 'पतितो ह्यात्मानमुद्धरेत्' | श्रुतिः | |
| " | 'रागद्वेषादलभ्यमाने—' | | सुमन्तुः |
| " | 'ब्रह्महृदुरापगुरुस्तल्पग—' | | " |
| " | 'ब्रह्महा संवत्सरं कृच्छ्र—' | | " |
| " | 'अतोऽर्धमर्धं क्षत्रिय—' | | " |
| " | 'कर्म स्मार्तं विवाहाम्नौ' | | |
| " | 'जायापत्योर्न विभागो—' | | |
| ९८ | 'आ शुद्धे संप्रतीक्ष्यो हि—' | | |
| " | 'चतुर्षु वर्णेषु प्रमाप्य—' | | शङ्खः |
| " | 'सर्वेषामन्योन्यापकृष्टवधे—' | | |
| " | 'पूर्वयोर्वर्णयोर्वेदाभ्यायिनं—' | | आपस्तम्बः |
| १०० | 'भूणहामिमुपसमाधाय—' | | वसिष्ठः |
| " | 'प्रास्येदात्मानमम्नौ—' | स्मृत्यन्तरम् | |
| " | 'त्रिःसंहितामधीत्यातो—' | | |
| " | 'भूणहामिमुपसमाधाय—' | | वसिष्ठः |
| १०१ | 'कृतवापनो वा निवसेद्—' | | मनुः |
| " | 'ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा—' | | " |
| " | 'अन्तरा वा ब्राह्मणान्—' | | शङ्खः |
| १०३ | 'जपेद् वा नियताहार—' | | मनुः |
| १०४ | अष्टौ प्रासा मुनेर्भक्तम् | | |
| " | 'द्विजातिकर्मभ्यो हानि—' | | गौतमः |
| " | 'वैशाहरो वा सरस्वती—' | | हारीतः |
| १०५ | 'राजार्थे ब्राह्मणार्थे—' | | वसिष्ठः |
| " | 'लक्षं सक्कमृता वा—' | | मनुः |
| " | 'प्रास्येदात्मानमम्नौ—' | | |

| पृष्ठ | वाक्यं | ग्रन्थज्ञान | कर्तृनाम |
|-------|-----------------------------|---------------|-----------|
| १०५ | 'ब्राह्मणरूपसैव च' | | |
| " | 'गुरुतरुपणं सूमी—' | | आपस्तम्बः |
| " | 'मिथ्यैतदिति द्वारीतो—' | | " |
| " | 'ओत्तमादुच्छ्वासाच्चरेत्' | | " |
| " | 'अनाद्यवेन कर्षितो—' | काटकम् | " |
| " | 'योऽश्वमेधेन यजते—' | | |
| " | 'अर्के चेन्मधु बिन्देत्—' | शावरभाष्यम् | |
| १०६ | 'तेनैव पथा मन्वर्थिनः—' | तथा | |
| १०७ | 'ब्रह्मैवा द्वादशावदानि' | | मनुः |
| " | 'लक्ष शान्तितां वा स्याद्' | | " |
| " | 'जपेद् वा नियता—' | | " |
| " | 'कृतवापनो वा निवसेद्—' | | " |
| " | 'एव हृदयतो नित्य—' | | " |
| " | 'हत्वा गर्भमविज्ञातं—' | | " |
| १०८ | 'गुरुतरुपणः सूमी—' | | आपस्तम्बः |
| " | 'मिथ्यैतदिति द्वारीतः' | | " |
| " | 'यो ह्यात्मान पर वा—' | | " |
| " | 'सर्वा ब्रह्महत्यामपहन्ति—' | आम्राय. | " |
| १०९ | 'अग्नौ सक्तिर्ब्रह्मघ्न—' | स्मृत्यन्तरम् | |
| " | 'ब्रह्महान्निमुपसमाधाय' | | वसिष्ठः |
| " | 'राजार्षे ब्राह्मणार्थे—' | | " |
| " | 'द्वादशवर्षाण्यात्मना—' | | " |
| " | 'कृतवापनो वा' | | मनुः |
| " | 'एव हृदयतो नित्यम्' | | " |
| " | 'अतोऽन्यतममास्थाय—' | | " |
| ११० | 'हत्वा गर्भमविज्ञातं—' | | " |
| " | 'तुरीयो ब्रह्महत्यायाः—' | | " |
| " | 'त्र्यब्दः चरेद् वा नियतो—' | | " |
| " | 'भैक्ष चात्मविशुद्ध्यर्थ' | | |
| " | 'ओत्तमादुच्छ्वासात्' | | आपस्तम्बः |
| १११ | 'सवनगतौ च राजन्य—' | स्मृत्यन्तरम् | |
| " | 'तस्मादहर्हर्न सवनगत—' | आम्राय | |

| शृङ्ख | वाक्यं | ग्रन्थनाम | कर्तृनाम |
|-------|--------------------------------|-----------|-----------|
| १११ | 'आवेदनेन हि ब्राह्मणो -' | | |
| " | 'राजन्यवैश्यौ चेजानौ' | | मनु |
| " | 'अत्र ह्येष्यदपत्य भवति' | श्रुतिः | |
| " | 'ततोऽग्निः संबभूव' | आन्नायः | |
| " | 'तस्मादप्यात्रेय्या—' | " | |
| ११२ | 'बहुना समवेताना—' | | हारितः |
| " | 'एतेनैव विधिना आ—' | | आपस्तम्बः |
| " | 'सर्वस्वं दत्त्वा द्वादशा—' | | |
| " | 'उत्त्वा चैवानृत साक्ष्ये—' | | मनु |
| ११३ | 'दुर्बलहिंसायां चापि—' | | गौतम- |
| " | 'सुरां पीत्वा द्विजो मोहाद्—' | | मनुः |
| " | 'पतिलोकं न सा याति—' | | |
| " | 'सुरापस्य ब्राह्मणस्य—' | | गौतमः |
| " | 'सुरा वै मलमन्त्रानां—' | | मनु |
| ११४ | 'सुरां पीत्वा द्विजो मोहाद्—' | | " |
| " | 'मद्यपाने त्वसुरायाः—' | | वसिष्ठः |
| " | 'कणान् वा भक्षयेद्बन्ध—' | | मनुः |
| " | 'सुरां पीत्वा द्विजो—' | | " |
| " | 'सुरापोऽमितसम्—' | | शङ्खः |
| " | 'अथवा बालचीरवासाः—' | | " |
| " | 'पतितो ह्यात्मानमुद्धरेत्—' | | |
| ११५ | 'समीक्ष्य निपुणं धर्मम्—' | | |
| " | 'वत्सरं वा कणानश्नन्—' | | सर्वत |
| " | 'बालवासा जटी—' | | |
| " | 'सुरां पीत्वा स्तेयं कृत्वा—' | | आपस्तम्बः |
| " | 'महापातकसंयुक्ताः—' | | आश्विनः |
| " | 'कालस्य तु यथोक्तस्य—' | | " |
| " | 'अज्ञानाद् वारुणीं पीत्वा—' | | मनुः |
| ११६ | 'अज्ञानाद् प्राश्य विष्मृजन्—' | | " |
| " | 'संस्कारेणैव शुष्यति' | | " |
| " | 'मयं नित्यं ब्राह्मणः' | | |
| " | 'संस्कारेणैव शुष्यति' | | मनुः |

| पृष्ठं | वाक्यं | ग्रन्थनाम | कर्तृनाम |
|--------|-------------------------------|---------------|-----------|
| ११६ | 'मतिपूर्वमनिर्देयं—' | | मनुः |
| " | 'सुरां पीत्वा द्विजो मोहाद्—' | | " |
| ११७ | 'पतत्यर्धं शरीरस्य—' | स्मृत्यन्तरम् | |
| " | 'सुरापस्य प्रायश्चित्त—' | | सुमन्तुः |
| " | 'प्रायश्चित्तार्धमर्हन्ति—' | स्मृत्यन्तरम् | |
| ११८ | 'एतदेव व्रतं कुर्याद्—' | | मनुः |
| " | 'सा चेत् पुनः प्रदुष्येत—' | | " |
| " | 'यक्षरक्षःपिशाचान्—' | | " |
| " | 'अमेघ्ये वा पतेन्मत्तो—' | | " |
| " | 'यस्य कायगत ब्रह्म—' | | " |
| ११९ | 'ब्राह्मणसुवर्णहरणे—' | | वसिष्ठः |
| १२० | 'सुवर्णस्तेयकृद् विप्रो—' | | मनुः |
| " | 'ततो मुसलमादाय—' | | " |
| " | 'स्वतन्त्रस्तु स संताप्य—' | | संवर्तः |
| " | 'एतैर्व्रतैः—' | | " |
| १२१ | 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः—' | | |
| " | 'सुरा न पेया—' | | |
| " | 'सुवर्णस्यापहरणे—' | | व्यासः |
| " | 'सुवर्णमेकं गामेकां—' | | |
| " | 'देयस्य परिमाणेन—' | | |
| १२२ | 'यदि जीवति स स्तेनः—' | | संवर्तः |
| " | 'स्तेयं कृत्वा सुरां पीत्वा—' | | अपस्तम्बः |
| " | 'महापातकसमुक्ताः—' | | अज्ञिराः |
| " | 'सुवर्णस्तेयी मासं—' | | सुमन्तुः |
| " | 'विद्यातपोभ्यां हीनेन—' | | |
| १२३ | 'अविद्वान् याजको वा स्यात्—' | | काल्यायनः |
| " | 'शुक्लं च शबलं चैव—' | | नारदः |
| " | 'धनं यद् यागशीलानां—' | | मनुः |
| " | 'किं ते कृण्वन्ति—' | मन्त्रवर्णः | |
| " | 'हिरण्यस्तेनः पतित—' | | शङ्खः |
| १२४ | 'मासं वा गोमूत्रयावकं—' | | |
| " | 'राजा स्तेनेन शन्तव्यो—' | | मनुः |

| पृष्ठ | वाक्य | ग्रन्थनाम | कर्तृनाम |
|-------|---------------------------------|-----------|----------|
| १२४ | 'शासनाद्वा विमोक्षाद्वा—' | | मनु |
| " | 'न जातु ब्राह्मणं हन्यात्—' | | " |
| १२६ | 'गुरुतल्पग सवृषणं—' | | वसिष्ठ |
| " | 'निष्कालको वा घृताक्तः—' | | |
| " | 'गुरुतल्पगस्तप्तमायस—' | | शङ्ख |
| " | 'मातुलानीपितृष्वसा—' | | |
| " | 'आचार्यपुत्रशिष्य—' | | वसिष्ठ |
| " | 'मातरं योऽभिगच्छेत् तु—' | | सर्वतः |
| " | 'गुरुतल्पगस्तु शयने—' | | " |
| १२७ | 'पितृभार्या तु विज्ञाय—' | | हारीत |
| " | 'खट्वाङ्गी चौरवासा—' | | मनुः |
| " | 'त्रीणि चत्वारि वा पुनः—' | | |
| १२८ | 'स्त्रैरिण्यां वृषल्यां—' | | शङ्खः |
| " | 'द्वे परदारौ त्रीणि—' | | गौतमः |
| " | 'ब्राह्मणश्चेदप्रेक्षापूर्वकं—' | | वसिष्ठः |
| " | 'एनसि गुरुणि गुरुणि लघुनि—' | | |
| " | 'अप्रकीर्णसु त्वन्यथा—' | | शङ्खः |
| १२९ | 'माता मातृष्वसा श्वश्रू—' | | नारदः |
| " | 'पितृपत्न्यः सर्वा मातरः—' | | सुमन्तुः |
| " | 'पैतृष्वसेर्या भगिनी—' | | मनुः |
| " | 'गुरोर्दुहितर गत्वा—' | | सर्वतः |
| १३० | 'अगम्यागमनस्त्रीवध—' | | सुमन्तुः |
| " | 'मातृपितृष्वसस्तुषा—' | | " |
| " | 'सखिसयोनिसगोत्रा—' | | गौतम |
| " | 'कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ चान्द्रा—' | | " |
| " | 'विप्रदुष्टां स्त्रिय भर्ता—' | | मनुः |
| " | 'सा चेत् पुनः प्रदुष्येत—' | | " |
| १३१ | 'निरुन्ध्यादेकवैश्मनि—' | | " |
| " | 'शूद्रश्चेद् ब्राह्मणीमाभि—' | | वसिष्ठः |
| " | 'ऊर्ध्वं त्रिरात्रादप्यु—' | | |
| " | 'ब्राह्मणक्षत्रियविशां—' | | |
| " | 'प्रतिलोमं चरेयुस्ताः—' | | |

| पृष्ठ | वाक्य | ग्रन्थनाम | कर्तृनाम |
|-------|---------------------------------|-----------|----------|
| १३२ | 'एतत् कृत्वा प्रतिलोमं—' | | |
| " | 'ब्राह्मणी ब्राह्मणं गत्वा—' | | सर्वतः |
| " | 'बलात् प्रमथ्य भुक्ता या—' | | हारीतः |
| १३३ | 'स्त्रियः पवित्रमतुलं—' | | |
| " | 'बलात्कारोपभुक्ता वा—' | | वसिष्ठ |
| " | 'पुष्पकालमुपासीत—' | | " |
| " | 'तस्या उक्तं प्रायश्चित्तं—' | | हारीतः |
| १३४ | 'न स्त्रीष्वगुरुतल्पं—' | | गौतमः |
| " | 'यत् पुंसः परदारेषु—' | | मनु |
| " | 'यो येन पतितेनैषां—' | | " |
| १३५ | 'पतितस्य तु कुमारीं—' | | हारीतः |
| " | 'संवत्सरेण पतति—' | | मनुः |
| " | 'तैश्चाब्द समाचरन्—' | | |
| " | 'पञ्चमश्वाचरस्तैः—' | | |
| " | 'पतितसंप्रयोगे तु—' | | वसिष्ठः |
| १३६ | 'पतितसंव्यवहारिणो—' | | शङ्ख |
| " | 'तैश्च सह संप्रयोगश्च—' | | |
| " | 'पतितो ह्यात्मानमुद्धरेत्—' | | |
| " | 'एभिः संपर्कमायाति—' | | सर्वतः |
| " | 'संवत्सरेण पतति—' | | मनुः |
| " | 'सुवर्णस्तेयी मासं सावित्र्या—' | | सुमन्तु |
| " | 'यश्चैतैः सह यौनमुख्य—' | | " |
| १३७ | 'पतितसंव्यवहारी तप्त—' | | शातातपः |
| " | 'यो येन पतितेनैषां—' | | मनु |
| " | 'षण्मासमब्दमेकं वा—' | | सर्वतः |
| १३८ | 'चण्डालान्स्त्रियो गत्वा—' | | मनुः |
| " | 'संवत्सरेण पतति—' | | " |
| " | 'दिवाकीर्त्यमुदक्यां च—' | | " |
| " | 'शुद्धीं सख्यादिगमने—' | | वसिष्ठः |
| " | 'एतदेव चण्डालपतिता—' | | " |
| " | 'भुक्त्वातोऽन्यतमस्यान्नं—' | | मनुः |
| " | 'अभिज्ञस्तस्य षण्डस्य—' | | " |

| पृष्ठ | वाक्य | ग्रन्थनाम | कर्तृनाम |
|-------|------------------------------|-----------|----------|
| १३९ | 'कुच्छ्राब्दपादं चरेत्' | | वसिष्ठः |
| " | 'ज्ञानात् साम्यं तु गच्छति' | | मनुः |
| " | 'चण्डालसंकरे विप्र. —' | | संवर्तः |
| " | 'चण्डालधपाकपुल्कसादि—' | | काश्यपः |
| " | 'अगम्यागमने स्त्रीवध—' | | सुमन्तु |
| " | 'अविज्ञातस्तु चण्डालो—' | | पराशर |
| १४० | 'गोमूत्रे गोमयं क्षीर—' | | |
| " | 'चण्डालावर्जिते चाग्ने—' | | अत्रिः |
| १४१ | 'चण्डालपरिगृहीताः—' | | अश्विरा |
| " | 'भुक्त्वा तु प्रतिलोमाना—' | | अत्रिः |
| " | 'भुक्त्वातोऽन्यतमस्यान्नं—' | | मनुः |
| " | 'स्कन्धमभिमृशति भूपतये—' | शतपथः | |
| १४२ | 'सर्वेषामन्योन्यापकृष्ट—' | | शङ्खः |
| १४४ | 'पञ्चगव्येन वा मास—' | | हारीतः |
| " | 'एतैर्व्रतैरपोहेयु—' | | मनुः |
| १४५ | 'उपपातकसंयुक्तो—' | | " |
| " | 'उपपातकसंयुक्तो—' | | आश्विरसः |
| १४६ | 'अनेन विधिना यस्तु—' | | |
| " | 'दक्षिणायामविश्रमा—' | | |
| " | 'गोघ्नः कुर्वीत संस्थानं—' | | संवर्तः |
| " | 'प्रायश्चित्तमकामावासौ—' | | काश्यपः |
| " | 'ब्राह्मणेभ्यो निवेदयित्वा—' | | काश्यपः |
| " | 'तेन चर्मणा प्रावृतो—' | | " |
| १४७ | 'गोघ्नः पञ्चगव्या—' | | शङ्खः |
| " | 'गां वेद्धन्यात् तस्याः—' | | वसिष्ठः |
| " | 'गोघ्नो यवार्गु—' | | पैठीनसि |
| " | 'गोघ्नस्य गोष्ठे शयनं—' | | सुमन्तु |
| " | 'पादपाशनिबन्धाद्वा—' | | यमः |
| " | 'उपपातकसंयुक्तो—' | | आश्विरसः |
| " | 'गायत्र्या दशसाहस्रं—' | | |
| " | 'गौसहस्रं शतं वापि—' | | |
| " | 'गां च वैश्यवत्' | | गौतम |

| पृष्ठं | वाक्य | ग्रन्थनाम | कर्तृनाम |
|--------|------------------------------|--------------|-----------|
| १४७ | 'प्राकृत त्रैवार्षिकं—' | | गौतम |
| " | 'द्वादशाहेन गोघाती—' | | बृहस्पतिः |
| १४८ | 'गायत्र्या दशसाहसं—' | | |
| " | 'द्वादशरात्रं पञ्चगव्या—' | | शातातपः |
| " | 'त्रीन् कृच्छ्रान्—' | | पराशरः |
| " | 'गवां बन्धनयोकेषु—' | | " |
| " | 'सशिखं वपनं कृत्वा—' | | " |
| " | 'तत्तक्षीर्णान्ते ब्राह्मण—' | | स्वयम्भूः |
| " | 'उपपातकिनस्त्वेवम्—' | | " |
| " | 'उपपातकसंयुक्तो—' | | " |
| १४९ | 'गोसहस्रं शतं वापि—' | | यमः |
| " | 'उपपातकसंयुक्तो—' | | |
| " | 'गोषु ब्राह्मणसंस्थासु—' | | |
| " | 'मास्ताः पशवो याज्ञाः—' | | शङ्खः |
| " | 'गां च वैश्यवत्—' | | गौतमः |
| " | 'मार्जारनकुलौ हत्वा—' | स्वायम्भुवम् | |
| १५० | 'मण्डूकनकुलकाक—' | | गौतमः |
| " | 'एतदेव मतं कृत्स्नं—' | | मनुः |
| " | 'शूद्रवधे संवत्सर—' | | गौतमः |
| " | 'नाततायिवधे प्राय—' | | सुमन्तुः |
| " | 'गवां बन्धनयोकेषु—' | | पराशरः |
| १५१ | 'प्रायश्चित्तीयतां प्राप्य—' | | |
| " | 'सायं संगोपनार्थाय—' | | |
| " | 'औषधं ज्ञेयमाहारं—' | | |
| " | 'निरुद्धानां गृहे वापि—' | | संभरः |
| " | 'एकमेव बहुभिः कश्चिद्—' | | " |
| " | 'गोनस्यापि प्रवक्ष्यामि—' | | " |
| १५२ | 'पादपाशनिबन्धाद्वा—' | | यमः |
| " | 'गोमूत्रयावक मास—' | | " |
| " | 'उपपातकसंयुक्तो—' | | " |
| " | 'गोसहस्रं शतं वापि—' | | " |
| " | 'द्वादशाहेन गोघाती—' | | बृहस्पतिः |

| पृष्ठं | वाक्य | ग्रन्थनाम | कर्तृनाम |
|--------|-------------------------------|--------------|----------|
| १५२ | 'जप्येनैव तु संसिध्येत—' | | |
| " | 'द्वादशरात्र पञ्च—' | | |
| " | 'षड्रात्रं यावकाहारः' | | |
| १५३ | 'जातिशक्तिगुणापेक्ष—' | | |
| " | 'अनुक्तनिःकृतीनां तु—' | | |
| " | 'ते यां वेदविदो ब्रूयुः—' | | |
| " | 'एतदेव व्रतं कुर्युः—' | स्वायम्भुवम् | |
| " | 'जातिशक्तिगुणापेक्षम्' | | |
| १५४ | 'कालातिक्रमे नियतवत्' | | पारस्करः |
| " | 'त्रिष्टुभं ब्राह्मणोऽतीत्य—' | | हारीत |
| " | 'येषां द्विजानां सावित्री—' | | मनुः |
| " | 'पूर्वः पूर्वं उत्तरोत्तर—' | | शङ्खः |
| " | 'ब्याधिकाया वैश्यस्य' | | गौतमः |
| " | 'अत ऊर्ध्वं पतित—' | | |
| " | 'उद्दालकव्रतं चरेद्—' | | वसिष्ठः |
| " | 'यो व्रतकालमसंस्कृतो—' | | |
| " | 'प्रायश्चित्तं विकीर्षन्ति—' | | मनुः |
| १५५ | 'अक्रामतस्तु राजन्यं—' | | " |
| " | 'प्रमाप्य वैश्यं वृत्तस्थम्' | | |
| " | 'एतदेव चरेदब्दं—' | | |
| " | 'एतदेव व्रतं कृत्स्नं—' | | |
| १५६ | 'सर्वेषामन्योन्यापकृष्ट—' | | शङ्खः |
| " | 'तुरीयो ब्रह्महत्यायाः—' | | |
| " | 'प्रमाप्य क्षत्रियं मोहात्—' | | संवर्तः |
| " | 'राजन्यवधे षड्वार्षिक—' | | गौतमः |
| " | 'एव राजन्यं हत्वा—' | | वसिष्ठः |
| १५७ | 'जातिशक्तिगुणापेक्षम्' | | |
| " | 'गर्भे चाविजाते ब्राह्मणस्य' | | |
| " | | | असहायः |
| " | 'तस्माद् यद्यपि राजा—' | आम्रायः | |
| " | 'वध एनं हिनस्ति—' | " | |
| " | 'शतं ब्राह्मणमाकुर्वन्—' | स्वायम्भुवम् | |

| पृष्ठ | वाक्य | ग्रन्थनाम | कर्तृनाम |
|-------|-------------------------------|--------------|------------|
| १५७ | ‘पञ्चाशद् ब्राह्मणो दण्ड्यः—’ | | |
| ” | ‘एकजातिर्द्विजाति तु—’ | | |
| १५८ | ‘भर्तारं लङ्घयेद् या तु—’ | | मनु |
| ” | ‘श्वभिः खादयेद् राजा—’ | | गौतम |
| ” | ‘वाग्देवत्यैश्च चरुभिः—’ | | |
| ” | ‘न च वै स्त्रिय भ्रान्ति—’ | आम्राय | |
| ” | ‘बालप्रांश्च कृतप्रांश्च’ | स्वायम्भुवम् | |
| १५९ | ‘निकृष्टजां तु निर्जातां—’ | | बृहस्पतिः |
| ” | ‘अनात्रेयीं राजन्यहिंसायां—’ | | वसिष्ठः |
| ” | ‘कृत्वा च स्त्रीसुहृद्वधम्’ | | मनु |
| ” | ‘आहिताग्नेर्द्विजाभ्यस्य—’ | | आश्विनिरसः |
| ” | ‘स्त्रीघाती षण्मासान्—’ | | शाङ्खः |
| ” | ‘स्त्रीणां वधे शूद्र—’ | | |
| ” | ‘अनाहिताग्निपत्नीनां—’ | | आश्विनिरसः |
| ” | ‘स्त्रिय प्रमापयेद् यस्तु—’ | | संवर्त |
| १६० | ‘अनस्त्रामनङ्गद्वारः’ | | गौतमः |
| ” | ‘पूर्णे चानस्यनस्त्राम्’ | | मनुः |
| ” | ‘योऽहिंसकानि भूतानि—’ | | ” |
| ” | ‘पञ्च सूना गृहस्थस्य—’ | | स्वयम्भूः |
| १६१ | ‘मार्जारनकुलौ हत्वा—’ | | मनुः |
| ” | ‘पयः पिबेत् त्रिरात्रं वा—’ | | ” |
| ” | ‘जप्येनैव तु संसिध्येद्—’ | | |
| ” | ‘अनादिष्टप्रतादेशे—’ | | व्यासः |
| ” | ‘यज्ञार्थप्राणिहिंसायां—’ | | |
| ” | ‘गजे व्याघ्रे च तुरगे—’ | | अश्विनिरा |
| ” | ‘मयुर्मयूरो गोमायुः—’ | नामरत्नमाला | |
| ” | ‘हंसं ससारसं कौञ्च—’ | | |
| १६२ | ‘चाषं भास कपोतं वा—’ | | पराशरः |
| ” | ‘गृध्रं श्येनं श्वाविडं च—’ | | |
| ” | ‘श्वमार्जारनकुलदहर—’ | | |
| ” | ‘निपाल्य वैश्यं वृत्तस्थम्’ | | वसिष्ठ |
| १६३ | ‘भट्टापातकिनश्चैव—’ | | मनुः |

| पृष्ठं | वाक्यं | ग्रन्थनाम | कर्तृनाम |
|--------|-----------------------------------|---------------|-----------|
| १६३ | ‘दानेन बधनिर्णेकं—’ | | मनुः |
| १६४ | ‘नरवायसखरवानर—’ | | शङ्खः |
| ” | ‘यन्मेऽद्य रेतः पृथिवी --’ | शतपथः | |
| ” | ‘पुनर्मा मैत्रिन्द्रियम्’ | ” | |
| १६५ | ‘मयि तेजः’ | ” | |
| ” | ‘कामावकीर्णोऽस्मि’ | | |
| ” | ‘कामाभिदुग्धोऽस्मि’ | | |
| ” | ‘सं मा सिञ्चन्तु मरुतः’ | तैत्तिरीयम् | |
| ” | ‘सन्ध्यां यदि च नोपास्ते —’ | स्मृत्यन्तरम् | |
| ” | ‘व्रतचारी तु योऽश्रीयाद् —’ | | मनुः |
| १६७ | ‘ब्राह्मणमनृतेनाभिषस्य—’ | | वसिष्ठः |
| ” | ‘एतेनाभिषस्तो व्याख्यातः’ | | ” |
| १६८ | ‘जप्त्वा तु त्रीणि सावित्र्या. —’ | | मनुः |
| १६९ | ‘पतितस्योदकं छेयं —’ | | |
| ” | ‘चरितव्रत आयाते—’ | | मनुः |
| १७० | ‘एष एव विधिः कार्यो—’ | खायम्भुबम् | ” |
| १७१ | ‘एतैर्द्विजातयः शोध्याः—’ | | |
| ” | ‘ख्यापनेनानुतापेन —’ | | मनुः |
| ” | ‘धर्मव्याजेन यो मोहात्—’ | स्मृत्यन्तरम् | ” |
| १७२ | ‘अथ हं तूपवसेयुक्त—’ | | |
| १७३ | ‘यद् देवा देवहेडनम्’ | तैत्तिरीयम् | खयम्भूः |
| ” | ‘नाभिदग्धोदकस्थस्तु—’ | | |
| ” | ‘सहस्रशीर्षा पुरुषः’ | | भारद्वाजः |
| ” | ‘लोमभ्यः स्वाहा’ | | |
| ” | ‘यस्मिन् कर्मण्यस्य कृते—’ | | खयम्भूः |
| १७६ | ‘धारोष्णं तु गव्यं—’ | | हारितः |
| ” | ‘पयो घृतमुदकं—’ | स्मृत्यन्तरम् | |
| १७७ | ‘एकैकं प्रासमश्रीयाद्’ | | मनुः |
| १७८ | ‘पिपीलिकामव्यतया—’ | स्मृत्यन्तरम् | |

READY FOR SALE.

| | RS. | AS. | P. |
|--|-----|-----|----|
| भक्तिमञ्जरी (Stuti) by H. H. Svāti Śrī Rāma Varma Mahārājah. | 1 | 0 | 0 |
| स्यानन्दुरपुरवर्णनप्रबन्धः (Kavya) Syānandūrapuravarṇa- naprabandha by H. H. Svāti Śrī Rāma Varma Mahārājah, with the commentary Sundarī of Rājarāja Varma Kōil Tampurān. | 2 | 0 | 0 |

Trivandrum Sanskrit Series.

| | | | |
|---|---|----|---|
| No. 1— वैवम् (Vyākaraṇa) by Deva with Puru- shakāra of Krishnalīlāsukamuni. | 1 | 0 | 0 |
| No. 2— भक्तिमन्त्रस्तुमाला-दक्षिणामूर्तिस्तवै by Krishnalīlāsukamuni. | 0 | 2 | 0 |
| No. 3— नलाभ्युदयः (Kāvya) by Vāmana Bhatta Bāna (Second Edition). | 0 | 4 | 0 |
| No. 4— शिवलीलावर्णनः (Kāvya) by Nīlakantha Dik- shita. | 2 | 0 | 0 |
| No. 5— व्यक्तिविवेकः (Alankāra) by Mahima Bhatta with commentary | 2 | 12 | 0 |
| No. 6— दुर्बद्धवृत्तिः (Vyākaraṇa) by Sarāṇadeva. | 2 | 0 | 0 |
| No. 7— ब्रह्मसूत्रप्रकाशिका (Vedānta) by Sadā- sivendra Sarasvatī | 2 | 4 | 0 |
| No. 8— प्रयुक्ताभ्युदयम् (Nāṭaka) by Ravi Varma Bhūpa. | 1 | 0 | 0 |
| No. 9— विरूपाक्षपञ्चाशिका (Vedānta) by Virūpāksha- nātha with the commentary of Vidyā- chakravartin. | 0 | 8 | 0 |
| No. 10— मातङ्गलीला (Gajalakshana) by Nīlakantha. | 0 | 8 | 0 |
| No. 11— तपतीसंवरणम् (Nāṭaka) by Kulasekhara Varma with the commentary of Siva- rāma | 2 | 4 | 0 |
| No. 12— परमार्थसारम् (Vedānta) by Bhagavad Ādi- sesha with the commentary of Rāghava- ānanda. | 0 | 8 | 0 |
| No. 13— सुभद्राधनञ्जयम् (Nāṭaka) by Kulasekhara Varma with the commentary of Sivarāma. | 2 | 0 | 0 |

| | RS. | AS. | P. |
|---|-----|-----|----|
| No. 14—नीतिसारः (Nīti) by Kāmandaka, with the commentary of Sankarārya. | 3 | 8 | 0 |
| No. 15—स्वप्नवासवदत्तम् (Nāṭaka) by Bhāṣa. (Second Edition). | 1 | 8 | 0 |
| No. 16—प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् (Nāṭaka) by Bhāṣa. | 1 | 8 | 0 |
| No. 17—पञ्चरात्रम् Do. Do. | 1 | 0 | 0 |
| No. 18—नारायणीयम् (Stuti) by Nārāyaṇa Bhatta with the commentary of Desamangala Vārya. | 4 | 0 | 0 |
| No. 19—मानमेयोदयः (Mīmāṃsā) by Nārāyaṇa Bhatta and Nārāyaṇa Pandita. | 1 | 4 | 0 |
| No. 20—अविमारकम् (Nāṭaka) by Bhāṣa. | 1 | 8 | 0 |
| No. 21—बालचरितम् Do. Do. | 1 | 0 | 0 |
| No. 22—मध्यमन्यायोग-दूतवाक्य-दूतषट्कोक्त-कर्णभारोद्भवज्ञानि (Nāṭaka) by Bhāṣa. | 1 | 8 | 0 |
| No. 23—नानार्थार्णवसंक्षेपः (Kosa) by Kesavaswāmin (Part I. 1st & 2nd Kāndas). | 1 | 12 | 0 |
| No. 24—ज्ञानकीपरिणयः (Kāvya) by Chakra kavi. | 1 | 0 | 0 |
| No. 25—काणादसिद्धान्तचन्द्रिका (Nyāya) by Gangā- dharasūri. | 0 | 12 | 0 |
| No. 26—अभिषेकनाटकम् (Nāṭaka) by Bhāṣa. | 0 | 12 | 0 |
| No. 27—कुमारसम्भवः (Kāvya) by Kālidāsa with the two commentaries, Prakāśikā of Arunagirinātha and Vivaraṇa of Nārā- yaṇa Pandita (Part I. 1st & 2nd Sargas). | 1 | 12 | 0 |
| No. 28—वैखानसधर्मशास्त्रः (Dharmasūtra) by Vikhanas. | 0 | 8 | 0 |
| No. 29—नानार्थार्णवसंक्षेपः (Kosa) by Kesavaswāmin (Part II. 3rd Kānda). | 2 | 4 | 0 |
| No. 30—वास्तुविद्या (Śilpa). | 0 | 12 | 0 |
| No. 31—नानार्थार्णवसंक्षेपः (Kosa) by Kesavaswāmin (Part III. 4th, 5th & 6th Kāndas). | 1 | 0 | 0 |

- No. 32—कुमारसम्भवः (Kāvya) by Kālidāsa with the two commentaries, Prakāsikā of Arunagirinātha and Vivarana of Nārāyana Pandita (Part II, 3rd, 4th & 5th Sargas) 2 8 0
- No. 33—वाररुचसंग्रहः (Vyākaranā) with the commentary Dipaprabhā of Nārāyana. 0 8 0
- No. 34—मणिदर्पणः (शब्दपरिच्छेदः) (Nyāya) by Rājachūdāmanimakhin. 1 4 0
- No. 35—मणिसारः (अनुमानसङ्गः) (Nyāya) by Gopinātha. 1 8 0
- No. 36—कुमारसम्भवः (Kāvya) by Kālidāsa with the two commentaries, Prakāsikā of Arunagirinātha and Vivarana of Nārāyana Pandita (Part III, 6th, 7th & 8th Sargas). 3 0 0
- No. 37—आशौचाष्टकम् (Smṛiti) by Vararuchi with commentary. 0 4 0
- No. 38—नामलिङ्गानुशासनम् (Kosa) by Amarasimha with the commentary Tikāsarvasva of Vandyaghaṭīya Sarvānanda (Part I. 1st Kānda). 2 0 0
- No. 39—चारुदत्तम् (Nāṭaka) by Bhāsa. 0 12 0
- No. 40—अलङ्कारसूत्रम् (Alankāra) by Rājānaka Sri Ruyyaka with the Alankārasarvaswa of Sri Mankhuka and its commentary by Samudrabandha. 2 8 0
- No. 41—अध्यात्मपदलम् (Kālpā) by Āpastamba with Vivarana of Śrī Sankara Bhagavat Pāda. 0 4 0
- No. 42—प्रतिमानाटकम् (Nāṭaka) by Bhāsa. 1 8 0
- No. 43—नामलिङ्गानुशासनम् (Kosa) by Amarasimha with the two commentaries, Amarakosodghātana of Kshīraswamin and Tikāsarvaswa of Vandyaghaṭīya Sarvānanda (Part I. 2nd Kānda 1—6 Vargas). 2 8 0

| | RS. | AS. | P. |
|---|-----|-----|----|
| No. 44—तन्त्रशुद्धम् (Tantra) by Bhattāraka Śrī Ve- | | | |
| dottamā. | 0 | 4 | 0 |
| No. 45—प्रपञ्चहृदयम् (Prapanchahridaya). | 1 | 0 | 0 |
| No. 46—परिभाषावृत्तिः (Vyākaraṇa) by Nīlakantha | | | |
| Dikshita. | 0 | 8 | 0 |
| No. 47—सिद्धान्तसिद्धाञ्जनम् (Vedānta) by Śrī | | | |
| Krishnānanda Sarasvatī. (Part I.) | 1 | 12 | 0 |
| No. 48—Do. Do. (Part II.) | 2 | 0 | 0 |
| No. 49—गोळदीपिका (Jyotiṣa) by Parameswara. | 0 | 4 | 0 |
| No. 50—रसार्णवसुधाकरः (Alankāra) by Singa | | | |
| Bhūpāla. | 3 | 0 | 0 |
| No. 51—नामलिङ्गानुशासनम् (Kosa) by Amarasimha | | | |
| with the two commentaries, Amarakoso- | | | |
| dghātana of Kshīraswāmin and Tikā- | | | |
| sarvaswa of Vandyaghatīya Śarvānanda | | | |
| (Part III. 2nd Kāṇḍa 7—10 Vargas) | 2 | 0 | 0 |
| No. 52—नामलिङ्गानुशासनम् (Kosa) by Amarasimha | | | |
| with the commentary Tikāsarvaswa of | | | |
| Vandyaghatīya Śarvānanda (Part IV. | | | |
| 3rd Kāṇḍa) | 1 | 8 | 0 |
| No. 53—शाब्दनिर्णयः (Vedānta) by Prakāśātma- | | | |
| tīndra | 0 | 12 | 0 |
| No. 54—स्फोटसिद्धिन्यायविचारः (Vyākaraṇa) | 0 | 4 | 0 |
| No. 55—मत्तविलासप्रहसनम् (Nāṭaka) by Śrī | | | |
| Mahendravikramavarman. | 0 | 8 | 0 |
| No. 56—मनुष्यालयचन्द्रिका (Silpa). | 0 | 8 | 0 |
| No. 57—रघुवीरचरितम् (Kāvya). | 1 | 4 | 0 |
| No. 58—सिद्धान्तसिद्धाञ्जनम् (Vedānta) by Śrī | | | |
| Krishnānanda Sarasvatī (Part III.) | 2 | 0 | 0 |
| No. 59—नागानन्दम् (Nāṭaka) by Śrīharshadeva | | | |
| with the commentary Nāgānanda- | | | |
| vīmarsinī of Sivarāma. | 3 | 4 | 0 |
| No. 60—कव्यस्तुतिः (Stuti) by Śrī Laghubhattāraka | | | |
| with the commentary of Śrī Rāgha- | | | |
| vānanda | 0 | 8 | 0 |

| | | | |
|--|---|---|---|
| No. 61—सिद्धान्तसिद्धाञ्जनम् (Vedānta) by Śrī Kṛṣṇānanda Sarasvatī (Part IV.) | 1 | 8 | 0 |
| No. 62—सर्वमतसंग्रहः (Sarvamatasaṅgraha). | 0 | 8 | 0 |
| No. 63—किराताञ्जनीयम् (Kāvya) by Bharavi with the commentary Sabdārthadīpikā of Chitrabhānu (1, 2 and 3 Sargas). | 2 | 8 | 0 |
| No. 64—मेघसन्देशः (Kāvya) by Kālidāsa with the commentary Pradīpa of Dakṣiṇāvartanatha. | 1 | 0 | 0 |
| No. 65—मयमतम् (Silpa) by Mayamuni. | 3 | 8 | 0 |
| No. 66—महार्थमञ्जरी (Darsana) with the commentary Parimala of Maheswarānanda | 2 | 8 | 0 |
| No. 67—तन्त्रसमुच्चयः (Tantra) by Nārāyaṇa with the commentary Vimarsini of Saṅkara. (Part I. 1-6 Pāṭalas) | 3 | 4 | 0 |
| No. 68—तत्त्वप्रकाशः (Āgama) by Śrī Bhojadeva with the commentary Tātparyādīpikā of Śrī Kumara. | 2 | 0 | 0 |
| No. 69—ईशानशिवगुरुदेवपद्धतिः (Tantra) by Isānasivagurudevamisra (Part I. Sāmānyapāda). | 1 | 8 | 0 |
| No. 70—आर्षमन्त्रुपनीषद्कल्पः (Part I). | 2 | 8 | 0 |
| No. 71—तन्त्रसमुच्चयः (Tantra) by Nārāyaṇa with the commentary Vimarsini of Saṅkara (Part II. 7-12 Pāṭalas). | 3 | 8 | 0 |
| No. 72—ईशानशिवगुरुदेवपद्धतिः (Tantra) by Isānasivagurudevamisra (Part II. Mantrāpada) | 4 | 0 | 0 |
| No. 73—ईश्वरप्रतिपत्तिप्रकाशः (Vedānta) by Śrī Mādhvasūdanasarasvatī | 0 | 4 | 0 |

| | | | | |
|---------|--|---|----|---|
| No. 74— | श्रीयाज्ञवल्क्यस्मृतिः (Dharmasāstra) with the commentary Bālakrīdā of Visvarūpachārya. (Part I—Āchāra and Vyavahāra Adhyāyas) | 4 | 0 | 0 |
| No. 75— | शिल्परत्नम् (Silpa) by Śrīkumāra (Part I). | 3 | 4 | 0 |
| No. 76— | आर्यसञ्जुश्रीमूलकल्पः (Part II). | 3 | 4 | 0 |
| No. 77— | ईशानशिवगुरुदेवपद्धतिः by Isanasivagurudeva-misra (Part III. Kriyapada 1—30 Patalas). | 3 | 4 | 0 |
| No. 78— | आश्वलायनगृह्यसूत्रम् with the commentary Anavila of Haradattacharya. | 5 | 0 | 0 |
| No. 79— | अर्थशास्त्रम् of Kautilya with commentary by Mahamahopadhyaya T. Ganapati Sastri (Part I—1. & 2. Adhikaranas). | 8 | 0 | 0 |
| No. 80— | अर्थशास्त्रम् of Kautilya with commentary by Mahamahopadhyaya T. Ganapati Sastri (Part II—3 to 7 Adhikaranas). | 8 | 0 | 0 |
| No. 81— | श्रीयाज्ञवल्क्यस्मृतिः (Dharmasastra) with the commentary Bālakrīdā of Visvarūpachārya (Part II. Prāyaschittādhyāya) | 3 | 12 | 0 |

Apply to:—

The Curator,